



चिन्तन के झरोखे से

उपाध्याय अमर मुनि
तीसरा खण्ड, राजगृही

द्वितीय खण्ड

चिन्तन के झरोखे से

द्वितीय खण्ड

उपाध्याय अमर मुनि

वीरायतन, राजगृही

चिन्तन के झरोखे से

द्वितीय खण्ड



© वीरायतन, राजगृही, बिहार



प्रकाशक

श्री तनसुखराय ढागा

मन्त्री, वीरायतन

राजगृही (राजगीर), बिहार



प्रथम आवृत्ति १९८८



मूल्य : ५० रु.



मुद्रक :

प्रदीप मुनोत

प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स

४२७ गुलटेकडी, पुणे ४११०३७

मनोगत

परम पूज्य पञ्जामहर्षि राष्ट्रसंत उपाध्याय कविश्री अमर मुनिजी वीरायतन के प्रेरणा स्रोत हैं। आपने जैन, बौद्ध तथा वैदिक दर्शन साहित्य का तौलनिक गहन अध्ययन, मनन, चिंतन किया है। आप अनेकांत दर्शन के तत्त्वनिष्ठ उपासक हैं। आपका चिंतन सत्यानुलक्षी पूर्वाग्रह मुक्त तटस्थ वृत्ति का है। आपकी विचारधारा वैज्ञानिक है। आपने कहा है “परिवर्तन अनिवार्य है। नव सृजन की प्रक्रिया का परिवर्तन अनिवार्य अंग है। पाप पुण्य कर्म में नहीं भाव में है। महत्ता शब्द की नहीं भाव की है।”

गत अनेक वर्षों से ‘अमर भारती’ मासिक में ‘चिन्तन के झरोखे से’ इस शीर्षक से अनेकविध विषयोंपर आपने अत्यंत मननीय और विचार प्रवर्तक लेखन किया है।

आधुनिक विचारवंत और खासकर युवा पीढ़ी इन प्रज्ञानिष्ठ देश-काल-भाव के परिप्रेक्ष्य में निर्भीकतासे, सहज भावसे स्पष्टता से लिखे हुए विचारों से इतनी आकर्षित और प्रभावित है कि इन लेखों का संकलन प्रकाशित करने का आग्रह अनेक लोगोंद्वारा काफी समय से हो रहा है। इसलिये इस संकलन के प्रथम और द्वितीय खंड एक साथ प्रकाशित करने का वीरायतन ने तय किया।

मेरे मित्र श्री. शं. शि. उर्फ बालासाहेब भारदे महाराष्ट्र शासन के ५ वर्ष तक मंत्री रहे हैं और दस वर्ष तक विधान सभा के अध्यक्ष (स्पीकर) रहे हैं, महाराष्ट्र के प्रखर अध्यात्मवादी चिंतक और गांधी विचार के निस्सीम अनुयायी हैं। आपने इस प्रकाशन के लिये ‘आमुख’ बहुत कम समय में अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर लिखने का अनुग्रह किया इस लिये वीरायतन की ओर से मैं उनका आभारी हूँ।

उसी तरह वीरायतन प्रेमी पूनाके प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स के मालिक भाई कनकमल मुनोत ने स्वयं आत्मीयतापूर्वक प्रूफ रीडिंग किया तथा श्री. भारदे जी के 'आमुख' का हिन्दी अनुवाद किया। उनके सुपुत्र श्री. प्रदीप ने अपने संघटना चातुर्य और मुद्रण कुशलता से इतने कम समय में सुंदर आकर्षक मुद्रण संपन्न किया इस लिये इन पिता पुत्र का वीरायतन आभारी है।

हमें आशा है यह प्रकाशन समाज में विचार क्रांति करने में मददगार होगा।

वीरायतन

नवलमल फिरोदिया
अध्यक्ष

आमुख

अपनी 'अमर भारती' मासिक पत्रिका द्वारा जैन धर्मीय आधुनिक विचारक महासन्त अमर मुनिजी अपनी अलौकिक कलम द्वारा जो दिव्य समाज प्रबोधन कर रहे हैं, उसी शृंखला की संहिता इस ग्रन्थ में पायी जाती है। मर्त्य मानव को अमरत्व के संस्कार इस महान ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। हर व्यक्ति को ज्ञात है कि उसे मरना है, फिर भी वह अमर होने की कांक्षा रखता है। यदि मृत्यु वस्तुस्थिति है तो मृत्यु का आनागमन उसकी मनःस्थिति है। मृत्यु अटल है तो अमरण की भावना भी प्रबल है। इन दोनों की एकत्रित विचार धारा ही आत्म ज्ञान की - धर्म की गंगोत्री है। सुख-शान्ति की भावना, समाज की धारणा तथा मृत्युंजय प्रेरणा इस त्रिवेणी से सालंकृत मानव धर्म ही सर्व धर्मों का निचोड़ है, रहस्य है। चिरशान्ति के लिए अनासक्ति, समाज हितार्थ सेवाशक्ति एवं आत्मशरण जीवन मुक्ति के संगम में ही मानव जीवन की सफलता है। यही सर्व धर्मीय अध्यात्म ज्ञान का सार है। इसी सार का आरोपण संसारी जनों की मनोबुद्धि में करना एवं उसी के द्वारा ही आत्म कल्याण एवं विश्वकल्याण की सिद्धि प्ररूपित करने धर्म प्रवर्तक सन्त महन्त इस धरातल पर अवतरित हुए हैं। इसी दिव्य आर्ष परम्परा की विभूति श्री अमर मुनिजी आज भी हमारे सन्मुख प्रस्तुत हैं। हमारा अहोभाग्य है कि इसी आत्म-विश्व कल्याणकारी आत्मधर्म का यथार्थ रहस्य प्रस्थापित करने का समाज प्रबोधन कार्य वे गत ६-७ दशकों से कर रहे हैं। जिस प्रकार भगवद्गीता प्रभु श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति है, उसी प्रकार अमर भारती श्री अमर मुनिजी की कलाकृति है। इस कथन में मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं है। श्री अमर मुनिजी जो श्री जैन धर्मीय सन्त के नाते विख्यात हैं, फिर भी इस ग्रन्थ में हमें उनका जीवन दर्शन प्रतीत होता है कि तथाकथित सभी विभिन्न धर्म, धर्म न हो कर आध्यात्मिक मानवता वादी आत्मधर्म अथवा मानव धर्म ही एकमात्र धर्म है; और ये सभी धर्म उसीके उपधर्म यानी सम्प्रदाय हैं। वर्तमान समय में ये तथाकथित धर्म नीतिधर्म के ऐवज में जातिधर्म पर ही जोर देते हैं। धर्म के नाम से असहिष्णुता, संकुचितता, अभिनिवेश, परविद्वेष व तज्जन्य जातीय तनावों से समाज जीवन अशान्त एवं उध्वस्त होता जा रहा है।

इस अवस्था में संकुचित साम्प्रदायिकता के वशीभूत न होते हुए उसपर कठोर प्रहार कर यथार्थ आत्मधर्म का निर्भीक पुरस्कार कर धर्मानुयायियों में धर्मपरिवर्तन रूपी युगधर्म प्रसृत कर रहे क्रान्तदर्शी महामुनि की यह आधुनिक धर्म गाथा है। इस में तनिक भी सन्देह नहीं है।

मुनिश्री फरमाते हैं, “हर यात्री का अपना ही एक नया पन्थ होता है। यह परम सत्य है कि मार्ग बने हुए नहीं होते, बनाने पड़ते हैं। जो चलना जानता है, उसके लिए जहाँ भी कदम पड़ते हैं, पथ बन जाता है! समाज का गौरव हर किन्ही पुराने नियमों को पकड़े रहने में नहीं है, अपितु जीवन विकास कारी नये नियमों के सृजन में है।”

इस परसे मुनिश्री का पुरोगामी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। “सत्यसंशोधन याने चिन्तन। पूर्वाग्रहमुक्त चिन्तन ही सत्य-चिन्तन है।” यही है मुनिश्री के आत्म चिन्तन का सार और उसी का आविष्कार है यह विचार गाथा। दुनिया भर का शाश्वत सत्य एक ही होता है। उसकी देश-काल-स्थिति की सीमा नहीं होती। परन्तु लोक व्यवहार में उतरने वाला सत्य सापेक्ष होता है, उसमें देश-काल-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते रहता है। रूढियाँ, रीतिरिवाज मूलतः धर्म नहीं हैं। उन्हें धर्म समझना बड़ी भारी भूल है। कारण वे समाज के सामयिक रूप हैं। धर्म न तो प्राचीनता में है, न अर्वाचीनता में, वह तो समीचीनता में है। यही है मुनिश्री का प्रतिपादन। ‘भेदे अभेदः’ मानव संस्कृति की और खास कर भारतीय संस्कृति की विशेषता है। इस सत्य की प्रतीति करनी हो तो मेरा कथन सत्य है, दूसरों का असत्य, यह दावा—अभिमान त्यागना होगा। हर एक को अपनी दृष्टि अनुसार सत्य का अनुभव होता है। सिर्फ हम ही सत्य के ठेकेदार नहीं हैं, यह समझना होगा। औरों के सत्य प्रत्यय का अनादर न हो, बल्कि आदर किया जाय—यही है मानवी सुखसंवाद का रहस्य। मतभेद होने पर मनभेद न हो, वाद हो तो भी संवाद हो, मतिभिन्नता होने पर संगति हो—इसी सहिष्णुता, समन्वय एवं सहजीवन की दीक्षा मानव समाज को देने का महान कार्य भगवान महावीर उपदेशित अनेकान्त दर्शन ने सुलभ किया है। “अनेकान्त की दिव्य ध्वनि है—मेरा ही सत्य मात्र सत्य नहीं है, सत्य अनन्त है। और वह जहाँ भी कहीं है, जिस किसी भी रूप में है, जिस किसी के भी पास है—मेरा है, मेरा है। सत्य मेरे लिए समर्पित नहीं है, अपितु मैं सत्य के लिए समर्पित हूँ।” मुनिश्री की इस वाणी पर लोक यदि ध्यान देंगे, तो समाज जीवन में शान्ति-प्रेम के वातावरण का निर्माण करना सहज होगा।

मुनिश्री की पाप-पुण्य की मीमांसा में भी द्रष्टापन की झलक है। “कर्म का कर्ता नरक में और उस कर्म के फल का भोक्ता स्वर्ग में, कितनी विचित्र बौद्धिक विडम्बना है? रोटी कमानेवाला और बनाने-पकानेवाला पापी है और उसे धर्म के नामपर मुफ्त में प्राप्त कर खानेवाला पुण्यात्मा है— धर्मात्मा है।... कर्म और धर्म के बीच में विभाजन की दीवार हमने ऐसी खड़ी कर दी कि कर्म धर्म से शून्य हो गया और धर्म कर्म से । हर कर्म धर्म है, यदि उसमें जनहित का व्यापक आयाम है।” एकाघ दुर्घटना हुई अथवा अनपेक्षित घटना घटी तो हम कहते हैं यह कर्म-धर्म-संयोग से हुआ। कर्म व धर्म का संयोग यानी दुर्घटना ही है, ऐसा पारम्परिक विचार ही इस शब्द योजना से ध्वनित होता है। यह बहुधा पाया जाता है कि धर्म करने के दावेदार मात्र कर्तव्य नहीं करते। मुनिजी की दृष्टि में धर्म ही जीवित शक्ति है। “हमें जीवित एवं सप्राण धर्म की आवश्यकता है, प्राणहीन मृत धर्म की नहीं।” यह है उनका इशारा— इंगित। वे स्पष्ट रूप से बताते हैं कि कड़्यों का धर्म श्रवण मात्र के लिए है, वह निरीक्षण के लिए नहीं है, परखने के लिए कतई नहीं है। ‘पण्णा समिक्खए धम्मं।’ प्रज्ञा द्वारा धर्म का समीक्षण करना चाहिए यह भगवान महावीर का उपदेश पुनः कार्यान्वित हो, यही उनकी आन्तरिक चिन्ता है। उनका आग्रह है कि धर्म की ओर केवल अन्धश्रद्धा न रखते हुए किसी भी क्रिया के आचरण करते समय वह युक्तिसंगत एवं तर्कानुकूल हो, इस बारे में सोचना आवश्यक है। उससे तुम्हारा एवं समाज का हित हो, यह विश्वास हो जाना चाहिए। समाज निरपेक्ष वैयक्तिक साधना आत्मसाधना नहीं है। सभी के भीतर निवास किये हुए जीवात्मा को ध्यान में रखकर आत्महित एवं समाजहित—दोनों का सुयोग्य समन्वय ही धर्म रहस्य है। यही भूमिका इस ग्रन्थ में द्रष्टापन, समर्पकता एवं आधुनिक स्थिति के समालोचन से प्रकट की गई है। यही इस मुनिदर्शन की विशेषता है। यही कारण है कि नर-नारी, श्रीमान-गरीब, महाजन-हरिजन जैसे आत्मधर्म विरोधक भेदभावों पर रास्त आघात किया है। पत्नी को देवता का स्थान देने की प्राचीन भारतीय संस्कृति की पार्श्वभूमि पर पत्नी को दासी मानने की विकृति आ गई है। जिस देश में नारी की पूजा को देवताओं की प्रसन्नता माना जाता था, उसी में नारी हेय दृष्टि से देखी जाती है। यह धर्म नहीं बल्कि अधर्म है, इस प्रकार घोष कर रहा है यह सुधारक सन्त। ‘नारी को बाहर में नहीं, अन्दर देखना होगा।’ कितना मार्मिक है यह वचन! भगवान महावीर आध्यात्मिक सिद्ध जरूर थे, साथ ही वे मानवतावादी समाज-सुधारक भी थे। इस प्रकार का समन्वित उभयान्वयी सम्यक् दर्शन जैन धर्मीयों एवं साहित्यिकों ने समाज में प्रस्तुत किया ही नहीं। यह उनके दिल में

जख्म थी। यह ग्रन्थ इस दिव्य जीवन-दर्शन का प्रभावी आविष्कार है। भगवान महावीर उभयमुखी जीवन-क्रान्ति के प्रतीक थे। वे मात्र वीतरागी ही नहीं थे तो वे तीर्थंकर भी थे। भीतर से अक्रिय अनासक्ति और बाहर सक्रिय क्रान्ति यह सब होते हुए भी वे मंगलकारी समन्वयवाद के प्रवर्तक थे। अपने इस जीवन दर्शन का बोध सुयोग्य रीति से मुनिश्री ने करवाया ही है, साथ ही उस भूमिका से स्वयं एकरूप हो कर आत्मोद्धार एवं जनोद्धार— दोनों के समन्वय का परिणामकारी समाज प्रबोधन भी किया है। “ महावीर का उभयमुखी आदर्श अपनाने की आज महती आवश्यकता है। आज में कुछ समाज और राष्ट्र धर्म के नाम पर सर्वथा निष्क्रिय होते जा रहे हैं। दूसरी ओर विज्ञान तथा क्रान्ति के नाम पर अनर्गल अन्धा तूफान चल रहा है, जिसमें मानवता की जड़ें उखड़ी जा रही हैं। आवश्यकता है धर्म और विज्ञान के, अध्यात्म और क्रान्ति के यथोचित समन्वय की; महावीर के इस समन्वयवाद में ही जनमंगल के बीज छिपे हैं। समय की पुकार है, उन्हें जल्दी से जल्दी अंकुरित किया जाए।” मुनिश्री के इस कथम में उनका जीवन दर्शन, इस वाङ्मय का प्रयोजन एवं युगधर्म का प्रबोधन इस त्रिवेणी संगम का जनता को अनुभव होगा। इससे बढ़कर इस ग्रन्थ का श्रेष्ठत्व कौन बता सकेगा ?

मुनिश्री का यह उद्बोधक विचार धन पढ़ते समय स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, सन्त विनोबा इन विभूतियों की साहित्य कृतियों का स्मरण हो आता है। मुनिश्री के ये निबन्ध विषय की दृष्टि में चुनिन्दा, रसास्वाद की दृष्टि से रोचक, मार्गदर्शन की दृष्टि से प्रेरक, साधक की दृष्टि से जीवन मोचक तथा समाज सेवकों की दृष्टि से क्रान्तिकारक हैं। अनुभूति एवं सहानुभूति, भाग्य एवं वैराग्य, प्रपंच एवं परमार्थ, सद्गति एवं प्रगति, शान एवं ज्ञान तथा व्यक्ति एवं समाष्टि के समन्वय पर जोर देने वाले भारतीय अवतारी पुरुषों, सन्त-मुनियों के दिव्य जीवन दर्शन की परम्परा इस ग्रन्थ के हर पृष्ठ में दिग्दर्शित होती है। साहित्यिक सुरस प्रासादिकता, विचारों की प्रगल्भता, द्रष्टा की प्रतिभा, आत्मरूप की तन्मयता, दीन-हीनों के प्रति वत्सलता, एक ही शब्द में कहना हो तो आध्यात्मिक मानवता की प्रचीति इस ग्रन्थ में सम्यक् रूप से होगी। ब्रती होते हुए भी ब्रतों का स्तोम नहीं है, मुनि होते हुए भी समाज विन्मुखता नहीं है, साम्प्रदायिक उपाध्याय होते हुए भी साम्प्रदायिकता नहीं है, मानवी जीवनमूल्यों के सनातन धर्म का आचरण करते हुए वर्तमान युगधर्म की विस्मृति नहीं है, धर्म के तत्त्वों का आग्रह रखते हुए भी अन्ध रूढियों का पूर्वग्रह नहीं है, साधु परम्परा के

आचार का अवलम्ब करते हुए कालबाह्य उपचार नहीं है, जैन धर्म के प्रवक्ता होते हुए भी संकुचित अभिनिवेश का लवलेष नहीं है, सर्वोपरि आत्मशान्ति की साधना में समाज क्रान्ति का अनादर नहीं है। यह है अमर मुनिजी का दिव्य विभूतिमत्त्व। दिव्यता एवं मानवता का संगम ही साधुता है। यही साधुता ज्ञान व ध्यान द्वारा शिष्य-साधकों को प्रतीत होती ही है, बल्कि सामान्य पाठकों को भी इस साधुता की प्रतीति हर पृष्ठ में प्राप्त होती है। ऐसा है यह अपूर्व ग्रन्थ। जन को सज्जन बनाने में ही संस्कार होते हैं, सज्जन को साधक बनाने का नाम है दीक्षा। ये दोनों बातें आज भी सभी धर्मों में मौजूद हैं। इन्हीं के कारण व्यक्तिगत भाव शक्ति जिस प्रकार वृद्धिंगत होती है, उसी प्रकार सामाजिक प्रभाव शक्ति की अनुभूति नहीं होती। तब मानव धर्म किस प्रकार प्रभावित होगा? इसीलिए साधक सेवक बने यही सन्त-मुनियों का उपदेश है। परन्तु वर्तमान समय में इतने मात्र से काम नहीं चलेगा। अतः साधक सेवकों को क्रान्तिकारक बनना होगा। यही आध्यात्मिक मानवता का आज का युगधर्म है। इसी युगधर्म की पुकार-ललकार ही अमर मुनिजी की अमर भारती है। किसी भी धर्मानुयायी, किसी भी वृत्ति के सत्प्रवृत्त पाठक को अमर मुनिजी की यह वाणी एक साथ ही भाविक, चिकित्सक, साधक एवं सेवक बना पाएगी, ऐसी क्षमता इस ग्रन्थ की है!

पुणे,
२२ जून १९८८

श्री. शि. भारदे

विषयानुक्रम

भगवती अनुकम्पा	२६५
विचार गोष्ठी : कौन, कैसी ?	२७१
युग द्रष्टाओं की सम्यक्-युग दृष्टि	२७७
सत्साहसी पुरुष नहीं, पुरुषसिंह है	२९३
मानव की वाणी अमृत भी, विष भी	२९७
धर्म और पंथ की विभेदक रेखा	२९९
अहिंसा के पक्षधरों का परीक्षा-काल	३०४
बाल-जीवन पर घोर अत्याचार	३१०
यथार्थ-धर्म क्या है ?	३१६
अपेक्षा है कूप-मण्डूकता के परित्याग की	३२०
संयम यात्रा अकषाय भाव में	३२६
मानवता का भीषण कलंक : जातिवाद	३३७
यह क्या हो रहा है ? यह क्यों हो रहा है ?	३४२
ज्ञानमेकं परम ज्योति	३४६
अनन्त ज्योतिर्मय चैतन्य दीप : श्रमण भगवान महावीर	३५२
मानवीय ज्ञान चेतना का अद्भुत चमत्कार	३५८
क्या यही देवत्व है ? और, यह आपको अपेक्षित है ?	३६२
कुछ विचारणीय प्रश्नबिन्दु	३६७
अहिंसा के देवदूत क्या कर रहे हैं ?	३७७
अरहंताणं अथवा अरिहंताणं	३८३
आचार्य कौन ? खण्ड १	३९०
आचार्य कौन ? खण्ड २	३९७
जरा अपने को तौल तो लीजिए	४०८
विश्व शान्ति का एक मात्र मार्ग : अहिंसा	४१२
राष्ट्रीय अखण्डता - एकता	४१९
नूतन वर्षाभिनन्दन	४२४
भगवान महावीर की दृष्टि में जीवन-विकास का मार्ग	४२९
अतिवाद : अघ्यात्म-साधना का विष	४३७
कृपया, गृहदेवी की गरिमा को सुरक्षित रखिए	४४९
आज अपेक्षा है धर्म के यथार्थ उद्बोधन की	४५३

हर किसी सहृदय की दर्द भरी अन्तर्व्यथा	४५७
माया महाठगनी	४६२
सेवापहाणो हि मणुस्स धम्मो : वर्तमान दुःस्थिति में हमारा कर्तव्य	४६८
भारतीय संस्कृति का कलंक : सती प्रथा	४७४
समागत नव वर्ष : स्वागतम्	४८१
जैन संस्कृति की शिष्टाचार संबंधी स्वर्णिम रेखाएँ	४८६
जीवन का केन्द्र बिन्दु : योग्य भोजन	४९५
धर्म-क्रान्ति की दिशा में एक नया कदम :	
आर्य चन्दनाश्री जैनाचार्य पदालंकृत	५०२
अनन्त मूर्ति : अनेकान्त	५०७

भगवती अनुकम्पा

अनुकम्पा, करुणा या दया हजारों नामों से बोलिए, यह मानवता का मध्य बिन्दु है, मानवता की प्राण-शक्ति का मूल स्रोत है । मानव एक सामाजिक प्राणी है और समाज का अस्तित्व है परस्पर के सहयोग पर और सहयोग का आधार है मानव हृदय की कोमलता पर, परस्पर के सुख-दुःखों की सहज संवेदनात्मक अनुभूति और, यह अनुभूति ही अनुकम्पा, करुणा आदि अनेक पवित्र नामों से विहित है ।

तनधारियों में श्रेष्ठ मानव-तन है । वह सुन्दर है, सुरूप है । पर, उसके अन्तर्मन में करुणा की अमृत-धारा प्रवाहित नहीं है, तो वह क्या है ? वह जंगली पशु हो सकता है, राक्षस, पिशाच हो सकता है, और हो सकता है, बिना किसी खाने-पीने के लालच से यों ही किसी को काट खाने वाला साँप या बिच्छू । कोई साँप या बिच्छू से पूछे कि क्यों भाई, तुमने अमुक को काट खाया, तो खाया, कैसा था वह खाना—खट्टा या मीठा ? क्या उत्तर है इसका उनके पास ?

अनुकम्पा किसी को हेतुपूर्वक भी पीड़ा देने की बात नहीं सोच सकती। वह अहेतुक पीड़ा दे, तो कैसे दे किसी को ? मानव-जाति को परस्पर एक-दूसरे से जो दुःख मिल रहा है और मोहमूढ़ मानव तनधारी के द्वारा जो अन्य पशु-पक्षी आदि को भी पीड़ा मिल रही है, उसका मूलतः निराकरण अनुकम्पा भाव के द्वारा ही हो सकता है । धरती पर सुख-शान्ति का जीवित स्वर्ग करुणा ही उतार सकती है । यदि करुणा नहीं है, तो धरती नरक है । जो मानव परस्पर एक-दूसरे का दुःख दूर करते हैं, यथावसर आवश्यक सुख पहुँचाते हैं, वे धरती पर रहते हुए भी स्वर्ग में रहते हैं । स्वः अर्थात् सुख । सुख का नाम ही स्वर्ग है । और जो परस्पर सकारण या अकारण पीड़ा देते हैं, परस्पर एक-दूसरे को हानि पहुँचाते हैं, रुलाते हैं, वे धरती पर रहकर भी नरक में वास करते हैं । कहा है नरक का स्वरूप

“परस्परोदीरित दुःखाश्च ।”

(२६५)

भर्तृहरि कहता है — “ जो अपने सुख का परित्याग करके भी प्रसन्नता से दूसरों को सुख पहुँचाते हैं, वे सत्पुरुष हैं, एक प्रकार से देव हैं।

जो अपने सुख का परित्याग किए बिना, अपने सुख के साथ दूसरों को भी सुख पहुँचाते हैं वे सामान्य पुरुष हैं । समझ लीजिए मानव हैं।

और जो बिना किसी मतलब के यों ही निरर्थक किसी को हानि पहुँचाते हैं, दुःख देते हैं, वे कौन हैं ? उन्हें क्या नाम दिया जाए, हम नहीं जानते ।”

ठीक है, राक्षस तो वे बताए जा चुके हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को हानि पहुँचाते हैं । फिर ये निःस्वार्थी हत्यारे कौन ?

यदि मानव मन में करुणा का विकास न होता, परस्पर के सुख-दुःखों में सहवेदन की भावना न होती, तो परिवार कैसे बनते ? माता-पिता, बहन-भाई, पति-पत्नी आदि के मधुर रिश्ते-नाते कैसे विकसित होते ? मानव-जाति के सिवा ये रिश्ते-नाते अन्यत्र कहीं नहीं हैं । जब ये नहीं हैं, तो वहाँ न परिवार है, न समाज है, न राष्ट्र है, न धर्म है और न पवित्र एवं मधुर कही जाने-जैसी और कोई चीज ही है ।

श्रमण भगवान महावीर का अनुकम्पा दर्शन कहता है — “ सुख दोगे, तो सुख मिलेगा और दुःख दोगे तो दुःख मिलेगा । जैसा भी अच्छा-बुरा बीज मनोभूमि में बोओगे, वैसा ही उसका फल तुमको मिलेगा । अनुकम्पा दया से सुख के बीज बोए जाते हैं और निर्दयता एवं क्रूरता से दुःख के बीजों का वपन होता है । अर्थात् सुख में से सुख का जन्म होता है । पर, किसके सुख में से ? अपने सुख में से, अपने सुखोपभोग में से सुख का, शांति का जन्म नहीं होता, उसमें से तो अधिकतर दुःख का ही जन्म होता है । सुख में से सुख का जन्म होता है— दूसरों को, दीन-हीनों को, पीड़ितों को सुख देने में, उनका दुःख दूर करने में ।”

यदि मानव को मानव बने रहना है, तन से ही नहीं— मन से भी अपनी मानवता को द्योतित करना है, तो भगवती करुणा का आश्रय लेना होगा ।

दुःखी हृदय के धूल उड़ते मरुस्थल में दया का अमृत निर्झर बहाना होगा । यही बात है, कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः प्रत्येक धर्म के महापुरुषों ने अहिंसा के साथ अनुकम्पा का मार्मिक उपदेश दिया है । जैन-शासन तो इसमें अग्रणी है ही, अन्य परम्पराएँ भी कम अनुकम्पावादी नहीं हैं । श्रीमद् भागवत में भगवान् विष्णु तो अनाथों को, पीड़ितों को अपना शरीर ही बताते हैं और कहते हैं कि मैं अनाथ असहाय प्राणियों के शरीर में रहता हूँ, वह शरीर मेरा ही है । अतः जो दुःख-दर्द में उनकी सेवा करते हैं, वे मेरी ही सेवा करते हैं । भागवत के तृतीय स्कन्ध में भगवत्स्वरूप महर्षि कपिल, श्री हरि के शब्दों में अपनी पूज्य माता देवहृति से कहते हैं—

अहं सर्वभूतेषु, भूतात्माऽवस्थितः सदा ।

तमवज्ञाम मां मर्त्यः, कुरुतेऽर्चा विडम्बनम् ॥ २९, २१ ॥

—मैं आत्मस्वरूप से सदा सभी जीवों में स्थित हूँ, इसलिए जो लोग मुझ सर्वभूत स्थित परमात्मा का अनादर करके केवल प्रतिमा में ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा दिखावे का स्वाँग मात्र है ।

द्विषतः परकाये मां, मानिनो भिन्नदर्शिनः ।

भूतेषु बद्धवैरस्य, न मनः शान्तिमृच्छति ॥ २९, २३ ॥

—जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवों के साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीर में विद्यमान मुझ आत्मा से ही द्वेष करता है, उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिल सकती ।

आत्मनश्च सपरस्याऽपि, यः करोत्यन्तरोदरम् ।

तस्य भिन्नदृशो मृत्युर, विदधे भयमुल्बणम् ॥ २९, २६ ॥

—जो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा के बीच थोड़ा-सा भी अन्तर करता है, उस भेददर्शी को मृत्यु महान उग्र भय उपस्थित करती है ।

अथ मां सर्वभूतेषु, भूतात्मानं कृतालयम् ।

अर्हयेद् दान - मानाभ्यां, मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥ २९, २७ ॥

(२६७)

—अतः सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर प्राणियों के रूप में ही स्थित मुझ, परमात्मा का यथायोग्य दान, मान, मित्रता आदि के रूप में सद-व्यवहार तथा समदृष्टि के द्वारा पूजन करना चाहिए ।

आप देख सकते हैं, उपर्युक्त वचन कितने उदार वचन हैं । विश्व के प्राणियों का मैत्री भावना से किया गया आदर-सत्कार, सेवा आदि ही सच्ची भगवत्पूजा है । आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है । हर प्राणी जैन-दर्शन की दृष्टि से भी कारण परमात्मा है, सुप्त अर्हन्त और सिद्ध है । उसका अपमान है ।

श्रमण भगवान् महावीर ने भी अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम से यही कहा था, अपितु इससे भी आगे की भाषा में उद्बोधन दिया था, कि मेरी पूजा, अर्चना, भक्ति करने वाले से अनाश्रित पीड़ित जनों की सेवा करने वाला व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ भक्त है, अतः वह धन्यवाद का पात्र है — “ जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने ।”

बौद्ध साहित्य भी करुणा से आप्लावित है । भगवान् बुद्ध तो करुणा के देवता के रूप में सर्वतः सुप्रसिद्ध ही हैं । प्राचीन ग्रन्थों में तो करुणा की महिमा का गान है ही, उत्तर काल में भी बहुत दीर्घ काल तक करुणा का अमर-गान अनुगुंजित रहा है । श्री लंका के प्रसिद्ध बौद्धाचार्य श्री धम्मराम (यक्कडुव) की महत्त्वपूर्ण पाली कृति ‘भक्ति गीत’ में देखिए कितने मार्मिक करुण उद्गार हैं । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है । एक करुणामूर्ति माँ उद्बोधन कर रही है—

“पुत्र, क्यों किसी को दुःख दे रहा है रे ! कण्टक, गिलहरी अथवा बब्बू किसी की भी तू हिंसा मत कर ।

छोटे-से प्राणी को भी पुत्र, जानते-देखते तू न मार । अन्ततः मक्खी, मच्छर या खटमल को भी न सता ।

न डेले से, न काष्ठ-खण्ड से, न सलाई से, न हाथ से ही किसी भी चौपाये तथा पक्षी आदि पर तू मत प्रहार कर ।

आकाश में उड़ते अथवा वृक्ष पर आनन्द से बैठे विहंग को बाण के शिल्प से तू मत मार ।

पुत्र, पक्षी गगन में उड़ते हैं तथा गगन में ही अघर में किसी वृक्ष पर अपना घर बनाते हैं । पुत्र, वे वृक्ष पर बैठे वृक्ष का पालन ही करते हैं ।

वे मधुर गायन करते हुए लोक को मधुर बनाते हैं । सुन्दर रंग तथा मधुर कूजन से भी वे लोक को सुन्दर बनाते हैं ।

उनमें भी पुत्र, कोई अपने माता-पिता को पोसते हैं, बेटे-बेटी को पोसते हैं और पत्नी को भी पोसते हैं ।

उनमें कोई माँ एक पुत्र वाली है । उसी पुत्र के आश्रय में रहती है । उसकी वही एकमात्र गति है । अत्यन्त की जरा से वह विवश भी है ।

पुत्र, उस माता का सुत, भूख की मारी के लिए आहार, प्यासी के लिए पानी लाकर उसे घोंसले में ही देता है ।

सूखे कंडे के समान चिपके पेट से भी दूनी काँपती वह माँ अपने पुत्र की राह जोहती खड़ी है । उसके लिए बड़ी मेहनत से आहार ढूँढ़ कर, वह चोंच में ले जल्दी-जल्दी माँ के पास आता है ।

पुत्र, तू ने जो उसे मारा, तो बुद्धिया क्या करेगी ? वह माता क्या खाएगी, क्या पिएगी ? पुत्र, कौन उसे खिलाएगा ? कौन उसे पिलाएगा ? कौन उसे आश्वासन देगा ? वह तो एक ही पुत्र वाली है ।

पुत्र, तू पत्थर का नहीं है और न तू मिट्टी का है, न तू काठ का है तथा न तू निर्मितक ही है ।

वे चिड़ियों के मासूम बच्चे माँ के अभाव में ठीक तरह मुँह से चूँ चूँ भी न कर सके, घोंसले के भीतर ही नष्ट हो गए ।

पुत्र, दूसरे प्राणी भी सुख के इच्छुक हैं, दुःख के विरुद्ध हैं। सब सुखी होना चाहते हैं। कोई दुःखी होना नहीं चाहता। अतः तू मत किसी को मारे, मत किसी को फटकारे, मत किसी को डाँटे और मत किसी पर भौंह चढ़ाए।”

काश! करुणामूर्ति उस माता का यह करुणोपदेश धरती के हर मानव-पुत्र को छू जाए, उसकी गहराई में उतर जाए, तो संसार में सुख-शान्ति का, आनन्द-मंगल का अखण्ड राज्य इसी करुणा-वृत्ति से स्थापित हो सकता है। आज के मानव की तन-शक्ति, धन-शक्ति और बौद्धिक-शक्ति तो काफी बढ़ी है, इन्होंने तो काफी विस्तार पाया है। परन्तु, दुर्भाग्य से उसके हृदय में से करुणा का निर्झर सूख गया है और उसके परिणाम स्वरूप वहाँ एक भयंकर तप्त मरुस्थल हो गया है, जहाँ पारस्परिक घृणा, वैर-विद्वेष की धूल भरी जलती हुई तूफानी आँधियाँ चल रही हैं। सब ओर हत्या, लूटमार, बलात्कार, भ्रष्टाचार का एक ऐसा रावणराज्य स्थापित हो गया है, जिससे मानव-जाति के सर्वनाश का खतरा उपस्थित हो गया है।

अतः अपेक्षा है, आज एकमात्र अनुकम्पा की, करुणा की। अपने समान ही सभी आत्माओं और उनके सुख-दुःखों को समझने की। सब धर्मों का मूल करुणा है, उसी के आधार पर सभी सत्य, संयम, शील आदि धर्म अवस्थित हैं। यदि मानव-हृदय में अनुकम्पा नहीं है, शरीर से परे अनुभूतिशील चैतन्य-तत्त्व को देखने की अन्तर्दृष्टि नहीं है, तो फिर वह कुछ भी नहीं है। विश्व के कोने-कोने में सब ओर सर्वत्र ‘आत्मवत्सर्वभूतेषु’ का नाद अनुगुंजित होना चाहिए। “अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्” अहिंसा विश्व के प्राणियों के लिए आराध्य परब्रह्म है और उक्त अहिंसा का प्रादुर्भाव होता है अनुकम्पा में से, करुणा में से। अनुकम्पा के अभाव में अहिंसा की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। संवेदनशील अन्तर्हृदय से उद्भूत होनेवाली अनुकम्पा में ही शुद्ध अहिंसा प्रस्फुटित होती है। यदि यह न हो, तो फिर अहिंसा एक दिखावा हो जाता है, अतः वह दर्शन नहीं, प्रदर्शन है। नट विद्या है, साधना नहीं।

भगवती अनुकम्पे ! मानव-हृदय में उतरो, उसे संवेदनशील बनाओ, ताकि वह सही अर्थ में मानव बने, जन-मंगल का पुरस्कर्ता बने।

नवम्बर १९८३

(२७०)

विचार गोष्ठी : कौन, कैसी ?

प्रत्येक मानव के अपने-अपने गुण कर्म हैं, अपने-अपने भाव हैं । प्रकृति की एकरूपता भाग्येन ही कहीं प्राप्त हो तो हो, नहीं तो नहीं ही है। बात यह है कि मानव का अथ और इति केवल इसी जन्म से ही सम्बन्धित नहीं है । उसके जीवन का अधिकांश पूर्व जन्मों से ही निर्मित होता आया है । अतः मतिभेद और तदनुसार अमुक रूप में विचार-भेद और व्यवहार-भेद रहता ही है।

एक ही देश है, एक ही जाति, एक ही समाज है, एक ही परिवार है, यहाँ तक कि एक ही माता-पिता का रक्त सहोदर बन्धुओं में प्रवाहित है । फिर भी विचार मिलते नहीं हैं, फलस्वरूप परस्पर संघर्ष होते हैं, कटुता बढ़ती है, घृणा फैलती है और अनन्तर हिंसात्मक द्वन्द्व भी आ उपस्थित हो जाते हैं ।

प्रश्न है, इस स्थिति में क्या किया जाए, कौन-सी नीति-रीति अपनाई जाए ? बात यह है कि मानव की कुछ ऐसी आग्रह बुद्धि है कि वह जितना बल मतभेदों को देता है, उतना सहमत सम्मतियों को नहीं देता। स्पष्ट है, जहाँ परस्पर मतभेद होते हैं, वहाँ कुछ-न-कुछ सहमति भी तो होती है । यदि मतभेदों की अधिक चर्चा न करके जहाँ जितने अंश में विचार मिलते हैं, वहाँ उस पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित रखें, तो संघर्षों का समाधान हो सकता है । धीरे धीरे कटुता कम होगी, मधुरता विस्तार पाएगी, दूरी कम होगी और निकटता अधिकाधिक निकट ही आती जाएगी । एक-दो बार सहमति का स्नेहभरा वातावरण बना कि फिर एक-दूसरे को समझने की भावना और बुद्धि बल पकड़ने लगेगी। मतभेदों पर ही अधिक ध्यान रखने से हम एक दूसरे को सही रूप में समझ नहीं पाते। और यही एक वह बौद्धिक दोष है, जो कौरव और पाण्डवों को परस्पर लड़ाता है, और महाभारत जैसे रक्तपाती युद्धों को जन्म देता है ।

प्रस्तुत में तथागत बुद्ध की एक बात ध्यान में रखने जैसी है, जो उन्होंने कोशलदेश की विहार-चर्या में अपने प्रमुख शिष्य काश्यप से कही थी। तथागत ने कहा था— “ जो श्रमण या ब्राह्मण निपुण हैं, पण्डित हैं, शास्त्रार्थ में विजेता हैं, बाल की खाल निकालने वाले अपनी तर्क-बुद्धि से दूसरे के मत को भिन्न एवं खण्डित करते दिखते हैं, वे भी अनेक बातों में मुझसे सहमत हैं और मैं भी उनसे सहमत हूँ। पर, कुछ बातों में मैं उनसे सहमत नहीं भी हूँ । कुछ बातें ऐसी हैं, जिन्हें वे ठीक नहीं कहते हैं, उन्हें हम भी ठीक कहते हैं, और कुछ बातें ऐसी भी हैं, जिन्हें वे ठीक नहीं कहते, उन्हें हम ठीक कहते हैं । अतः उनके पास जाकर मैं ऐसा कहता हूँ—“आवुसो, जिन बातों में हम लोग सहमत नहीं हैं, उनको अभी जाने दें । जिनमें सहमत हैं, उन्हें ही हम एक दूसरे से पूछें, विचार-विमर्श करें।”

भगवान बुद्ध का यह बोध सुत्तपिटक के दीघनिकाय में, महासिंहनाद सुत्त में उपलब्ध है । काश्यप ने तप के बारे में भी पूछा है, जिसके विरोध में बुद्ध प्रायः सर्वतः सुप्रसिद्ध हैं । बुद्ध ने अमुक तपस्याओं की तथा ठीक न लगने वाले अमुक आचार-विचारों की आलोचना की है, परन्तु साथ ही यह भी कहा है कि “ सभी तपस्याएँ निन्दनीय नहीं हैं । सच्चे धर्माचरण से, फिर भले ही उसका आचरण करने वाला वह कोई भी हो, मैं सहमत हूँ ।”

इसी सन्दर्भ में उन्होंने यह भी कहा है—“ जब भिक्षु वैर-विरोध और द्रोह से रहित होकर मैत्री भावना करता है, चित्त-मलों के क्षय होने से निर्मल चित्त की और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर साक्षात्कार प्राप्त कर विहार करता है, यथार्थ में वही भिक्षु श्रमण-ब्राह्मण की यथार्थ संज्ञा से विभूषित है ।

उक्त संवाद महत्त्वपूर्ण है । बुद्ध मैत्री भावना पर बल देते हैं और जिन बातों में हम अधिकांशतः सहमत हैं, उन्हीं पर विचार-चर्चा करने की प्रेरणा देते हैं । वस्तुतः यही समन्वय का मार्ग है । इसी में से सहज एकत्व प्रतिफलित होता है ।

आप विचार कीजिए, जब आप लोग किसी बात पर विचार-विनिमय करने बैठते हैं, तब मित्रों की भान्ति चर्चा करने बैठते हैं, या शत्रुओं की भांति ।

दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है । मित्र दृष्टि से होने वाली विचार-गोष्ठी में एक-दूसरे को समझने का सद्भावना पूर्वक प्रयत्न होता है । जब कि शत्रु दृष्टि की गोष्ठी में एक-दूसरे को समझने-समझाने का तो कोई अर्थ ही नहीं होता, अपितु एक-दूसरे की उठा-पटकियों में ही सारी शक्ति खर्च हो जाती है, और परिणाम सिवा विग्रह, कलह, कटुता, घृणा, द्वेष एवं वैर विरोध के कुछ भी नहीं निकलता । पहले की अपेक्षा भी कटुता और अधिक बढ़ती है, गन्दगी और अधिक फैलती है । सिवा कीचड़ उछालने के और कोई काम नहीं होता, इस प्रकार की पूर्वाग्रह-ग्रस्त शत्रु-बुद्धि की चर्चाओं में। और आप जानते हैं, कीचड़ उछालने का क्या परिणाम आता है ?

मित्र दृष्टि की वादगोष्ठी में एक-दूसरे पर अर्थात् एक-दूसरे के विचारों पर प्रहार होते हैं, तर्क-वितर्क होते हैं पर वे तर्क-वितर्क के प्रहार ऐसे ही होते हैं, जैसे एक-दूसरे पर कोमल एवं सुगन्धित पुष्पों के प्रहार हों । परस्पर फूल की हर मार में दोनों ओर महक फैलती है । अतः इस पुष्प प्रहारोपम विचार-गोष्ठी में सही निर्णय निकलते हैं । वादगोष्ठी में सम्मिलित होते समय जो प्रसन्न हों और समाप्ति पर उठते हुए भी जो प्रसन्न हों, एक-दूसरे को साधुवाद एवं धन्यवाद दे रहे हों, वे लोग बाहर में तन के मानव हैं, तो अन्दर में मन के देव भी हैं । भले ही निर्णय किसी के पक्ष में हो, संभव है, कोई एक निश्चित निर्णय न भी हो पाए, परन्तु परस्पर की मधुरता, एक-दूसरे का आदर-सत्कार समाप्त नहीं होता ।

इसके विपरीत शत्रु बुद्धि में पहले से ही अपने-अपने पूर्वाग्रह होते हैं, वे दुराग्रह के रूप के लिए होते हैं । उनके तर्क-वितर्क के प्रहार नुकीले पत्थरों के प्रहार होते हैं, जो एक-दूसरे को लहलुहान ही करते हैं । यह गोष्ठी केवल कण्टक गोष्ठी होती है, इसमें से किसी अच्छे परिणाम की अपेक्षा नहीं की जा सकती । ये लोग तनाव के वातावरण में लड़ते-झगड़ते ही गोष्ठी में बैठते हैं और लड़ते-झगड़ते ही उठते हैं । इसीलिए महावीर और बुद्ध, और अन्य महत्तम पुरुष मैत्री पर बल देते हैं, पूर्वाग्रह से मुक्त होकर मात्र सत्यानुलक्षी प्रज्ञा के आधार पर विचार-चर्चा करने की प्रेरणा देते हैं । इसी सन्दर्भ में पुराकाल में कभी कहा गया था—वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः ।”

इस प्रकार की गोष्ठी का एक सर्वोत्तम उदाहरण है—श्रमण भगवान

महावीर के काल का केशी-गौतम संवाद । यह श्रावस्ती का संवाद जैन इतिहास का महत्त्वपूर्ण संवाद है । दोनों महर्षियों की उदार दृष्टि विलक्षण है । एक-दूसरे को जिन प्रिय शब्दों से सम्बोधित करते हैं, उनमें से मधुर-रस झरता है, अमृत बरसता है । संप्रदाय भिन्न हैं, फलतः अमुक अंश में आचार और विचार भी भिन्न हैं । काफी शासन-भेद हैं, क्योंकि दोनों ही भिन्न गुरुओं की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं । फिर भी सहोदर बन्धु के समान एक ही आसन पर बैठे हैं और एक विराट् सभा में पक्षग्रह से मुक्त होकर जय-पराजय की भावना से परे की मनोभावना में विचारचर्चा करते हैं और परिणाम आता है, आचार-विचार की दृष्टि से विभिन्न दिशा में प्रवहमान दोनों धाराएँ, गंगा-यमुना की तरह मिलकर एक धारा में प्रवाहित हो जाती हैं ।

विभिन्न वादों के मतभेदों को समन्वय के धरातल पर लाकर मित्र रूप में उपस्थित करने के लिए श्रमण भगवान महावीर का अनेकान्त दर्शन भी अतीव उपयोगी सिद्ध होता है । अनेकान्त विरोध रूप में प्रतिभासित हुए भेदों में अविरोध की, अभेद की दृष्टि देता है । इस दर्शन में एकान्त और सर्वथा सत् या असत् जैसा कुछ नहीं है । जो भी है, उभयरूप है, सदसत् रूप है । अतः आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे 'विरोधमथनम्' कहा है । जहाँ अनेकान्त है, वहाँ विरोध कैसा, विद्वेष कैसा ? बात यह है कि हर पक्ष में अमुक अंश में कुछ-न-कुछ समन्वय का आधारभूत सत्य रहता ही है । यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाए तो निषेध में, इन्कार में भी विधि एवं इकरार रहता है । अपेक्षा है, पक्षमुक्त समन्वय शैली की । यह अनेकान्त, जिस बात को तुम एकान्त बेठीक एवं गलत ही समझ रहे हो, जिसमें समझौते का तुम्हें कुछ भी अंश न दिखाई दे रहा हो, उसमें भी तुम्हें कुछ ठीक और सही अंश दिखा देगा, अन्ततः समझौते का मार्ग प्रशस्त कर देगा । वैचारिक एवं बौद्धिक अहंकार को, हठवादिता को दूर करने का अनेकान्त के समान दूसरा कोई दर्शन नहीं है । अतः विरोध को दूर करने के लिए यथाप्रसंग अनेकान्त चिन्तन का आश्रय लेना चाहिए । यह दूरी को कम करेगा और परस्पर विरोधी तटों पर दूर खड़े हुए पक्षों को एक-दूसरे के निकट लाएगा ।

आज जो व्यक्ति-व्यक्ति में, जाति-जाति में और मत-पन्थों में परस्पर अर्धहीन संघर्ष हो रहे हैं, और उनके फलस्वरूप जनता में जो अनार्य आचरण फूट पड़ा है, जब हम उसकी रक्तरंजित खबरें समाचार पत्रों में देखते हैं, तो हृदय

कांप-कांप जाता है । आश्चर्य होता है, अमृत-पुत्र कहे जानेवाले मानव को आज यह हो क्या गया है ? वह अमृत-पुत्र मृत-पुत्र क्यों हो गया है ? उसके मानवीय दिव्य संस्कार क्यों इस तरह कुसंस्कारों में बदल गए हैं ? क्यों वह मानवता के उच्च शिखर से गिरते-गिरते पशु और कहीं-कहीं तो पशु से भी नीचे गिरकर राक्षस तथा भूत-पिशाच हो गया है? बात और कुछ नहीं है । अहंकार है अपनी श्रेष्ठता का, अपनी एकान्त सत्यता का । खेद है, जिन बातों में सहमति के कुछ बीज हैं, जिन पर समन्वय-दृष्टि से कुछ समझौता हो सकता है, उन पर तो हम विचार करते नहीं । पहले ही दूर के क्रूर मतभेदों को लेकर बैठ जाते हैं, और लड़ने-झगड़ने लगते हैं । प्रस्तुत में हमें तथागत बुद्ध का विचार-पथ अपनाना चाहिए, जैसा कि उन्होंने कहा है—‘जिन बातों से हम सहमत नहीं हैं, उनको अभी जाने दें । जिनमें हम सहमत हैं, उन्हें एक-दूसरे से पूछें, विचार-विमर्श करें ।’ यह एक बहुत अच्छा, एक-दूसरे के निकट आने में कोटिशः परीक्षित अमोघ प्रयोग है । इससे भी जरा आगे बढ़कर महाश्रमण भगवान महावीर का अनेकान्त है, जो कांटों में भी फूल खिलता हुआ देखता है, काले घबबेवाले चांद में भी निर्मल चांदनी का दर्शन कराता है । अनेकान्त दृष्टि से देखो, तुम्हारे शत्रु में भी तुम्हारा मित्र छिपा हुआ है, एकान्त विरोधी के रूप में प्रतिभासित होने वाले कट्टर विरोधी की विरुद्ध बात में भी अमुक अपेक्षा से तुम्हारी अपनी ही अभीष्ट और अविरुद्ध बात स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है ।

आज जो धर्म के पवित्र नाम पर सम्प्रदायवाद के कलुषित द्वन्द्व हैं, या देश तथा प्रदेश के नाम पर हत्या तथा लूट-मार है, फिर वह चाहे असम में हो या पंजाब में अथवा अन्यत्र कहीं हो, एकान्ततः स्वार्थलिप्त हठवाद की देन है । दूसरा पक्ष भी कुछ अर्थ रखता है, यह दृष्टि ही लुप्त हो गई है । समितियाँ गठित होती हैं, उनकी बैठकें होती हैं, विचार-चर्चा का लम्बा दौर चलता है, परिणाम, वही ढाक के तीन पात । क्यों है ऐसा ? वर्षों हो गए विचार करते हुए, निर्णय क्यों नहीं होता ? इसलिए नहीं होता कि शुद्ध-बुद्धि से निर्णय प्राप्त करने के लिए आपस में मिलकर चर्चा करते ही नहीं । एक-दूसरे पर अनर्गल बेसिर-पांव के दोषारोपण करते हुए बलात् एकमंच पर बैठते हैं और उसी तरह दोषारोपण करते हुए अपने घरों की राह पकड़ लेते हैं। और, फिर समाचार पत्रों में वह बयानबाजी शुरू होती है कि सन्देह होता है, ये बोलने वाले आदमी हैं, या भौंकने वाले कोई और ? वही हाल धार्मिक मंचों का है, जिनका मुझे स्वयं काफी कटु अनुभव है । चार-चार महीने तक लंबी चलने वाली धर्म-चर्चाओं में एकत्व

एवं समन्वय के नाम पर केवल शून्य बिन्दु । लाखों का अन्धाधुन्ध खर्च करने के बाद, श्रम या प्रपंच से प्राप्त अपनी प्रिय कमाई को पानी की तरह बहाने के बाद, इन धर्मसम्मेलनों से समाज को मिलता है, असत्य, दम्भ, कलह, विग्रह, व्यर्थ की तू-तू मैं-मैं । भूल गए हैं हम केशी-गौतम के मैत्रीपूर्ण प्रिय संवादों को। यदि अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और अहंकार से परे किन्हीं के मन में समाज, राष्ट्र और धर्मसंघों की कुछ भी हिताकांक्षा है, तो उन्हें अपने पूर्वज महापुरुषों के विचार-पथ का अनुगमन करना चाहिए और विरोध में भी अविरोध या भेद में भी अभेद का तथा असहमति में भी सहमति का कोई न कोई समन्वयवादी रूप तलाशना चाहिए ।

दिसम्बर १९८३

युग-द्रष्टाओं की सम्यक्-युग-दृष्टि

हमारे जाने हुए छोटे से संसार में ही करोड़ों-अरबों मनुष्य हैं । मनुष्येतर प्राणियों की चर्चा मैं अभी नहीं करता । क्योंकि उनकी श्रेष्ठता से इन्कार कर दिया गया है । परन्तु, चिर अतीत से जिस मानव-जीवन की श्रेष्ठता के गुण गाये गये हैं और कहा गया है—“ दुल्लहे खलु माणुसे भवे ”—मनुष्य भव की प्राप्ति दुर्लभ है । और देवता भी जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं । उन देवानुप्रिय या देवनांप्रिय मनुष्यों की चर्चा ही मैं कर रहा हूँ । आज इस धरती पर सागरों के इस पार और उस पार, जहाँ-तहाँ मनुष्य फैला हुआ है । सागरों के मध्य में द्वीप-समूहों में भी मनुष्य भरे पड़े हैं । यह सर्व श्रेष्ठता का अहंकार रखने वाला मनुष्य अपने आस-पास में कितने असह्य पीडाओं से गुजरते और अभावों में मर्यान्तिक वेदना पाते व्यक्तियों को देख रहा है । शरीर तो मनुष्य का है, पर वृत्ति मनुष्य की तो क्या, पशु से भी निम्नतर हो गई है । क्या उसके अन्तर्विवेक की आँख खुली है, दुःखों से तड़पते प्राणियों को देखने के लिए? क्या वह ज्ञाताद्रष्टा है ? क्या आज के धर्म-गुरुओं ने, संसार की स्थिति को ठीक तरह देखा-पहचाना है ? संसार की तो क्या भारत की स्थिति का भी सही परिज्ञान किया है ?

भारत बहुत लम्बे काल तक पराधीन रहा है । वैसे तो भगवान् महावीर के बाद कितनी ही बार विदेशी ताकतों ने आक्रमण किए हैं । परन्तु, मुगलों के बाद अंग्रेजों का गुलाम रहा । कितना लम्बा समय गुजरा है । हजार वर्ष से भी अधिक परतन्त्र रहे हैं भारतीय जन । उस काल में वरिष्ठ सन्त एवं महान् आचार्य हुए हैं हर परम्परा में । परन्तु, क्या वे ज्ञाता-द्रष्टा रहे हैं ? क्या उन्होंने भारतीय-संस्कृति की एवं जन-जीवन की बिगड़ती स्थिति को देखा है ? हमारे धर्म एवं संस्कृति की जड़ें कटती रहीं। देखते-ही-देखते हजारों-लाखों व्यक्ति विधर्मी बना लिए गए । गोरक्षक गोभक्षक बन गए । हजारों-लाखों बहनों की इज्जतें लुटती रहीं । सबकुछ सामने होता रहा ? क्या किया उस युग के आचार्यों ने । वे सिर्फ परलोक के टिकट काटते रहे । उनका प्रायः यही

उपदेश रहा—“यहाँ जो कुछ हो रहा है, उसे भोग लो । यह तो कर्मों का भोग है, जो भोगना ही है । अब ऐसा प्रयत्न करो कि मरने के बाद स्वर्ग मिल जाए । और, बस स्वर्ग में यह दुःख-दैन्य नहीं रहेगा । मरने के बाद तुम्हारी सब समस्याएँ हल हो जाएँगी । ” वे इस तरह के डाक्टर या वैद्य बने रहे, तो रोगी से कहता है कि भई, निरन्तर दवा तो लेते ही रहो । इससे तुम्हारा बुखार, सिर-दर्द या अन्य रोग अभी तो ठीक नहीं होंगे, परन्तु जब तुम मर जाओगे तब मृत्यु के बाद तुम्हारे सभी रोग, जो भी हैं शान्त हो जायेंगे । दुःख है, हमारे मध्यकाल के महान आचार्यों ने जनता को मरणोत्तर परलोक सुधारने के सिवा वर्तमान के सुधार का कोई सही मार्ग नहीं बताया । जीवन जीने की सही दृष्टि नहीं दी । वर्तमान के दुःखों से मुक्त होने का कोई मार्ग नहीं बताया । इस लोक के जीवन की सामने नंगी नाचती समस्याओं का समाधान किसी ने नहीं किया ।

अध्यात्म-योगी भी आये और भक्ति-मार्ग के सन्त भी आये । सिर्फ किसी एक ही परम्परा में नहीं, प्रायः सभी परम्पराओं में अध्यात्म एवं भक्ति का झोत बहता रहा । परन्तु, उनका मुख्यतः यही स्वर अनुगुंजित होता रहा, कि अपनी आत्मा की सुध लो, भगवन्नाम का स्मरण करो, तुम्हारा परलोक सुधर जायेगा । परन्तु, वर्तमान में जो विकट स्थिति सामने है, उसको सही रूप में हल करने की दृष्टि जिनके पास नहीं है, वे मरणोत्तर जीवन का भी क्या समाधान कर सकेंगे ? जो स्वयं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के सम्यक् रूप से ज्ञाता-द्रष्टा नहीं हैं, वे जन-जीवन को क्या दृष्टि दे सकते हैं ?

स्पष्ट है, हमारे आचार्यों ने जन-हित की दृष्टि से सही दिशा में सोचा नहीं, देखा नहीं । जन-हित को देखने वाली दिव्य दृष्टि और होती है । वह यथार्थ को देखती है । सिर्फ आदर्शों की छाया में यथार्थ को भुला देना, यथार्थ की ओर से आँख मूंद लेना, सबसे बड़ी अज्ञानता है । परलोक में स्वर्गों के सुनहरे स्वप्नों के आदर्श पर, मणि-मुक्ता एवं रत्नों से जड़ित स्वर्णिम देव विमानों के एवं अप्सराओं के आदर्श पर, जो वर्तमान स्थिति को अनदेखा करके चलते हैं, इससे बढ़कर और अज्ञान क्या होगा ? वस्तुतः हमने यथार्थ दृष्टि से देखा ही नहीं । और खेद है, कि उन प्राचीन यथार्थ द्रष्टाओं को भी भूल गये, अपने मोह-माया के स्वप्नों में ।

वर्तमान कालचक्र के आदि युग-द्रष्टा थे भगवान ऋषभदेव । उस युग का मानव कुछ नहीं जानता था । जीवन जीने की कला से अनभिन्न था, प्रकृति के भरोसे पड़ा था । मिल गये फल-फूल, कंद-मूल तो खा लिया, नहीं तो पड़ा है निष्क्रिय । हमारा पौराणिक इतिहास कहता है, भगवान् ऋषभदेव के जन्म के समय भोग भूमि की परंपरा थी । तात्पर्य है, जो कुछ प्रकृति से मिल गया, बस उसे भोग लिया न नवनिर्माण की दृष्टि थी और न जीवन-विकास की । विना कुछ कर्म एवं श्रम किए भोगोपभोग करना, यह आदर्श रहा है भोग-भूमि का । विना किसी श्रम विशेष के यदि मुफ्त में ही भोगोपभोग के साधन मिल जाएँ, तो कौन हाथ-पैर हिलाए क्यों श्रम किया जाएँ ? ऐसे व्यक्तियों के लिए ही कहा गया “ मुफ्त का चन्दन, घिस मेरे नन्दन ।” स्थिति विचित्र है उस युग की । गये कल्प वृक्ष के पास । जो-कुछ मिला, खा लिया । नर को मिला तो उसने खा लिया । और नारी को मिला तो अपने उदर में डाल दिया । न नर को नारी की बुभुक्षा शान्त करने का विचार है और न नारी को नर को खिलाने का कोई भाव है । परस्पर एक-दूसरे के प्रति कोई दायित्व नहीं है । सब अपने-अपने भोग की क्षुद्र कारा में बन्द हैं । जब नर-नारी का दाम्पत्य भाव का ही कोई दायित्व नहीं है तो पुत्र-पुत्री के दायित्व का, बहन-भाई और समाज के दायित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । परन्तु, वह भोग की धारा सदा-सर्वदा एक-सी तो रह नहीं सकती । समय ने करवट बदली । इधर प्रकृति में उत्पादनरूप देय शक्ति कम होने लगी और उधर उपभोक्ता बढ़ने लगे । आप उन्हें कल्पवृक्ष कहिए, वन-फल कह दीजिए या कन्द-मूल कह दीजिए, उनका उत्पादन कम होने लगा और खाने वालों की संख्या बढ़ने लगी, तब चारों ओर हा-हाकार मचने लगा, छीना-झपटी शुरू हो गई । खाद्य संकट की यह परिस्थिति हजारों-लाखों व्यक्तियों के सामने थी । सब देख तो रहे थे, परन्तु उनमें परिस्थिति के अनुरूप समस्या का हल करने वाला द्रष्टा कोई नहीं था । एक द्रष्टा आया । वह था ऋषभकुमार । भगवान ऋषभदेव ने देखा कि अब तक इनका जीवन, जो चला आ रहा है, वह केवल भोग पर आश्रित है । और, वह भोग भी कौन-सा ? भोग भी स्वोपार्जित नहीं, सिर्फ प्रकृति पर आश्रित है । प्रकृति से जो मिल गया, वह मुफ्त का भोग । अतः उन्होंने सोचा कि इन्हें जीवन जीने के लिए कर्म देना चाहिए । अस्तु, निष्क्रिय मानव को सक्रिय बनकर जीवन जीने की कला सर्व प्रथम सिखाई भगवान् ऋषभदेव ने । धर्म-तीर्थकर बनने से पूर्व में बने कर्म-तीर्थकर, जो तत्कालीन मानव-जाति के लिए महत्त्वपूर्ण अपेक्षा थी ।

महाप्रभु ऋषभदेव ने उन्हें सर्व-प्रथम कर्म करने की शिक्षा दी। उन्होंने कहा—तुम अब सिर्फ कल्प-वृक्षों पर निर्भर मत रहो। लो यह हल। धरती पर हल चलाओ और अन्न उत्पन्न करो। खेती से प्राप्त अन्न तथा फल आदि से अपना एवं अपने परिवार का पालन-पोषण करो। इसी तरह किसी को हल चलाना सिखाया, किसी को चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाया, किसी को चर्खे से सूत कातना और खड्डी पर उसका वस्त्र बुनना सिखाया। किसी को सुनार का, किसी को लुहार का, तो किसी को बढ़ई का काम सिखाया। किसी को भवन निर्माण की कला सिखाई। कुछ व्यक्तियों को अर्थात् एक वर्ग विशेष को तलवार चलाना सिखाया, अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी, जिससे कि वह अपनी, अपने परिवार की एवं देश की समय पर रक्षा कर सके। भगवान् ने अपनी दोनों पुत्रियों, ब्राह्मी और सुन्दरी को लिपि एवं गणित की विद्या सिखाई। इस प्रकार असि, मसि और कृषि के अन्तर्गत जीवन को सम्यक् रूप से जीने की ६४ एवं ७२ कलाओं का प्रशिक्षण दिया। इन कलाओं में नृत्य, गान, आदि की वे ललित कलाएँ भी हैं, जो मानव के मनोरंजन की हैं। किन्तु बाद में क्या हुआ? बाद में तो मध्यकाल तक आते-आते हमने लोगों के हाथों से कर्म छीनना शुरू किया। अहिंसा की व्यापक दृष्टि को छोड़कर, जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादक कृषि में, देश एवं परिवार की सुरक्षा के लिए धनुष-खड्ग आदि शस्त्रास्त्र के प्रयोग में एकान्ततः हिंसा का विधान कर आर्य-कर्म का ही निषेध कर दिया। आगमों में जिस कृषि-कर्म को आर्य-कर्म, अल्पारंभ कहा है, कुछ आचार्यों एवं साधुओं ने महारंभ कहना शुरू कर दिया। परन्तु, किसी भी विचारक ने यह सोचने का, और इसकी गहराई में उतरने का प्रयत्न नहीं किया कि भगवान् ने यह महारंभ एवं महापाप का कर्म जनता के हाथ में क्यों दिया? क्योंकि महारंभ करने वाले की अपेक्षा महारंभ का शिक्षण-प्रशिक्षण देने वाला अधिक बुरा होता है। अतः आज के कुछ धर्म के ठेकेदार नासमझ गुरुओं की दृष्टि से तो भगवान् ऋषभदेव पापात्मा थे, कि उन्होंने असि, मसि एवं कृषि का बोध दिया, जीवन-यापन के लिए आर्य-कर्म सिखाया। जरा अपने धर्म गुरुओं से पूछें कि खेती करनेवाले पापी हैं या खेती करना सिखाने वाले पापी हैं? कुछ नासमझी का उत्तर देते हैं कि कृषि-कर्म सिखाते समय वे गृहस्थ थे। परन्तु, गृहस्थ जीवन में भी वे विशिष्ट मति, श्रुत एवं अवधि के ज्ञानी तो थे न। फिर व्यर्थ का अनर्थ दण्ड क्यों करते? वे तो गृहस्थ जीवन में भी महान् उच्चतर ज्ञान के धर्ता थे, तीर्थंकर होने वाले थे, फिर महापाप के पंक में क्यों स्वयं फसते और क्यों किसी और को फँसाते। और, फिर इसे आर्य-कर्म क्यों

कहते ? अनार्य कर्म कहते न ? महाश्रमण भगवान महावीर ने तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के बाद कृषि की गणना आर्य-कर्म में की है, उसे अल्पारंभ कहा है । अतः भगवान ऋषभदेव को गृहस्थ जीवन में कृषि-कर्म आदि के उपदेश्य एवं मार्गदर्शक बताकर अपनी गलत बात का बचाव करना, स्वयं को भी धोखा देना है और दूसरों को भी धोखा देना है।

प्रस्तुत आर्य-कर्म का अर्थ काफी गम्भीर है । वह है, जो कर्म सम्यक् रूप से जीना सिखाये, सही तरीके से जीवन की समस्याओं का समाधान करे, वही आर्य-कर्म है, अर्थात् श्रेष्ठ-कर्म है, वही सुख एवं शान्ति का मार्ग है । चोरी, डकैती, जेब काटना, छीना-झपटी आदि अनार्य कर्म उन्होंने नहीं सिखाये । जब कि इनमें कृषि जैसी बाह्य हिंसा कहाँ होती है? किसी राह चलते की जेब काट ली, उसे लूट लिया । कहाँ हिंसा हुई इसमें ? परन्तु, बाहर में दिखाई देने वाली इस अहिंसा का क्या अर्थ है । किसी का वध कर देना मात्र ही हिंसा नहीं है, अनैतिक कर्म करना एवं अन्याय-अत्याचार करना, यह भी हिंसा ही है, और बहुत बड़ी घातक हिंसा है । एक व्यक्ति वासना पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं कर पाता है, तो वह विवाह करके उसे एक सीमा में सीमित-नियमित कर लेता है, और एक व्यक्ति विवाह तो नहीं करता, पर वासना-पूर्ति के लिए उधर-उधर वेश्यादि के द्वार पर भटकता फिरता है । दोनों में अनैतिक कौन है ? महापापी कौन है ? अबारा घूमने वाला महापापी है, क्योंकि वह अनैतिक है । ये जीवन के छोटे-छोटे प्रश्न भी इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इनका सही समाधान नैतिक दृष्टि से समाचरित पुरुषार्थ से ही करना चाहिए । ऐसा न कर के अनैतिक ढंग से उनका समाधान करें, तो यह महाहिंसा है । अपने दायित्व से एवं पुरुषार्थ से दूर हट कर, जो व्यर्थ ही अपने भोगोपभोग की पूर्ति के लिए इतस्ततः भटकता है, वह अनैतिक है, महारंभी है । प्रजा उस अनैतिक जीवन की ओर न चली जाय, इसलिए ऋषभदेव ने उस युग की अनभिज्ञ जनता के हाथ में कर्म दिया । उसे सात्त्विक जीवन जीना सिखाया।

भगवान ऋषभदेव ने यथार्थ को पकड़ा । जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सात्त्विक एवं अहिंसक जीवन जीने की दृष्टि भगवान ऋषभदेव ने दी । उस समय उन्होंने यह नहीं सोचा कि मुझे इन सबसे क्या लेना-देना है, मुझे तो अपनी आत्मा का कल्याण करना है ? मुझे तो तीर्थकर

होना है, मोक्ष प्राप्त करना है । अतः इन्हें भी मोक्ष पहुँचा दूँ । मोक्ष-मार्ग का उपदेश दूँ, सब-कुछ छोड़कर तप करने का उपदेश दूँ । ऐसा कुछ नहीं सोचा उन्होंने । वे तो यथार्थ द्रष्टा थे । जीवन की धारा को सम्यक्-दिशा में गति देने वाले सम्यक्-ज्ञाता, द्रष्टा एवं उपदेष्टा थे ।

महाश्रमण भगवान महावीर के जीवन का अनुशीलन करें और देखें, उस समय क्या स्थिति थी मानव-समाज की ? एक वर्ग विशेष का आधिपत्य था समाज पर, जो अपने आपको सर्व-श्रेष्ठ मान रहा था । भले ही उसका जीवन कैसा ही क्यों न रहा हो, उसके बनाये विधि-विधान से सबको चलना होता था । इतिहास साक्षी है-यज्ञों में पशु-हिंसा हो रही थी । यज्ञ की पवित्र वेदी मूक पशुओं के रक्त से रंगी रहती थी । यज्ञ-वेदी पर हजारों-लाखों बकरे कट रहे थे, वृषभ तक काटे जा रहे थे और कहीं-कहीं तो नरमेघ यज्ञों में मनुष्य तक की बलि दी जा रही थी । यदि आप पुराणों के पन्ने खोलकर पढ़ेंगे, तो आपका मन कांप उठेगा । पुराण उस पुराकाल की मनोवृत्ति को स्पष्ट करते हैं । आज जो शाक्त परम्परा में बलि दी जाती है वह उस पुरातन मनोवृत्ति का ही भग्नावशेष है । उस समय अनेक अन्य आचार्य एवं धर्म-गुरु यह सब भीभत्स दृश्य देख रहे थे । क्या किसी ने आवाज उठाई ? भगवान महावीर यथार्थ द्रष्टा थे । महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ द्रष्टा थे । नेमिनाथ द्रष्टा थे, जिन्होंने विवाह-शादियों एवं अन्य कार्यक्रमों में हो रही, इस हिंसा को, पशु-वध को रोकने के लिए विना विवाह किये ही लौट आए । भगवान पार्श्वनाथ ने तप के रूप में व्यर्थ के देह दण्ड रूप हिंसा का विरोध किया । अनन्तर पार्श्व संघ में अनेक धर्माचार्य हुए हैं । उनके सामने मांसाहार होता रहा है, यज्ञों में बलि दी जाती रही है । परन्तु उन्होंने उसके विरोध में कोई आवाज उठाई हो, यज्ञीय हिंसाप्रधान सामाजिक वातावरण को परिवर्तित किया हो, ऐस कहीं उल्लेख नहीं मिलता । इसमें गलती इतिहासकारों की नहीं, आपकी है । गलती होने का तात्पर्य है, उस युग के आचार्यों ने जन-जीवन की समस्याओं को हल करने का कोई विशेष प्रयत्न किया ही नहीं । अतः भले ही भगवान नेमिनाथ हों, पार्श्वनाथ हों या भगवान महावीर हों, जो यथार्थ में ज्ञाता-द्रष्टा होते हैं, वे ही अपने सामने जो धार्मिक या सामाजिक विकृत समस्याएँ देखते हैं, उन्हें हल करते हैं । भूले-भटके जन-मानस को सही दिशा देते हैं ।

महाश्रमण महावीर को केवलज्ञान हो गया । संसार परिभ्रमण का मूल कारण मोह कर्म एवं अन्य ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय इन चार

घातिक कर्मों का क्षय करके आधत्मिक आत्म-स्वरूप की पूर्णता को पा लिया। अब उनके लिए कुछ भी पाना शेष नहीं रहा। साधना सिद्ध हो गई। फिर भी वह ज्योति-पुरुष तीस वर्ष तक गाँव-गाँव एवं नगर-नगर में विचरण करते रहे और जन-जीवन में आत्म-स्वरूप की, सम्यक्-ज्ञान की, सत्कर्म की ज्योति जगाते रहे। गलत परम्पराओं का पुरजोर खण्डन कर उन्हें ध्वस्त करते रहे। अब उनके विहार का, उक्त उपदेश एवं कर्म का क्या प्रयोजन था? उनके विहार का एकमात्र उद्देश्य था—धर्म के नाम पर यज्ञों में पशुबलि दी जा रही थी, धर्म के नाम पर पाखण्ड फैला हुआ था, मनुष्य मनुष्य से घृणा-नफरत कर रहा था, शूद्र को और नारी को तो मनुष्य ही नहीं समझा जा रहा था। उन्हें वेद पढ़ने का तो क्या, सुनने तक का भी अधिकार नहीं था। ब्राह्मण अपने को इतना ऊँचा मान बैठा था कि हरिजन के शरीर की छाया का भी उसके शरीर को तो क्या, उसकी परछाई को भी स्पर्श न हो जाय। न तो शूद्र गाँव में सबके मध्य रह सकता था, न सम्मान के साथ जी सकता था। शूद्र और नारी दोनों अपमानित एवं प्रताड़ित थे उस युग में। अतः महाश्रमण महावीर की दिव्य-ध्वनि यज्ञों के विरोध में, मनुष्य-मनुष्य के बीच फैल रही घृणा के विरोध में और धार्मिक क्रिया-काण्डों के नाम पर चल रहे पाखण्ड के विरोध में अनुगुंजित हुई। तीस वर्ष तक वे जन-चेतना को जागृत करते रहे। और, इसके लिए अनेक बार भिक्षु-भिक्षुणी संघ के साथ महाप्रभु मार्ग में पड़ने वाली गंगा, सरयू, कोशी, गंडकी आदि नदियों को नौकाओं से पार करते रहे। जैसे दिग्विजय करने को जाते समय सम्राटों की सेनायें पदों, धनों एवं नदियों को पार करती हैं। वैसे ही भगवान् महावीर के धर्म-सैनिक भी धर्म-प्रचार हेतु भीषण पर्वतों, जंगलों में से गुजरते रहे कहीं छोटी नदियों को पैरों से, महानदियों को नौकाओं से पार करते रहे हैं। आगमों के पृष्ठ साक्षी हैं इस बात के। मैं पूछूँ आप से, क्या आवश्यकता थी इसकी? नदी संतरण में जल के असंख्यात जीवों की हिंसा हो रही है। जल की एक बूँद में ही असंख्यात जीव हैं। और, उसमें निगोद के तो अनन्त जीव हैं। द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (जलचर) जीव भी हैं। नौकाएँ जब धाराओं को चीरती चलती थी, तो कितनी बड़ी हिंसा होती थी। नदियों को नौकाओं से ही पार किया है, आकाश में उड़कर तो नहीं गये। हमें तो जल की बूँद में जीव दिखाई नहीं देते, परन्तु भगवान तो द्रष्टा थे। हमको तो बताया गया है कि जल में जीव हैं, अतः जल को न छुओ, उन्हें बचाने का प्रयत्न करो। किन्तु महाप्रभु महावीर तो केवलज्ञान में प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि असंख्य-असंख्य प्राणी मर रहे हैं। गंगा जैसी महानदियाँ, जो उस युग

में एक सागर जैसी ही थीं, जिसमें हजारों ही अन्य नदियाँ मिलती हैं। उसे पार करने में कितनी भीषण हिंसा हुई होगी। इतनी हिंसा के साथ इन विशाल धाराओं को पार करने का कोई अर्थ तो रहा होगा? क्या बिना किसी कारण से ही पार की होगी?

बात यह है कि इन जल के एवं जलाश्रित अन्य जीवों की हिंसा से भी अधिक भयंकर हिंसा हो रही थी, यज्ञ-वेदी पर मूक पशुओं के खून की धाराएँ बह रही थीं, उसके निराकरण के लिए, शूद्र एवं नारी को भी सम्मान के साथ जीने की अन्तर्-चेतना को जागृत करने के लिए, उस ज्योति-पुरुष ने हिंसा को देखते हुए भी नौका-यान से नदियों को पार किया। यह तो स्पष्ट है कि उन्हें कोई पंथसम्प्रदाय तो चलाना नहीं था। न शिष्य-शिष्याओं को बटोरने का कोई सवाल ही था। प्रश्न व्याकरण सूत्र के शब्दों में “सर्व्व जगजीव रक्खणदयठ्ठाए भगवया पावयणं कहियं—जगत् के समस्त जीवों की रक्षा रूप दया के लिए दिव्य प्रवचन दिया।” उनके नौका-यात्रा आदि के पीछे एक मात्र उद्देश्य था—जीवों की रक्षा करना, दया करना, उन्हें सम्यक्-साधना का मार्ग दिखाना। ज्योतिर्धर गणधर सुधर्मा के शब्दों में भगवान् महावीर ‘चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं’ थे। वे ज्ञान-चक्षु के प्रदाता थे, सम्यक् मार्ग के प्रदर्शक थे। उनकी दिव्य-देशना में सर्वत्र यही ध्वनि अनुगुंजित हुई है—“जट्ठं च पावकम्मणा” धर्म के नाम पर किया जानेवाला पशु वध पाप कर्म ही है, पुण्य नहीं।

हिंसा को रोकने की इस दिव्य-ध्वनि में जिनेन्द्र महावीर ने आत्मैक्य के सिद्धांत के रूप में एक और दिव्य-ध्वनि की। उन्होंने कहा—विश्व की समस्त आत्माएँ स्वरूप से एक हैं। भूतल पर के सब मानव एक समान हैं। ‘एगा मणुस्सजाई’ किसी कुल विशेष एवं जाति विशेष में जन्म लेने मात्र से न कोई ऊँच है, न कोई नीच है, न कोई स्पृश्य है, न कोई अस्पृश्य है। न तो ब्राह्मण के घर में सिर्फ जन्म लेने से कोई ब्राह्मण है। न क्षत्रिय के घर में जन्म लेने से कोई क्षत्रिय है। न वैश्य के घर में जन्म ग्रहण करने से कोई वैश्य है। न शूद्र के घर में जन्म लेने से कोई शूद्र है। फिर ब्राह्मण कौन है, क्षत्रिय आदि कौन है? इसके समाधान के लिए उत्तराध्ययन में महत्त्वपूर्ण बात कही है—

“ कम्मणा बम्मणो होइ, कम्मणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मणा होइ, सुदो हवइ कम्मणा ॥”

कर्म से व्यक्ति ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। जाति का कोई अर्थ नहीं है, महत्त्व है कर्म का।

ये ज्योतिर्मय महापुरुष सही अर्थ में ज्ञाता और द्रष्टा थे, जिन्होंने सिर्फ परलोक की ही बात नहीं की, इस लोक की भी बात की। जब भी परलोक की चर्चा की है, तो पहले इस लोक को सुधारने की दृष्टि दी है। जो प्रत्यक्ष में प्राप्त इस लोक के जीवन को नहीं सुधार पायेगा, वह परलोक को क्या सुधारेगा? अतः उस दिव्य पुरुष ने समाज कल्याण की दृष्टि से इस लोक को भी देखा। इसलिए उन्होंने अच्छे परिवार, समाज एवं राष्ट्र के निर्माण का मार्ग भी प्रशस्त किया। स्थानांगसूत्र में दस धर्मों का वर्णन है। उसमें लोकोत्तर श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म का भी उल्लेख है। परन्तु उक्त आध्यात्मिक-दृष्टि के पूर्व उन्होंने ग्राम-धर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि आठ धर्मों को भी कम महत्त्व नहीं दिया है। यह दिव्य देशना इस बात की परिसूचक है कि उनकी दृष्टि कितनी विशाल एवं व्यापक थी। उन्होंने दूसरे प्राणियों के हृदय को समझने की, दूसरों के दुःख और पीडाओं की अनुभूति करने की दृष्टि दी। इस प्रकार वे हजारों साधु-साधवियों के साथ तीस वर्ष तक निरन्तर कर्म-क्षेत्र में संलग्न रहे। वस्तुतः ज्ञाता-द्रष्टा वह है, जो लोकोत्तर जीवन के साथ लोक-जीवन की समस्याओं को भी समय पर हल करता है, उच्चतर एवं श्रेष्ठतर मानवीय जीवन जीने की सम्यक्-दृष्टि देता है।

आज हम प्रसंगतः एक और द्रष्टा की बात कर रहे हैं। भारत मुगलकाल से ही परतन्त्र रहा है। उस गुलामी के लंबे युग में लाखों व्यक्ति हताहत हुए और लाखों ही मुसलमान बन गए। हमारे परम्परागत राज-सिंहासनों तथा धर्मासनों के अनेक दावेदार सिंहासनों पर एक के बाद एक बैठते रहे। परन्तु, चन्द अपवादों को छोड़कर उन्होंने किया क्या? समाज एवं राष्ट्र के प्रति क्या दायित्व निभाया। राष्ट्र को क्या दृष्टि दी उन्होंने? सब मूक भाव से गुलामी के कष्टों को सहते रहे? प्रजा अत्याचारों से हाहाकार करती रही। स्वतन्त्रता के लिए कोई आवाज नहीं निकली उनके श्रीमुख से। परन्तु, बीसवी सदी में एक विराट व्यक्ति आगे आया, जिसे हम महात्मा गाँधी के नाम

से जानते-पहचानते हैं, श्रद्धा से उसका स्मरण करते हैं । उस समय गुलामी की जंजीर में जकड़े हुए और भी अनेक नेता और प्रजा के व्यक्ति थे । परन्तु, गाँधीजी ने इस बात को समझा कि जब तक इस विष-वृक्ष को जड़ से नहीं उखाड़ा जायेगा, तब तक केवल पत्तों को नोचते रहने से कोई लाभ होनेवाला नहीं है । उन्होंने उद्घोष किया—दासता राष्ट्र का अपमान है । इसने राष्ट्र की ऊर्जा को शक्ति को समाप्त कर दिया है । राष्ट्र के गौरव और गरिमा को नष्ट कर दिया है, इस गुलामी ने ।

देश में पहले भी कुछ प्रयत्न हुए हैं । महाराणा प्रताप, शिवाजी, महाराणी लक्ष्मीबाई आदि ने आजादी के लिए प्रयास किए । परन्तु, वे प्रयत्न क्षेत्रीय-प्रान्तीय दृष्टिकोण से हुए हैं । उसने सम्पूर्ण भारत की चेतना को जागृत नहीं किया । और, उन प्रयत्नों के पीछे शत्रु के प्रति शत्रुता की, प्रतिशोध की, घृणा एवं द्वेष की भावना ही अधिक थी । उन्होंने वैर को वैर से, घृणा को घृणा से, द्वेष को द्वेष से, हिंसा को हिंसा से बदलना चाहा । परन्तु, गाँधीजी का प्रयोग सात्विक है । यह विलक्षण एवं अद्भुत प्रयोग है इतिहास का । यह साधारण प्रयोग नहीं है । आज हम उस विराट आत्मा को याद कर रहे हैं, जिसने अपना सुख, अपनी सुविधाएँ सब-कुछ राष्ट्र को अर्पित कर दी । और, गुलामी की जंजीर को तोड़ने के लिए स्वयं के ही द्वारा चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलन में अनेक कष्ट उठाए, पर कोई चिन्ता नहीं की । जेल की सीखचों में बन्द हैं, यातना भोग रहे हैं, परन्तु इसके लिए न किसी के प्रति द्वेष है, न प्रतिशोध की कोई दुर्भावना है । उस विराट पुरुष की ओर से स्वतन्त्रता की वह शंख ध्वनि अनुगुंजित हुई, कि हजारों लाखों युवक-युवतियाँ, प्रौढ़, बूढ़े, यहाँ तक की बच्चे भी उनके कदमों पर चल पड़े । जो बहनें शताब्दियों से घर की चार दीवारी में बन्द थीं, वे भी स्वतन्त्रता सैनिकों के रूप में सत्याग्रह के हेतु बाहर निकल आईं । यही एक विराट चेतना थी, जिसने जन-जीवन में जागरण की ज्योति प्रज्वलित की और सम्पूर्ण राष्ट्र की चेतना को जगा दिया । वह वास्तव में ज्ञाता-द्रष्टा था ।

ज्ञाता-द्रष्टा वह है, जो सामने परिस्थिति है, समस्या है, उसे देखे और साथ ही उसके प्रतिकार को भी देखे । प्रतिकार ऐसा हो, जो सात्विक हो, सबके लिए हितकर हो । भले ही कुछ आग्रह हो तो हो, पर दृष्टि साफ-स्वच्छ, निर्मल हो । मनुष्य आग्रह से शून्य कभी होता नहीं । पंथ का आग्रह रहा है,

जाति का आग्रह रहा है, रूढ मान्यताओं का आग्रह रहा है, और भी अनेक आग्रह रहे हैं, और वे दुराग्रह का रूप भी लेते रहे हैं। परन्तु, गाँधीजी का आग्रह सिर्फ आग्रह ही नहीं रहा उसके पीछे सत्य जुड़ा हुआ है। अतः वह सत्याग्रह है। वह इतिहास का एक विलक्षण मोड़ है। जब कि इतने बड़े साम्राज्य की शक्ति को अहिंसा के बल पर चुनौती दी गई। अब तक राजनीति के क्षेत्र में इन हजारों वर्ष की अवधि में इस तरह की चुनौती नहीं दी गई, कि हम शत्रुता को मैत्री से जीतेंगे, घृणा को स्नेह से जीतेंगे। यह चुनौती सात्त्विक सत्याग्रह के रूप में दी, महात्मा गाँधी ने।

ऐसे व्यक्ति तो बहुत हैं, जो समाज की स्थितियाँ सामने होती हैं, उन्हें देखते हैं, किन्तु उनके समाधान के लिए इस धरती की ओर न देखकर आकाश की ओर देखते हैं। भगवान की और ग्रह-नक्षत्रों की ओर ही नजर लगाए रहते हैं। महर्षि कणाद थे, जिन्हें अक्षपाद भी कहते हैं। कहा जाता है, वे ज्योतिष-शास्त्र के भी बहुत बड़े ज्ञाता थे। एक रात ऊपर आकाश में ग्रहों की, तारों की गति को देखते चल रहे थे। भाग्य इस धरती का देखना है और उसे देख रहे थे वह सितारों में कि कौन ग्रह उदित हो रहा है, कौन अस्त हो रहा है, किस ग्रह के साथ किसका सम्बन्ध जुड़ रहा है। और, उससे क्या प्रतिफलित होने वाला है? मार्ग में एक पुराना कुआँ था, चलते-चलते उसमें गिर पड़े। अपने एक इष्ट देवता को पुकारा। वह आया और कुएँ में से उन्हें निकाला और कहा “जब धरती पर चल रहे हो, तो धरती को देखकर ही चलना चाहिए, न कि आकाश की ओर देखते चलो।”

कणाद ने कहा—“जो हुआ सो हुआ। अब तुम मेरे पैरों में अक्ष (आँख) लगा दो, जिससे आकाश के साथ-साथ धरती को भी देख सकूँ।” देव ने तथास्तु कहा और कहते हैं उनके पैरों में आँख लग गई। कणाद से अक्षपाद हो गए।

महर्षि कणाद के पैरों में आँख लगी या नहीं, किंवदन्ती है, अतः यह चर्चा छोड़ दें। लेकिन, सत्यार्थ है, हर कदम को आँख चाहिए। पैर कर्म के प्रतीक हैं, यदि कर्म को ज्ञान की आँख नहीं है, तो एक-दो नहीं, हजारों-लाखों कणाद कुएँ में गिरेंगे। अतः धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत रखना है, तो कर्म के साथ ज्ञान की आँख आवश्यक है। केवल परलोक को

देखने मात्र से जीवन का सही विकास नहीं होगा । इस लोक में जीना है, तो इस लोक के प्रति भी ध्यान देना होगा । हमारे आचार्य, हमारे महामुनि इन हजार वर्षों में आत्मा के लिए मुक्ति की बात तो करते रहे, पर गुलामी की शृंखला से मुक्त होने की बात किसी ने नहीं की । इसी का परिणाम है कि भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ता रहा । मैं इस अवसर पर ज्योति पुरुष युग-द्रष्टा ऋषभदेव का स्मरण करता हूँ, कि उस विराट पुरुष ने मानव-चेतना को जीवित रखा । उसने मनुष्य के हाथ में कर्म दिया । यदि ऋषभदेव कर्म के रूप में जीवन जीने की सात्त्विक कला नहीं सिखाते तो मनुष्य मनुष्य न रहकर पशु होता, पशु ही नहीं दानव बन जाता ।

गाँधीजी भले ही आज नहीं हैं, परन्तु उनकी दृष्टि, उनका चिन्तन हमारे सामने है । मैं उनसे मिला हूँ । जब मैं मिला था, भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे । दोनों ही एक-दूसरे के प्राणों के प्यासे थे, खून बह रहा था । मैंने देखा गाँधीजी बेचैन थे । उन्होंने कहा-कुछ करो मुनिजी, मैं तो महावीर का ही काम कर रहा हूँ । मैंने भी अपनी शक्ति के अनुरूप हिंदु-मुस्लिम दोनों में परस्पर सौहार्द की स्थापना के हेतु तब कुछ किया भी था। परन्तु मन कांपता है, उस समय इतने भयंकर हत्या-काण्ड हुए, माँ-बहनों की इज्जत पर प्रहार हुए, कुछ पूछिये नहीं । खेद है, उस समय अहिंसा का उपदेष्टा साधु-समाज क्या कर रहा था ? क्या वह इतिहास में एक अक्षर भी लिखा सकता है कि उसने ऐसा कुछ किया । इतिहास आपको क्षमा नहीं करेगा । वह अस्सी वर्ष का बूढ़ा बंगाल में दर-दर घूम रहा है । जहाँ गाँव के गाँव जलाए जा रहे हैं, मार-काट हो रही है, जहाँ मानव दानव बना खड़ा है, वह निर्भय एवं निर्द्वन्द्व भाव से घूमकर मैत्री-भाव का संदेश फैला रहा है । परस्पर फैलाए जा रहे घृणा-द्वेष एवं नफरत के विषाक्त भाव को दूर करके जन-जन के मन में प्रेम, मैत्री एवं स्नेह भाव के दीप जला रहा है । उसे इस बात की चिन्ता नहीं है कि कोई क्या करेगा । किसी ने गोली मार कर जीवन लीला समाप्त कर दी तो क्या होगा ? जो साधु प्रतिदिन उपदेश देते रहे हैं— मिट्टी का यह पिण्ड क्षणभंगुर है । आत्मा जो अजर-अमर है । उसका कभी नाश नहीं होता । वे साधु अपने क्षणभंगुर पिण्ड को बचाने हेतु पाकिस्तान से भागकर वायुयान से भारत आए । और दूसरी ओर यह बूढ़ा हिंसा के उफनते दावानल को शान्त करने उस जलती आग में गया । यह अजेय आत्म-शक्ति थी, निर्भय और निर्द्वन्द्व भाव की ज्योति थी, जिसके बल पर गाँधीजी ने उस

आग को बुझाने का प्रयास किया और उसमें सफल भी रहे । इसलिए हम आज उस द्रष्टा की, निर्भय और निर्द्वन्द्व सत्य से प्रतिबद्ध अहिंसक सेनानी की, जयन्ती मना रहे हैं ।

यहाँ प्रस्तुत प्रदेश में जातीय एवं साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं । विभिन्न वर्गों एवं सम्प्रदायों के लोगों के बीच में हिंसा के ताण्डव नृत्य हुए हैं । इधर-उधर हाथों में हथगोले लिए, बन्दूकें उठाए घूम रहे थे । पूरे क्षेत्र का वातावरण अशान्त था । सरकार भी परेशान थी । सारी-सारी रात परस्पर एक-दूसरे को उत्तेजित करने वाले नारे वातावरण को दूषित कर रहे थे । उस समय वीरायतन द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित किए गए मैत्री संदेश एवं समाधान गोष्ठियों द्वारा वातावरण को शान्त करने के लिए किए गए प्रयत्न काफी सफल रहे । वीरायतन ने दोनों पक्षों में समन्वय स्थापित किया है । इसमें साध्वीरत्न चन्दनाजी का पुरुषार्थ उल्लेखनीय रहा है । यहाँ के स्थानीय नेताओं को बुलाना, उन्हें प्रेम-स्नेह से समझाना और समस्याओं को बातचीत से सुलझाकर समझौता करा देना, यह चन्दनाजी का ही पुरुषार्थ था । यह है अहिंसा एवं मैत्री का सक्रिय रूप जिससे हमारे अनेक महानुभाव कतराते हैं, और कहते हैं, हमें इससे क्या लेना-देना है ? हमें तो हमारी आत्मा से काम है, अपनी आत्मा का कल्याण करना है ।

आज हम गाँधीजी को क्यों याद करते हैं । वैसे गाँधीजी गृहस्थ जीवन में ही रहे हैं । वे साधु-संन्यासी नहीं बने । फिर भी हम उन्हें याद करते हैं । भला क्यों ? वस्तुतः किसी सम्प्रदाय विशेष के साधु-वेष को ग्रहण करने या न करने का कोई विशेष महत्व नहीं है । साधुता सिर्फ वेष में नहीं है । वह वेषातीत है, अपने अन्तर् में है । जिसके जीवन में अन्तर्-ज्योति प्रज्वलित है, जो समय पर जनहित के लिए अपने स्वार्थ को होम देता है, यथार्थ दृष्टि से समाज को देखता है, उसे जीवन जीने की सही दिशा बताता है, जन-कल्याण एवं जन-मंगल का कार्य करता है, वह बाह्य वेष से भले ही साधु हो या चाहे गृहस्थ हो, स्मरणीय है । भले ही वह अपनी परम्परा का हो या अन्य परम्परा का हो सादर स्मरणीय है । धर्म, सत्कर्म किसी परम्परा में आबद्ध नहीं है । देश, पंथ, जाति आदि के भेदों से बहुत ऊपर है धर्म । व्यक्ति भले ही किसी प्रान्त का हो, किसी जाति का हो, किसी पंथ तथा किसी देश आदि का हो, जो यथार्थ का ज्ञाता-द्रष्टा है, अहिंसा-सत्य के प्रति प्रतिबद्ध है, वह स्मरणीय है ।

आप अनेक भाई-बहन सुदूर महाराष्ट्र से आये हैं। सम्पूर्ण भारत राष्ट्र है परन्तु आपका प्रान्त महाराष्ट्र है। एक सुराष्ट्र है, जिसे सौराष्ट्र कहते हैं, किन्तु आप उससे भी आगे महा तक पहुँच गये हैं। आगमों में महाराष्ट्र की भाषा के अनेक शब्द उपलब्ध हैं। आगमों की प्राकृत में उस युग की महाराष्ट्र की बोली के हजारों शब्द भरे पड़े हैं। आगम-वाङ्मय ने यात्रा करते-करते मगध से महाराष्ट्र की यात्रा की। इतिहास है महाराष्ट्र का। आप धन्ना-शालिभद्र की कहानी से परिचित हैं। धन्ना कहाँ का है? वह महाराष्ट्र का है प्रतिष्ठानपुर (पैठन) का है। विलक्षण व्यक्तित्व है कर्म के देवता धन्ना का। मूल नाम धन्यकुमार है, वह यथार्थ में धन्य ही है। वह महाराष्ट्र से कितनी लम्बी यात्रा करके मगध की राजधानी राजगृह में आया है। बीच में वह जहाँ जाता है, ठहरता है, वहाँ ऐश्वर्य के लहलहाते बाग लगा देता है। उसके पीछे-पीछे परिजन आते हैं भूखे-प्यासे। उन्हें सब-कुछ सौंपकर फिर आगे बढ़ जाता है। और, बढ़ते-बढ़ते मगध पहुँच जाता है। कितना तेजस्वी है कि मगध सम्राट श्रेणिक का दामाद तक बन जाता है और राजगृह का वैभव सम्पन्न सेठ गोभद्र भी अपनी कन्या सुभद्रा का उसके साथ विवाह कर देता है। कितना तेजस्वी और त्याग निष्ठ है धन्ना। एक दिन स्नान कर रहा है, उसकी स्नेह में पगी आठों ही पत्नियाँ स्नान करा रही हैं। शालिभद्र की बहन सुभद्रा के खिन्न उदास चेहरे को देखकर खिन्नता का कारण पूछता है, तो वह बताती है कि मेरा एक ही तो भाई है शालिभद्र। उसे वैराग्य हो गया है। भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षा लेना चाहता है। अतः वह अपनी बत्तीस पत्नियाँ को समझा रहा है। प्रतिदिन एक-एक पत्नी को समझाता है, छोड़ता है। बत्तीस दिन खत्म होने को हैं। दीक्षित हो जाएगा, तो मेरे परिवार का क्या होगा?

तब वीर-पुरुष धन्ना कहता है—अहो, यह बात है! तुम्हारा भाई कायर है। जब सब छोड़ना ही हैं, अध्यात्म-साधना के पथ पर गति करना ही है, तो इस तरह दिनों का विलम्ब क्यों कर रहा है? ज्यों ही मन में भावना जगे, बस त्यों ही साधना-पथ पर गतिशील हो जाना चाहिए। यह प्रतिदिन घर में बखेड़ा करना, रुदन करवाना क्या ठीक है? अरे, शालिभद्र यह कैसा नाटक खेल रहा है? छोड़ना ही है, तो एक साथ क्यों नहीं छोड़ देता है?

सुभद्रा को चुभ गई बात। उसने प्रत्युत्तर में व्यंग्य-विनोद की चुटकी लेते कहा—“कहना तो सरल है, छोड़ना कठिन है। तुम स्वयं छोड़ो, तब पता

चले न, छोड़ना क्या होता है ?” बस, व्यंग ने वीर युवक की आत्मा को जगा दिया । स्नान करते-करते ही उठ खड़ा हुआ और घर से बाहर निकल आया । और लो भई, चला मैं तो । कोई व्यवस्था की उसने ? घर की व्यवस्था का दायित्व बेटे को सौंपा ? कुछ भी तो नहीं किया । जिस स्थिति में बैठा था, उसी स्थिति में उठकर चल पड़ा, महाप्रभु महावीर के श्रीचरणों में । इसे कहते हैं तेज, इसे कहते हैं कर्मयोगी, इसे कहते हैं अध्यात्म-योगी । ऐसा कर्म-योगी था धन्ना, जिसने जहाँ-जहाँ चरण रखा विशाल ऐश्वर्य, यश-प्रतिष्ठा एवं नाम कमाया और जब समय आया, तो सब-कुछ छोड़कर घर से बाहर निकल आया, जैसे सघन बादलों को चीरकर सहस्र-रश्मि-सूर्य बाहर निकल आया है ।

मैं महाराष्ट्र से समागत घोड़नदी संघ के स्नेहशील भक्तों से कहता हूँ कि आप अपने पूर्व पुरुषों की स्मृति को बनाए रखें । उनकी गरिमा को याद रखें । जीवन के धर्म और कर्म के क्षेत्र में, जो दायित्व आप पर हैं, उन्हें निष्ठा एवं साहस के साथ पूरा करने का प्रयत्न करें । आपके अपने जो संघटन बिखर रहे हैं, उन्हें एकत्व का रूप दें । आप लोग सिर्फ परलोक सुधारने की चर्चा में ही उलझ कर न रह जाएँ, इस लोक को सुधारने का प्रयास करें । परलोक उसी का सुधरेगा, जो इस लोक को सुधार लेता है । याद रखिए, अपना जीवन भी तभी बनेगा-सुधरेगा, जो अपने साथ दूसरों का जीवन भी बनाता है, सुधारता है ।

इस पुण्य-भूमि का आशीर्वाद आपके साथ है । धन्ना ने इसी देवतात्मा वैभारगिरि की पुण्य-भूमि पर दीक्षा ली थी और यहीं अन्तिम समाधि लाभ भी प्राप्त किया था । साला-बहनोईकी यह इतिहास विश्रुत जोड़ी है । इस पावन-भूमिपर अनेक व्यक्तियों के जीवन में धर्म-कर्म की ज्योति जली है । इसी भूमि पर धर्म को कर्म का रूप और कर्म को धर्म का प्रकाश मिला है । कर्म में धर्म और धर्म में कर्म का अर्थ है, कर्म करते हुए भी अकर्म की स्थिति । यही आदर्श है, इस पुण्य-भूमि का । आप अपनी आध्यात्मिक चेतना जगाएँ, सामाजिक चेतना जागृत करें । सिर्फ अपने जीवन के लिए ही नहीं, सबके कल्याण के लिए प्रयत्न करें । सबके हित में अपना हित भी समाहित है । आप अभी जो प्रार्थना कर रहे थे—सर्व जगत् का कल्याण हो । जितने लोग हैं, वे एक-दूसरे के हित में योगदान दें । सिर्फ तन के ही नहीं, मन के दोष भी नष्ट हों । सब प्राणी सुखी हों—

“शिवमस्तु सर्व जगतः, परहित-निरता भवन्तु सत्त्वगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥”

वीर-भूमि वीरायतन का यह आदर्श रहा है । जिनेन्द्र देव का यह धर्मचक्र सब ओर प्रसार पाए, फैले, सब को सुख-शान्ति और आनन्द देता रहे । भगवान् महावीर धर्म-चक्रवर्ती हैं । अतः महाप्रभु के धर्मचक्र का प्रवर्तन होना ही चाहिए—

“जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रसरतु सततं सर्व सौख्य प्रदायि ।”

दिसम्बर १९८३

सत्साहसी पुरुष नहीं, पुरुषसिंह है

मानव के उदात्त जीवन की सबसे बड़ी शक्ति, उसका अपना साहस है। संकट के सर्वहारी विकट क्षणों में भी, यदि मानव को कोई धैर्य एवं बल दे सकता है, तो वह उसके वज्र हृदय का अदम्य साहस ही है। साहस संकट के गरजते काले बादलों में चमकने वाली पथ-प्रदर्शक बिजली है।

संकट के समय में सहारे के लिए कितने ही हाथ फैलाए, कोई सहारा देने वाला नहीं है। सहारा देने वाला है, आपका एक मात्र सहज मित्र साहस। कितनी ही भयंकर-से-भयंकर विपत्ति क्यों न हो, मृत्यु के क्षण भी क्यों न निकट आ गए हों, आप साहस न छोड़िए। संकट के प्रतिकार में साहस के साथ लगे रहिए। और कोई नहीं, अपनी मदद आप ही करते रहेंगे, तो संभव है, संभव ही है, कहीं न कहीं से आपको कोई-न-कोई सहारा मिल ही जाएगा और आप संकट के गर्त से उबर जाएँगे।

एक पुराकाल के अनुभवी मनीषी की वाणी है कि भीषण संकट के काल में भी धैर्य एवं साहस नहीं छोड़ना चाहिए। धैर्य रहा तो कोई न कोई संकट से बचने की राह मिल ही जाएगी। संभावनाओं की ज्योति मन में जलती रहनी चाहिए। समुद्र में जलयान-जहाज के ध्वस्त हो जाने पर भी सांयात्रिक अर्थात् नाविक साहस के साथ तैरने का प्रयत्न करता ही है—

“यथा समुद्रेऽपि च पोतभंगे, सांयात्रिको वाच्छति तर्तुमेव।”

बौद्ध जातक साहित्य में तत्कालीन विदेह प्रदेश के एक राजकुमार की ऐसी कथा है। राजकुमार महाजनक विपत्ति में उलझा हुआ था, राज्य-भ्रष्ट होकर असहाय दीन, दरिद्र हो गया था। अतः इधर-उधर से कुछ धन का जुगाड़ कर व्यापार के द्वारा विशेष धनार्जन के लिए वह जहाज से स्वर्णद्वीप,

(२९३)

जावा, सुमात्रा की ओर जा रहा था कि दुर्भाग्य से उसका जहाज समुद्री तूफान के कारण पूर्वी समुद्र (बंगाल की खाड़ी) में ध्वस्त हो गया । महाजनक के सभी साथी जब डूबने की स्थिति में मृत्यु के डर से घबरा रहे थे, हाहाकार कर रहे थे, तब वह जहाज के कूप अर्थात् मस्तूल पर चढ़ गया और सारे शरीर पर तेल मलकर समुद्र में तैरने के लिए तैयार हो गया । इसी बीच अनेक साथी डूब गए थे । इधर-उधर उनकी लाशें समुद्र में तैर रही थीं, घायलों के खून से समुद्र का पानी लाल हो रहा था, मगरमच्छ आदि भीषण जलचर लाशों को निगल रहे थे । मृत्यु का सर्वनाशी भयावह ताण्डव था यह एक प्रकार से । परन्तु महाजनक काफ़ी साहस के साथ सात दिनों तक दिन और रात समुद्र में ध्वस्त जहाज का कोई तख्ता धामे तैरता रहा । कथाकार कहता है कि बंग समुद्र की अधिष्ठात्री देवी मणिमेखला, उस समय सात दिन के अवकाश पर देवताओं के एक समारोह में शामिल होने कहीं गई हुई थी । सात दिन के बाद लौटी, तो अपने सागर में युवक महाजनक को इस प्रकार साहस के साथ तैरते देख वह विस्मय विमुग्ध हो गई । अपने दिव्य अलंकृत रूप में आकाश में स्थिर होकर देवी ने राजकुमार को आवाज दी—“यह कौन है रे, जो समुद्र के बीच, जहाँ तट का कुछ भी पता नहीं है, तैरने के नाम पर व्यर्थ ही हाथ-पैर मार रहा है । किस आशा में, किसके भरोसे, यह अर्थहीन उपक्रम किया जा रहा है? ”

—“ देवी, मैं जानता हूँ कि लोक में जब तक बन पड़े व्यक्ति को पुरुषार्थ एवं उद्यम करना ही चाहिए । इसी संकल्प से इस अथाह समुद्र के बीच, तीर न देखता हुआ भी, मैं उद्यम कर रहा हूँ ” — महाजनक ने उत्तर दिया ।

—“ इस अगाध अथाह सागर में, जिसका तीर भी कहीं नहीं दीख रहा है, तेरा यह पुरुषार्थ निरर्थक है । स्पष्ट है, तू तट पर पहुँचे बिना ही बीच में ही कहीं मर जाएगा ।”

—“ देवि, क्यों तू ऐसा कहती है ? पुरुषार्थ करता हुआ यदि मैं मर भी जाऊँगा तो कोई बात नहीं । कम से कम कायर कहे जाने की लोक-निन्दा से तो बचूँगा । जो व्यक्ति एक वीर पुरुष की तरह अन्तिम क्षण तक पुरुषकार-पराक्रम करता रहता है, वह पारिवारिक जनों एवं पूर्वज पितरों के ऋण से मुक्त हो जाता है, और उसे यह तो पछतावा नहीं होगा कि मैंने समय पर कोई प्रयत्न नहीं किया ।”

—“ किन्तु जो काम पार नहीं लग सकता, जिसका कोई परिणाम एवं फल नहीं दीखता, उसके लिए श्रम करने से क्या लाभ ? जब मृत्यु का आना निश्चित ही है, तब इस व्यर्थ के हाथपैर मारने का कुछ मतलब ?”

—“ जो प्रारंभ में ही यह जानकर कि मैं पार न पा सकूंगा, उद्यम नहीं करता, यदि उसकी हानि होती है, तो देवि, उसमें उसी के दुर्बल प्राणों का दोष है । साहसी मनुष्य अपने निर्धारित संकल्प के अनुसार लोक में अपने कार्य की योजना बनाते हैं और तदनुकूल यत्न करते हैं । सफलता मिलेगी या नहीं, इस विकल्प में उलझे रहना उनका काम नहीं है। कर्म का फल निश्चित है, देवि! क्या तू यह नहीं देख रही है कि मेरे सब साथी डूब गए हैं, और मैं अब भी तैर रहा हूँ, तुझे अपने पास देख रहा हूँ । इसलिए मैं उद्यम करूँगा ही, जब तक मुझ में शक्ति है, जब तक मुझ में बल है, समुद्र के पार जाने के हेतु पुरुषकार-पुरुषार्थ करता ही रहूँगा ।” महाजनक ने तैरने के दृढ़ संकल्प के साथ देवी मणिमेखला को उत्तर दिया । देवी ने परीक्षा लेने में कसर नहीं छोड़ी । राजकुमार के साहस को तोड़ने की काफ़ी चेष्टा की परन्तु, राजकुमार का संकल्प अक्षुण्ण रहा । कथाकार कहता है, राजकुमार की दृढ़ आस्था से पूर्ण जीवन स्पर्शी गाथाओं को सुनते-सुनते अन्ततः देवी अत्यन्त प्रसन्न हो गई । उसने मातृवत् अपनी बाहें फैला दी और महाजनक को गोद में उठाकर सकुशल मियिला (विदेह) पहुँचा दिया ।

महाजनक मृत्यु के अतल गर्त में जाने की स्थिति में है । समुद्र को पार करना-तट पर पहुँचना आसान नहीं है, एक तरह असंभव ही है । और इधर देवी आकाश में उसके सम्मुख है और कोई होता, तो रक्षा के लिए देवी के सामने गिड़गिड़ाता, प्राणों की भिक्षा माँगता, रोता-चीखता, चिल्लाता, हाय-हाय करता । परन्तु साहस का धनी राजकुमार महाजनक ऐसा कुछ नहीं करता है । समुद्र को तैरने के प्रयत्न में ही लगा है । देवी बार-बार उसे हतोत्साहित करती है, परन्तु वह साहस के साथ हर बार अपने कर्म करते रहने के दृढ़ संकल्प को ही दुहराता है । अन्तिम परिणाम क्या होगा ? इसकी उसे कोई चिन्ता नहीं है । उसके समक्ष कर्म का वर्तमान है, फल का भविष्य अभी उसकी दृष्टि में नहीं है । फल की अधिक चिन्ता मनुष्य को कर्म की साधना में शिथिल कर देती है । कर्मयोगी श्रीकृष्ण का कर्मयोग से सम्बन्धित सन्देश महाजनक में संपूर्ण रूपसे प्रकाशमान है । सन्देश है—‘ कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।’ मानव, तेरा एकमात्र कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं।

फल में अधिकार नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्म का फल होता नहीं है या वह मिलता नहीं है। कर्म का तदनु रूप फल है, और वह मिलता भी है। कोई भी कर्म हो, फल के रूप में उसकी निष्पत्ति का ध्येय तो रखा ही जाएगा। विना ध्येय एवं लक्ष्य के कर्म होगा ही कैसे? साधारण-से-साधारण प्राणी की प्रवृत्ति में भी कोई-न-कोई बाह्य या आन्तरिक प्रयोजन होता ही है। “प्रयोजनमनुद्दिश्य मूर्खोऽपि न प्रवर्तते।” मूर्ख-से-मूर्ख व्यक्ति भी विना किसी प्रयोजन को लक्ष्य में लिए प्रवृत्ति नहीं करता है। अतः यहाँ फल के अधिकार से इन्कार करने का एक ही अर्थ है कि कार्यारंभ से पूर्व कार्य के सम्बन्ध में खूब अच्छी तरह लेखा-जोखा कर लो। अपने तन को मन को और बुद्धि को ठीक तरह जाँच लो, परख लो। अपनी क्षमता को ठीक तरह जाँचे विना यों ही आँख मूँदकर कर्म-सागर में छलौंग लगा देना, उचित नहीं है। परन्तु अच्छी तरह सोच-विचारकर जब एकबार छलांग लगा ली, तो लगा ली। बस, अब बीच में क्या सोचना विचारना? बाधाओं से घबड़ाकर वापस लौटना कायरता है। “आरब्धस्यान्तगमनम्” प्रारब्ध कार्य को अन्त तक पहुँचाना ही कर्म-योग है।

महाजनक कर्मयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है। भुजाओं के बल पर अगाध सागर को तैर कर पार करने का उसका समुद्यम मानवीय साहस का ज्वलन्त आदर्श है। खबरदार, कुछ भी हो रहा हो, होने वाला हो, कितनी ही प्रतिकूलताएँ हों, साहस को तोड़ देने वाले दो-चार क्या, हजारों हों, तुम्हारा साहस बरकरार रहना चाहिए। साहस ही उद्योग का-पुरुषार्थ का प्राण है। और, उद्योग ही अन्ततः सफलता का द्वार है। साहसी, उद्योगी पुरुष नहीं, पुरुषसिंह है। इसी पुरुषसिंह के श्री-चरणों में सफलता की लक्ष्मी एक-न-एक दिन स्वयं आकर उपस्थित हो जाती है। अतः पुरुषार्थी मानव के लिए यही एक जीवन सूत्र है—

“ उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः । ”

मानव की वाणी अमृत भी, विष भी

मानव की वाणी अमृतवर्षी भी है, और विषवर्षी भी । एक युग था, जब वह अमृतवर्षी थी । जिनेन्द्र महावीर, तथागत बुद्ध एवं अन्य अमृत-कल्प व्यास आदि ऋषि-महर्षि, मुनि-सन्तों की वाणी से वह अमृत बरसा था, जिससे जीवन मिला था, अनेक मृतकल्प, मूर्च्छित आत्माओं को । जो शव की तरह पड़े सड़ रहे थे, गल रहे थे, वे उस अमृतवाणी का स्पर्श पाकर शिव हो गए थे, और उनके द्वारा वे लोक-मंगल के कार्य हुए, आज भी इतिहास उनका साक्षी है ।

दुर्भाग्य है, आज मानव की वाणी अधिकांश में विष की ही बरसा कर रही है । परस्पर में जाति, समाज, राष्ट्र, दल आदि के नाम पर, जो एक-दूसरे पर दुर्वचनों की वर्षा हो रही है, वह विष नहीं तो क्या है ? प्रकृति के विष की मारक-शक्ति की तो एक सीमा भी है । परन्तु, इस अनर्गल दुर्वचनों के विष की तो कोई सीमा ही नहीं है । यह तो सामूहिक रूप से मानव की मनो-मृत्यु का यमदूत है ।

आज विश्व में सब ओर जो अशान्ति है, कलह है, विग्रह है, मार-काट है, लूट-मार है, उसका मूल मनुष्य की विषवर्षी वाणी में ही है । जाति, समाज, दल और राष्ट्र नेता के नाम से पहचाने जाने वाले मानव तनघारी विषधर प्राणियों के द्वारा आये दिन वक्तव्यों के रूप में जो विष उगला जा रहा है, उससे मानवता का वातावरण इतना विषाक्त हो गया है कि स्वर्गोपम भूमण्डल नरक बन गया है । अभी नहीं लगता कि ये नेता नामधारी मृत्युदूत विष के स्थान में अमृत बरसाएँगे । इनकी वाणी से (जीवन)दाता अमृत बरसेगा । फलतः शक्ति, स्नेह की सुखद-शीतल हवाएँ प्रवाहित होंगी । अतः इनसे अपेक्षा है, अपेक्षा ही नहीं, आग्रह है, कि ये मौनव्रत की साधना अपना लें । अधिक नहीं, तो कृपया एक-दो वर्ष का भी मौन ले लें, कुछ भी न बोलें, तो मानव-जाति ठीक तरह

सुख की सांस ले सके । इनके बोलने की अपेक्षा न बोलने में ही धरती माता का कल्याण है, जनता का मंगल है और इस जन-मंगल में ही प्राणी मात्र का योग-क्षेम है, कुशल-मंगल है ।

नेता कहे जाने वाले महानुभावों से ही मात्र यह निवेदन नहीं है । यह निवेदन धर्म-परम्पराओं के गुरु कहे जाने वाले पूज्य चरणों से भी है । धर्म गुरुओं की वाणी कभी अमृतवर्षी थी, पर अब तो दुर्भाग्य से वह भी विषवर्षी ही हो गई है । अपने मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि के लिए जिसे वे जगतारणहार धर्म कहते हैं, इतना विष वर्षण करते हैं अपने पड़ोसी धर्म बन्धुओं पर कि कुछ पूछो नहीं । अपने को ही एक मात्र धर्मी और दूसरों को अधर्मी-पाखण्डी होने की सार्वजनिक घोषणाएँ कर रहे हैं। और इससे फैल रहा है मानव-समाज में कलह और विग्रह । यही नहीं, हत्याएँ लूटमार, बलात्कार आदि बुरा कहे जाने वाला सब-कुछ अच्छा और भला हो गया है । धर्म और धर्मरक्षा के नाम पर हत्यारे अमरशहीद के रूप में श्रद्धांजलियाँ पा रहे हैं, किनसे ? देवतात्मा कहे जाने वाले गुरुओं से, सन्तों से । आज के इन सन्तों के अखबारों में यदि कभी वक्तव्य पढ़ें, कभी क्यों, रोज ही पढ़ते हैं, तो लगता है ये कौन बोल रहे हैं, गुरुजी, सन्तजी या कोई और ? सन्त कहाँ हैं? कोई और ही हैं, जिनके लिए महान सन्त भर्तृहरिजी ने कभी कहा था—‘ते के न जानीमहे । उनका नाम भी क्या लें, नाम लेने से भी आत्मा को पाप लगता है ।’ कथा हि खलु पापानामलमश्रेयते—पापियों की तो कथा ही अश्रेयस-अमंगलकारी है ।

अतः मैं धर्मगुरु के अमृतवर्षी महत्तर पद पर प्रतिष्ठित संतों से भी विनम्र निवेदन करूँगा कि कृपया आप भी मौनव्रत धारण कर लें । आप तो मौन साधना के जाने-माने साधक हैं, उपदेशक हैं । आपको तो मौन के लिए कुछ भी कठिनाई नहीं होगी । यह मौन आपको धर्म के नाम पर असत्य, दंभ, अन्ध विश्वास, अनर्गल किंवदन्तियों एवं भ्रांतियों से बचाएगा। और बचाएगा धर्मरक्षा के नाम पर होने वाले विग्रहों से, एक-दूसरे के अपमानों से तथा अमानवीय असभ्य आचरणों से । कृपया आप भी दो-चार वर्षों के लिए ही मौन हो जाइए, ताकि मानव-जाति में परस्पर सौहार्द एवं स्नेहिल बन्धुता का मंगलमय वातावरण स्थापित हो सके ।

मार्च-अप्रैल १९८४

(२९८)

धर्म और पंथ की विभेदक रेखा

धर्म क्या है ? यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जो प्राचीन युग में भी था और आज भी ज्यों-का-त्यों खड़ा है। इतिहास एवं धर्म-ग्रन्थ साक्षी हैं कि प्राचीन युग के मनीषियों ने, ऋषि-मुनियों ने, धर्मगुरुओं ने इस प्रश्न का समाधान दिया और आज भी अनेक धर्मगुरु भिन्न-भिन्न रूप से समाधान देने का प्रयत्न कर रहे हैं। फिर भी यह प्रश्न बार-बार पूछा जा रहा है।

कारण यह है कि सत्य को यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। इसलिए सही समाधान नहीं हो रहा है और जन-जन के मन-मस्तिष्क में प्रश्न चक्कर काट रहा है। यह तो आप सब जानते हैं कि संसार में बाहर के नियम न तो कभी एक से रहे, न एक समान है और न एक जैसे रह ही सकते हैं। खाने-पीने, रहने आदि के नियम, उद्योग-धन्धों के नियम, विवाह संस्कार आदि के नियम, धार्मिक उपासनाओं के नियम एवं क्रिया काण्ड सब के सब एक से नहीं हैं। अलग अलग देशों में और अलग-अलग जातियों में अलग-अलग नियम हैं और देश काल के अनुरूप उनमें परिवर्तन भी होता रहता है। ऐसी स्थिति में जब हम इन नियमों को जीवन व्यवहार के बाह्य विधि-विधानों को धर्म का रूप दे देते हैं, धर्म का चोगा पहना देते हैं, तब धर्म का प्रश्न बड़ा पेचीदा बन जाता है। साधारण जनता शीघ्र जानना चाहती है कि हम क्रिया-काण्ड के किस स्वरूप को ग्रहण करें, कौन सी पद्धति अपनाएँ ? कौन-सी उपासना पद्धति धर्म है ?

सत्य यह है, धर्म आत्मा का स्वभाव है। वह अन्तर में है, बाहर में नहीं। बाहर के विधि-निषेध, जिस परम्परा में देशकाल एवं परिस्थिति के अनुसार जिस रूप में हैं, वे सब जीवन व्यवहार के लिए हैं। उनमें धर्म नहीं है। धर्म का वास्तविक रूप कुछ और है। और हमने समझ कुछ और लिया है। धर्म को जिस रूप में ग्रहण करना चाहिए, हमने उसे तद्रूप में ग्रहण ही नहीं

किया और जिस बाह्य आचार-व्यवहार एवं वर्तन में धर्म नहीं है उसे धर्म के रूप में स्वीकृति दे दी और स्वीकार कर लिया । यही से धर्म के संबंध में अज्ञान का प्रारम्भ होता है ।

धर्म, पंथ और परम्परा :

धर्म और पंथ दोनों एक नहीं हैं । धर्म का स्वरूप पंथ के रूप से भिन्न है । पंथ बाहर के नियमों के आधार पर बनते-बिगड़ते रहे हैं । देश-काल के अनुसार पुरानी परम्पराएँ टूटती हैं, नई परम्पराएँ स्थापित होती हैं और नए पंथों का जन्म भी होता रहता है । हजारों परम्पराएँ अस्तित्व में आईं, पनपीं और आगे बढ़ीं । उनमें से कुछ समाप्त हो गईं, मिट गईं और कुछ मौजूद भी हैं । हजारों नई परम्पराएँ अंकुरित हो रही हैं, वे भी पल्लवित, पुष्पित, फलित होंगी, मिटेगी और फिर नई परम्पराओं का जन्म होगा । पंथ एवं परम्पराओं का यह प्रवाह है, जिसका रूप निरन्तर बदलता रहता है, परन्तु प्रवाह गतिशील रहता है, परन्तु धर्म इनसे बहुत ऊपर है । धर्म, पंथ, सम्प्रदाय और परम्पराओं के घेरे में सीमित नहीं है । वह पंथों की चार दीवारों में बन्द नहीं है । सम्प्रदायें जब-जब चलीं, आगे बढ़ीं, वे धर्म के नाम पर ही चलीं, फली-फूलीं । साम्प्रदायिक परम्पराओं में धर्म रह सकता है । परम्पराएँ धर्म के साधन बन सकती हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु यह सत्य है कि परम्परा ही धर्म है, यह कथन गलत है । धर्म परम्पराओं से ऊपर है । परम्पराएँ सड़-गलकर नष्ट हो गईं, समाप्त हो गईं, तब भी धर्म स्थायी रूप से बना रहा ।

इस तरह धर्म के दो रूप हमारे सामने हैं— एक धर्म और दूसरा सम्प्रदाय, पंथ, मान्यता या परम्परा । सम्प्रदाय, पंथ या परम्परा में जब तक धर्म-विवेक-दृष्टि, वीतराग-भाव, निर्भय एवं निर्द्वन्द्व वृत्ति बनी रहती है, तब तक उस परम्परा से स्व-पर कल्याण होता है, जीवन में जागृति बनी रहती है । इस रूप में यदि कोई परम्परा चल रही है भले ही वह पुरानी हो या नई, तो वह जीवन विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है । किन्तु, जब उसमें से धर्म दूर हो जाता है, वह रूढ़ परम्परा मात्र क्रियाकाण्ड रह जाती है, तब वह धर्म नहीं रहती । उस निष्प्राण परम्परा को समाप्त कर देना हमारा आदर्श है । हम हजारों-लाखों वर्षों से ऐसा ही करते आए हैं । धर्महीन, वीतरागभाव में बाधक जड़ परम्पराओं को खत्म करते आये हैं और नवीन परम्पराओं को जन्म देते आए हैं ।

हमारे नाखूनों के दो विभाग हैं—जीवित नाखून और मृत नाखून । नाखून का जो भाग उँगलियों से सटा हुआ है, जिसमें रक्त का संचार हो रहा है, वह जिंदा नाखून है । उस जीवित नाखून को काटेंगे, तो दर्द होगा। यदि अहंकारवश उसे काट देते हैं, तो खून की धारा बह निकलेगी, वह आपको पीड़ा देगा और आपके शरीर का एक महत्त्वपूर्ण अंग का एक भाग कटकर अलग हो जायेगा ।

नाखून का निर्जीव भाग, जो उँगलियों से आगे बढ़ गया है, उसे काट देंगे, तो कुछ भी पीड़ा नहीं होगी । क्योंकि उसमें रक्त का संचार नहीं हो रहा है । यदि उसे यह समझकर नहीं काटेंगे कि यह हमारे शरीर का अंग है, इसे काटें, तो कैसे काटें ? नहीं काटने पर वह आपके शरीर को कष्ट पहुँचायेगा । शरीर पर जहाँ कहीं लग जायेगा, वहाँ लहू-लुहान करेगा । उसमें मैल भर जायेगा और वह मैल भोजन के साथ पेट में जाकर भयंकर बीमारियों को जन्म देगा ।

अभिप्राय यह है कि जो नाखून जीवित है कि प्राणवान है, उसे नहीं काटना चाहिए । वह उंगली की रक्षा करता है, उसे बलिष्ठ बनाता है । इस रूप में वह जीवन के लिए उपयोगी है, परन्तु नाखून का जो भाग निष्प्राण हो गया है, उसे काट देना ही हितकर है । जीवित नाखून को काटना पीड़ा को भोगना है, तो मृत नाखून को नहीं काटना कष्टों को भुगतना है । अतः म्रियमाण नाखून को काट फेंकने में ही कल्याण है ।

यही बात धर्म पंथ एवं परम्पराओं के सम्बन्ध में है । परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों के नाखून को लेकर बड़े संघर्ष हो रहे हैं । एक ओर यह आवाज उठ रही है — “ पुराने जमाने से चली आ रही, ये परम्पराएँ, ये रीति-रिवाज, ये धार्मिक क्रिया-काण्ड हमारे काम के नहीं रहे, इन्हें जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए । इस धर्म ने जनता के सिर फुड़वाए हैं, परस्पर संघर्ष करवाए हैं, अतः धर्म को ही नष्ट कर दो । धर्म से कोई कल्याण होने वाला नहीं है ।”

मेरे विचार से ऐसे लोगों ने पंथों, सम्प्रदायों एवं रूढ़ परम्पराओं को ही धर्म समझ लिया है । उन्होंने धर्म गुरुओं के पद पर प्रतिष्ठित कुछ व्यक्तियों के गलत जीवन का अध्ययन कर लिया है । इसलिए वे धर्म (जिन्दा नाखून) को

भी काट फेंकने के लिए तैयार हो गये हैं। परन्तु इससे न व्यक्ति का भला होगा और न समाज एवं मानव-जाति का ही कल्याण होगा ।

दूसरी ओर पुराने विचारों के वे लोग हैं, जो सिर्फ परम्परावादी ही नहीं, दुराग्रह-हठाग्रह से ग्रस्त हैं । उनका आग्रह है, जो नाखून निष्प्राण हो गया है, निरुपयोगी हो गया है, सड़ गल गया है, जब-तब खून बहाता है, शरीर को पीड़ा देता है, फिर भी उसे मत काटो । वह कभी हमारे शरीर का अंग रहा है। वह हमारा धर्म है, परम्परा है, उसे रहने दो । इस तरह दोनों ओर अति हो रही है ।

परन्तु जिस रूपमें यथास्थितिवादी सोच रहे हैं, उस रूप में जैन-धर्म एवं दर्शन ने नहीं सोचा । महाश्रमण महावीर एवं प्रबुद्ध मनीषी आचार्यों का कथन है—धर्म, सम्प्रदाय एवं पंथों से बहुत ऊपर है । यह किसी बाह्य क्रिया-काण्ड में आबद्ध नहीं है । जो परम्परा, मान्यता या क्रिया-काण्ड लम्बे काल से चला आ रहा है फिर भी जीवित है, प्राणवान् है, जीवन-विकास के लिए उपयोगी है, जिससे स्व और पर का तथा समाज एवं मानव-जाति का हित हो रहा है, उसे नहीं काटना है, उसे नष्ट नहीं करना है । उसे तो स्वीकार करना है ।

हाँ, जो परम्पराएँ सड़ गई हैं, जीवन-विकास के पथ में बाधक हैं, जिनसे साधक एवं समाज का कोई हित नहीं हो रहा है, उन निष्प्राण रूढ़ियों को, निर्जीव नाखून की तरह काटकर फेंक देना ही श्रेयस्कर है । तात्पर्य यह है कि जिस परम्परामें से धर्म निकल गया है, जो समाज को दुःख-पीड़ा दे रही है, उसे काट फेंकना परम आवश्यक है । जैन धर्म जीवन की गति-प्रगति को रोकता नहीं है और न गलत ढंग से किसी परम्परा को काट फेंकने की बात कहता है । भगवान् महावीर एवं प्रबुद्ध विचारकों का एक ही आदेश एकान्त आग्रह मत रखो। विवेक एवं विचार पूर्वक गति करो । अपनी अन्तर्-प्रज्ञा से, आत्म-चिन्तन से, विवेक बुद्धि से धर्म की, परम्पराओं की समीक्षा करनी चाहिए, उनका अन्वेषण करना चाहिए — “ पण्णा समिक्खए धम्मं ”

सम्यक् रूप से विश्लेषण करने पर ही ज्ञात होगा—धर्म का स्वरूप क्या है ? और पंथ, सम्प्रदाय एवं परम्पराएँ क्या हैं ? कुछ लोगों ने पंथ, सम्प्रदाय

एवं पंथों की चली आ रही परम्पराओं-मान्यताओं को ही धर्म समझ लिया है । इसी कारण आज बहुत बड़ी गड़बड़ फैली हुई है । पंथ में धर्म रह सकता है, किन्तु धर्म में पंथ नहीं है । किसी भी परम्परा में धर्म हो सकता है, परन्तु वह परम्परा, धर्म पर सवार नहीं हो सकती । यही कारण है कि वर्तमान युग तक जैन-परम्परा में भी समय-समय पर देश-कालानुसार अनेक परिवर्तन हुए हैं और हो भी रहे हैं । धर्म शाश्वत सत्य है, वह त्रि-काल अबाधित है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता । लेकिन परम्पराओं में, मान्यताओं में, क्रिया-काण्डों में परिवर्तन होते आये हैं और होते रहेंगे । परम्पराएँ तीर्थकरों के युग में परिवर्तित हुई हैं और उत्तरवर्ती आचार्यों के युग में भी बदलती रही हैं ।

जिस परम्परा एवं क्रिया द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह भाव की वृद्धि हो रही हो, राग-द्वेष एवं कषायभाव घट रहा हो, मैत्री भाव बढ़ रहा हो, वासना एवं अन्याय अत्याचार कम होता हो, वह परम्परा धर्म है। और जिससे अहिंसा, सत्यादि की हानि होती हो, अन्याय-अत्याचार बढ़ता हो, राग-द्वेष कषायभाव आदि में वृद्धि होती हो, वह अधर्म है । अस्तु, जिस क्रिया के द्वारा जीवन ऊँचा उठ रहा है, मैत्री एवं वीतराग-भाव की ओर बढ़ रहा है, वह धर्म है। और जिस क्रिया से जीवन गिरता है, जीवन में राग-द्वेष बढ़ता है, वह अधर्म है ।

इस प्रकार प्रज्ञा से समीक्षा करके, यथार्थ दृष्टि से विचार करके विवेक पूर्वक गति करना धर्म है। और, यह धर्म स्व के लिए भी कल्याणप्रद है, मंगलरूप है और आनन्द-प्रदाता है और जन-जन के लिए भी कल्याण रूप है ।

मई १९८४

अहिंसा के पक्षधरों का परीक्षा-काल

आज मानवसमाज विचित्र स्थिति में से गुजर रहा है । मानव-जाति के जनमंगल रूप मन, वाणी और कर्म में एक तरह का ठहराव-सा आ गया है और इधर-उधर कुछ गति है भी तो वह विपरीत दिशा में है । वह अमंगल अभद्रता की कँटीली, जहरीली झाड़ियों की ओर अग्रसर है ! यह गति निर्माण की नहीं, ध्वंस की है । मैं देखता हूँ, आये दिन जिस किसी भी व्यक्ति के मुख से, जो सुना जाता है, दैनिक समाचार पत्रों में जो पढ़ा जाता है, अनेक बार साक्षात् आँखों से भी जो देखा जाता है, वह अधिकतर इतना क्रूर एवं घृणित होता है कि मानवता का लज्जा से मस्तक अधोमुख हो जाता है । शंका होती है कि यह कर्म, कर्म क्या, अपकर्म, सचमुच में मानव ने किया है या किसी नर देहधारी पिशाच ने-राक्षस ने किया है । मानव के हाथों से तो ऐसा हो ही नहीं सकता । मानव के तन में, तन में क्या, मन में जो क्रूर हत्यारा राक्षस छुपा बैठा है, वही यह सब कुकर्म कर रहा है, करवा रहा है और करने के लिए प्रोत्साहन एवं बढ़ावा दे रहा है ।

प्रश्न है, ऐसा क्यों है, क्यों हो रहा है ? उत्तर अनेक हो सकते हैं । एक कार्य के मूल में अनेक छोटे-बड़े कारण हो सकते हैं, परन्तु प्रश्न-पर-प्रश्न है, मुख्य हेतु का । मानव-जीवन में सब ओर दावानल की तरह फैलते अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, आदि का मुख्य हेतु क्या है ? निर्दोष स्त्री-पुरुषों, युवकों, बच्चों और किनारे पर पहुँचे निःसहाय बूढ़ों तक की इन हत्याओं के विषैले मूल में आखिर कौन है ? किस दुष्ट दुर्जन की कर्मण्यता है, और किस शिष्ट सज्जन की अकर्मण्यता है यह ?

कितना भयावह आतंकवाद व्याप्त है । आज, जब भी कुछ सुना या पढ़ा जाता है, तो रोम-रोम सिहर उठता है । आज मानव नामधारी प्राणी

कहीं भी सुरक्षित नहीं है । आफिस हो, बाजार हो, घर हो या धर्मस्थान हो, कहीं भी, कभी भी, कोई भी गोलियों का अचानक शिकार हो सकता है । बस में यात्रा कर रहे निर्दोष यात्री गोलियों से भून दिए जाते हैं, छुरों से क्षत-विक्षत कर दिये जाते हैं, धर्म-स्थानों में, पूजागृहों में अपने-अपने आराध्य देव की जो मूलतः स्वरूप की दृष्टि से सबका एक ही है पूजा, प्रार्थना एवं भक्ति में लीन स्त्री-पुरुषों पर अचानक बम एवं बन्दूक की गोलियों से हमला होता है और एक मनहूस हृदयप्रकंपक हाहाकार मच जाता है, आँसुओं की धाराएँ बह जाती हैं । अनेक व्यक्ति तत्काल मृत्यु के मुख में पहुँच जाते हैं और अनेक बुरी तरह घायल एवं मरणासन्न स्थिति में चीखने-चिल्लाने लगते हैं । कभी-कभी तो धार्मिक शोभा-यात्राओं एवं समारोहों पर भी यह कहर टूट पड़ता है । आतंक के यह दुर्दृश्य कभी सामूहिक आक्रमणों के रूप में देखे जाते हैं, कभी व्यक्तिगत, मारो और भाग जाओ के रूप में घटित होते हैं । आज सामूहिक आक्रमणों की अपेक्षा व्यक्तिगत आतंकवाद अधिक भयंकर हो गया है । इसके प्रतिकार का कोई कारगर उपाय ही अभी तक शासन के ध्यान में नहीं आ रहा है । अभी-अभी चण्डीगढ़ में डॉ. तिवारी और दिल्ली में हरवंशसिंह मनचन्दा आदि इसी व्यक्तिगत आतंकवाद के शिकार हुए हैं । एक-दो तिवारी और मनचन्दा क्या, सैकड़ों निर्दोष तिवारी और मनचन्दा, इस राक्षसी क्रूरता की बलिवेदी पर निर्ममता के साथ चढ़ा दिए गए हैं । अनेक बुद्धिजीवी एवं समाजसेवी तो इसी रूप में मारे गए हैं । क्या दोष था इनका ? यही दोष कि वे एक भिन्न धर्म-परंपरा के व्यक्ति थे, या भिन्न विचार धारा के। आज कल 'हिटलिस्ट' की काफी चर्चा है, लोगों की जबान पर । यह 'हिटलिस्ट' क्या बला है? सचमुच ही बला है । अपने विपक्ष के या भिन्न विचार के प्रमुख लोगों की हत्या करने की एक काली सूची । और यह सूची तैयार होती है तथाकथित देवता स्वरूप संतों के दरबार में, सन्तों के परामर्श पर। कितना भीषण पतन है, भारतीय आदर्शों के पवित्र नामों का । सन्तों का तो कभी आदर्श था, अपने पर प्रहार करने वाले दुष्टों को भी प्रसन्न मुद्रा में अंतरहृदय से क्षमा कर देना । काँटों के बदले फूल अर्पण करना, और आज क्या है, इन हिटलिस्टों के पीछे ? जातीयता का, प्रान्तीयता का एवं अन्ध साम्प्रदायिकता का गुराँदा बेनकाब पागल अहंकार ही अधिकांशतः इस खुराफात की जड़ है ।

हाँ, तो मानवताशून्य अत्याचार के इस भयानक जंगल में वही पहले का प्रश्न फिर उभर रहा है कि प्रस्तुत दुःस्थिति का मुख्य हेतु क्या है? मेरे

विचार में इसका उत्तर है, मानवजाति का नेतृत्वहीन हो जाना । आज परिवार, समाज, राष्ट्र यहाँ तक कि धार्मिक परंपराएँ भी नेतृत्वहीन हैं । वैसे तो नेताओं की भरमार है, एक नेता खोजो, तो हजार नेता मिल जाएँगे । कदम-कदम पर नेता बिखरे पड़े हैं । परन्तु, प्रश्न है सही नेता और सही नेतृत्व का । सही नेता और सही नेतृत्व के अभाव के फल स्वरूप ही आज का युवा वर्ग दिशाहीन है। युवावस्था ही है, जो समाज-राष्ट्र का निर्माण कर सकती है, यदि उसे वैचारिक दृष्टि से सही नेतृत्व मिले तो । सही नेतृत्व मिला था अर्जुन को, जिसे विराट पुरुष श्रीकृष्ण ने समयोचित कर्तव्य का सही बोध कराया था । सही नेतृत्व मिला था, अब से अढ़ाई वर्ष पूर्व श्रमण भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध का, जिन्होंने हिंसा प्रधान यज्ञ एवं क्रूर जातिवाद आदि के भ्रम में भूली-भटकी तत्कालीन मानवजाति को अहिंसा, करुणा, मैत्री, समानता तथा बन्धुता आदि का विश्वमंगल अमृत सन्देश दिया था । तत्पश्चात् भी जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि धर्म-परंपराओं के अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने युग में विनष्ट होती मानव-जाति की रक्षा की है । सही नेतृत्व हो तो सब-कुछ हो सकता है, असंभव जैसा कुछ नहीं है ।

परन्तु, खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आज ऐसा सही नेतृत्व कहाँ है ? आज समाज के नेता कहे जाने वाले पीठासीन लोग अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति में बुरी तरह लिप्त हैं । उन्हें कैसे भी हो, न्याय या अन्याय से संपत्ति एवं सत्ता मिलनी चाहिए और उसके सहारे पद-प्रतिष्ठा के सिंहासन मिलने ही चाहिए । उन्हें नाम से मतलब है, काम से नहीं । समाज जाएँ भाड़ में, उनके हाथ की पाँचों ही अंगुलियाँ धी में डूबी हुई रहनी चाहिए । इनमें से अधिकतर लोग ऐसे भी हैं, जो अपनी किसी खास परम्परा के धर्म-गुरुओं के सहारे से भी पद और प्रतिष्ठा की चमकती सीढियों पर या तो चढ़ गए हैं, या भला-बुरा जैसा भी करना होता है, चढ़ने का जोड़-तोड़ लगा रहे हैं ।

अब रहे राष्ट्र नेता । उनकी भी जो स्थिति है, सब के सामने है । वे भी सिंहासनों के मोह में राजनीति के नाम पर कूट-नीति के कुचक्रों में उलझे हुए हैं । पक्ष के हों या विपक्ष के, अधिकतर महानुभाव ऐसे ही हैं, जो निन्दित जातीयता, प्रान्तीयता एवं सांप्रदायिकता के आधार पर और शेष में पैसे के बल पर जनतन्त्र के पवित्र नाम पर मतपत्रों का खेल खेल रहे हैं । कभी-कभी तो इस जनतन्त्रीय चुनाव के नाम पर समाज एवं राष्ट्र में जातीय एवं साम्प्रदायिक

घृणा की ऐसी आग लगा देते हैं, जो चिरकाल तक जलती रहती है, और उसमें महान् राष्ट्र के महान् आदर्श भस्मीभूत होते रहते हैं ।

जाने दीजिए इन समाज और राष्ट्र के नेताओं को । बेचारे संसारी प्राणी हैं । अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठ नहीं सकते हैं, अतः करें भी तो क्या करें ? मुझे सबसे अधिक दर्दभरा विषाद तो धर्मगुरुओं के नेतृत्व पर है । प्रत्येक धर्म-परंपरा में अनेक सुप्रसिद्ध नामी आचार्य हैं, आचार्य सम्राट हैं, अन्य भी अनेक पदवीधर हैं । ये धर्म गुरु ही हैं, जिन्होंने समय-समय पर समाज और राष्ट्र की मानव-प्रजा को कर्तव्य का सही बोध दिया है, जीवन जीने की सही दिशा दी है । परन्तु, आज क्या हो रहा है ? आज तो प्रायः धर्म-शास्ता सब ओर से आँख मूँदकर मात्र अतीत के पुराने गान गाने में ही लगे हैं । न इन्हें समाज का वर्तमान दिखाई देता है और न भविष्य ! आज क्या है और कल क्या होनेवाला है, कुछ पता है इन्हें ? बस, ये केवल अतीतदर्शी हैं । अतीत के भी केवल सड़े-गले मृत शरीर को ही देखते हैं, उसकी आत्मा को नहीं । आज के ये धर्मगुरु जिधर भी जाते हैं, अपनी मान्य सांप्रदायिकता का विष ही फैलाते हैं, जिसके दुष्परिणाम समाज और राष्ट्र को बुरी तरह भोगने पड़ रहे हैं । दो चार उग्र तथा कठोर कहे जाने वाले रूढ़ नियमों के ऊपर समाज को भुलावे में डालते हैं और अपने स्वार्थ-पूर्ति का दुर्गम-मार्ग प्रशस्त करते हैं । इनके पास शास्त्रों के शब्द हैं, मर्म नहीं । बहुतों के पास तो अच्छी तरह शब्द भी नहीं हैं । इनमें से अधिकांश धन की न सही, धनवालों की गुलामी अवश्य करते हैं । ये महानुभाव विचित्र हैं । कभी प्रत्यक्ष, तो कभी परोक्ष, एक-दूसरे पक्ष या व्यक्ति की निन्दा और आलोचनाएँ करके समाज के अमृतमय मधुर वातावरण को विषाक्त एवं कटु बनाने में ही संलग्न हैं । परस्पर के सद्भाव तथा सहयोग के माहौल को इतना दूषित कर दिया है कि प्रबुद्ध वर्ग तो अधिकांशतः धर्म से विमुख ही होता जा रहा है ।

मैं देखता हूँ, मैं क्या, सभी देख रहे हैं, आज पंजाब की क्या स्थिति है ? हिंसा, घृणा, वैर-विद्वेष की आग में जल रहा है भारत का यह महान अंग । और ये धर्मगुरु, ये अहिंसा, प्रेम और विश्व मैत्री के दावेदार अन्ध और अपंग की तरह एक कोने में चुपचाप पड़े हैं । स्वर्ग, नरक और मोक्ष की बहुत सूक्ष्म झीनीझीनी बातें हो रही हैं, परन्तु जिसके लिए ये बातें हो रही हैं, उस मानव की ओर कोई देख नहीं रहा है । इन्हें जितनी चिन्ता एकेन्द्रिय स्थावर

जीवों की है, कीड़े-मकोड़ों की है, उतनी मानव की नहीं । जातिवाद, प्रान्तीयतावाद और सर्वाधिक घृणित संप्रदाय के नाम पर निर्दोष भद्रजन मारे जा रहे हैं और ये धर्मनेता एकांत मठ-मन्दिरों एवं अपने धर्मस्थलों में बैठे, जनमोहक मधुर स्वरों में अहिंसा की शाब्दिक बाँसुरी बजा रहे हैं—' रोम जल रहा है और नीरो बांसुरी बजाने का आनन्द ले रहा है।' वर्तमान में हम धर्मगुरुओं की स्थिति बहुत ही विचित्र है, विसंगत है । अभी-अभी समाचार पत्रों में अहिंसा के दिव्यावतार भगवान महावीर की जयन्ती के अनेक विवरण पढ़े हैं । सब जगह अहिंसा, मैत्री की वीणाएँ बजी हैं, वीणा वादन क्या, शंखनाद भी हुए हैं । भगवान् महावीर की अहिंसा को विश्वशान्ति का एकमात्र अमोघ महामंत्र बताया गया है । परन्तु मैं पूछता हूँ, विश्वशान्ति की बात तो दूर की है, वर्तमान में अहिंसा के उद्घोषक आप पंजाब की शान्ति के लिए क्या कर रहे हैं, हिंसा की राक्षसी ताड़का के दलन के लिए अहिंसा मंत्र का अनुष्ठान यज्ञ किस रूप में किया जा रहा है । मालूम होता है, अहिंसा जीवन के प्रत्यक्ष कर्म के क्षेत्र में से निकलकर, बस, अब जन-मन रंजन रूप वाणी के क्षेत्र में केन्द्रित हो गई है। अधिक कुछ हुआ तो अहिंसा की चर्चा से सम्बन्धित दो-चार पुस्तकें छप गईं, यदि और भी कुछ अधिक हुआ तो ध्वनि-यंत्र और फ्लस आदि के प्रयोग के विरोध में हिंसा की चर्चा कर ली और उलझ गए इधर-उधर की निन्दा-स्तुति में । एक ओर अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति के लिए तो लंबे चौड़े बड़े-बड़े अनेक द्वार खोल लिए हैं, किन्तु दूसरी ओर साधारण सा यथावश्यक एक छिद्र भी असह्य है ।

अपेक्षा है आज अहिंसक समाज रचना के लिए अहिंसा के सही और सक्रिय नेतृत्व की । अहिंसा केवल वाग्-विलास का निष्क्रिय सिद्धान्त न रहकर उसे सक्रिय प्राणवान सिद्धान्त होना चाहिए । और अहिंसा में यह प्राणवत्ता आ सकती है, अहिंसा के पक्षधर धर्म-संघों के पीठासीन धर्म-गुरुओं के द्वारा । आज भी समाज पर, जन-मानस पर धर्म गुरुओं का सर्वाधिक प्रभाव है । पूर्वजों के महान् आदर्शों के उत्तराधिकारी होने के नाते आज भी वे जनता को सही नेतृत्व दे सकते हैं । और यह नेतृत्व देना है — 'अहिंसा परमो धर्मः' के महान आदर्श मंगल सूत्र के रूप में । यह स्पष्ट है कि हिंसा का प्रतिकार हिंसा नहीं है । आग को आग से नहीं बुझाया जा सकता । रक्त से सने वस्त्र को रक्त से नहीं धोया जा सकता । हिंसा का प्रतिकार अहिंसा ही है । और, जो समाज में व्याप्त दुराचार, भ्रष्टाचार, बलात्कार आदि जो अमानवीय अपकर्म हैं, वे सब भी

हिंसा के ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप हैं । इन सबका समाधान अहिंसा में है । पंजाब से सम्बन्धित हिंसा की तो मैंने वर्तमान की दृष्टि से मुख्य चर्चा की है । पर, केवल पंजाब का ही प्रश्न नहीं है । जहाँ भी इस प्रकार के अमानवीय अपकर्म हो रहे हैं, सर्वत्र उन सबके प्रतिकार का अहिंसा ही एक अमोघ उपाय है। जहाँ चक्रवर्ती शासकों तक के शस्त्र जनता में न्याय, व्यवस्था, शान्ति की स्थापना में असफल होते हैं, वहाँ धर्म परंपराओं के महान् गुरुजनों के द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के मंत्रास्त्र सफल होते हैं । अतः धर्म-शासकों पर दायित्व है, वे प्रत्यक्ष में अहिंसा के अमोघ मंत्रास्त्र को लेकर मैदान में उतरें और हिंसा का सीधा सक्रिय प्रतिकार करें । शुद्ध निष्ठा से यदि प्रयोग के रूप में अहिंसा को सही एवं सक्रिय रूप दिया जाए, तो अवश्य ही मानव के अन्तर् की सुप्त मानवता जाग सकती है, दुराचार सदाचार के रूप में परिवर्तित हो सकता है । घोर नरक बनती जा रही धरा पर मंगल-कल्याण का सुखद स्वर्ग उतर सकता है ।

असंभव कुछ नहीं है । अपेक्षा है, भयमुक्त मन, वाणी और कर्म से अभय के दाता भगवान महावीर के 'अभयदाया भवाहि' के अभय सूत्र को गाँव-गाँव में, नगर-नगर में, जन-जन में अनुगुंजित करने की । हिंसा वृत्ति और तदनुसार हिंसा प्रवृत्ति के कारण सब ओर भय फैला हुआ है । कोई भी क्षेत्र भय से मुक्त नहीं है । इस भय के वातावरण को अहिंसा के द्वारा प्रतिष्ठापित अभय के द्वारा ही बदला जा सकता है । परन्तु, यह गिरे-पड़े, भयाक्रान्त मन वाले साधारण लोगों से नहीं होने वाला है । यह हुआ है, और होगा, हजारों वर्षों से अहिंसा का मंत्र जपते आ रहे, अहिंसामूर्ति धर्म-गुरुओं के द्वारा । समय आ गया है, अहिंसा के सही एवं सक्रिय प्रयोग का । अहिंसा के पक्षधरों की परीक्षा का काल है यह । मैं आशा करता हूँ, हमारे अहिंसावादी सभी साथी इस परीक्षा में खरे उतरेंगे, अहिंसा की सफलता को डंके की चोट प्रमाणित करेंगे ।

जून १९८४

बाल-जीवन पर घोर अत्याचार

आजकल व्यक्तिगत वार्ताओं एवं समाचार - पत्रों में अबोध बालकों पर होने वाले अत्याचारों की काफी भयावह रोमांचक चर्चा है। जिस भारत की आर्य संस्कृति अहिंसा, करुणा एवं मैत्री पर आधारित है। जहाँ राम, कृष्ण जैसे विराट विश्वात्मा प्रेम-योगी तथा महावीर, बुद्ध जैसे सर्व भूतानुकम्पी करुणा मूर्ति महापुरुष हुए हैं, वहाँ आज मनुपुत्रों पर, विशेषतः असहाय कोमल तन - मन के बच्चों पर, जो अमानवीय अत्याचार हो रहे हैं, वे मानवता पर अभद्र कलंक हैं।

मनुष्य जब क्षुद्र स्वार्थों के व्यामोह में अन्धा हो जाता है, जब उसकी संवेदनशील व्यापक समग्र चेतना सिमटकर वैयक्तिक स्वार्थ बिन्दु पर आकर अवरुद्ध हो जाती है, तब इस धरती पर अत्याचार, दुराचार, अनाचार जैसा, जो भी असभ्याचरण हो जाए, कम है। खुदगर्जी के कुचक्र में इन्सान के अन्दर का देवता मूर्च्छित हो जाता है और उसके वक्ष पर हिंसा का, हत्या का, उत्पीड़न का राक्षस नंगा नाचने लगता है। खेद है वर्तमान में मानव की जीवन-पद्धति पर इसी राक्षस के उच्छृंखल राज्य का विस्तार हो रहा है।

आज बँधुआ बाल-श्रमिकों की स्थिति दयनीय ही नहीं, अतीव भयंकर है। यह पुरातन दास - प्रथा से भी अधिक घिनौनी प्रथा चल पड़ी है। स्वाधीन भारत में जिस दासत्व के अत्याचार की कल्पना तक भी नहीं की जा सकती, वह सब हो रहा है, खुलेआम आज अबोध बाल - श्रमिकों पर।

गरीब आदिवासी, हरिजन एवं अन्य पिछड़ी जाति के बच्चे इस अत्याचार के अत्यधिक शिकार हैं। गरीबी क्या नहीं कर देती? गरीबी से भूखे मरते माँ-बाप औद्योगिक क्षेत्र के कुछ लोगों के बहकावे में आ जाते हैं, फलतः नाम मात्र के नगण्य वेतन पर ही कारखाने की आग में अपने प्रिय नौनिहालों को

झोंक देते हैं। पेट की आग बुरी होती है। दूसरी ओर, उन अशिक्षित, भोले, गरीब माँ-बाप को ठीक तरह पता भी नहीं होता कि इन तथाकथित कारखानों में अपने प्रिय बच्चों के साथ क्या-कुछ अमानवीय पशुवत् दुर्व्यवहार हो सकता है। कुछ अनाथ बच्चे खुद भी रोजी-रोटी के लालच में इस मायाजाल में फँस जाते हैं। एक बार फँसे तो, ऐसे फँसे, कि फिर उन्हें उद्धार का कोई मार्ग नहीं मिल पाता।

मिर्जापुर आदि में कालीन बुनाई आदि के कारखानों के मालिकों द्वारा बाँधुआ बाल-श्रमिकों पर क्या गुजरती है? इसका कुछ अंश ही दैनिक एवं अन्य समाचार पत्रों के माध्यम से उजागर हुआ है, आपने पढ़ा भी होगा, इस नारकीय - यंत्रणा का रोमांचकारी वर्णन।

- करीब १८ से २० घंटों तक उनसे बेहिसाब काम लिया जाता है।
- काम में जरा ढिलाई करने पर निर्दयतापूर्वक पिटाई की जाती है।
- पेड़ों से बाँधकर उल्टा लटका दिया जाता है।
- लोहे की गर्म जलती सलाखों से दागा भी जाता है।
- समय पर पेट भर खाना भी नहीं दिया जाता, अधिकतर भूखे ही रहना होता है।
- फटे-पुराने गंदे कपड़ों में मात्र तन ही ढाँका जाता है, वह भी ठीक तरह से नहीं।

कहाँ तक गिनाया जाए, लगता है, उच्च श्रेणी एवं जाति के नामधारी पूंजीपति तन से ही मनुष्य हैं, अन्तरात्मा से नहीं। माना कि, स्वार्थपूर्ति मानव-जीवन की एक अनादिकालीन अनिवार्य समस्या है, मानव संग्रहशील लोभी प्रकृति का प्राणी है, किंतु इसकी कुछ सीमा तो हो। स्वार्थ के, तृष्णा के बेलगाम अन्धे घोड़े पर मानव कहाँ तक दौड़ता रहेगा। याद रखिए, महाश्रमण भगवान् महावीर ने प्रस्तुत लोभवृत्ति पर क्या कहा था? उन्होंने कहा था - 'लोभो सव्वविणासणो' अति का लोभ मानव की सभी कुछ श्रेष्ठताओं को, अच्छाइयों को, मानवीय भावनाओं को नष्ट कर देता है।

सुप्रसिद्ध दैनिक नई दुनिया (२३ अप्रैल ८४) का अग्रलेख सामने है। बच्चों के शोषण की दुःस्थिति का नग्न चित्र उपस्थित है -

“भारत की कुल शिशु आबादी (०-१४) लगभग २६ करोड़ है। इस शिशु आबादी का ४५ प्रतिशत शहरी और ५५ प्रतिशत ग्रामवासी भाग भुखमरी जिन्दगी बिताता है। २६ करोड़ शिशु आबादी में लगभग पौने दो करोड़ खेतों, खलिहानों, कुटीर उद्योगों, छोटे कारखानों, घरों, दुकानों आदि में काम करते हैं। संयुक्त राष्ट्र - संघ के अनुसार ५ से १४ आयु-वर्ग के श्रमिकों की सबसे बड़ी संख्या भारत में है।”

इसी सन्दर्भ में विद्वान लेखक ने कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं—

“तामिलनाडु के आतिशबाजी नगर शिवकाशी में लगभग ४५,००० बच्चे काम करते हैं। इन में ५ साल तक के बच्चे पाए जाते हैं। ये बच्चे रोज १२ घंटे काम करते हैं। लगभग ५० वर्षों से शिवकाशी में माचिस और पटाखा उद्योग, इसी प्रकार से बच्चों का शोषण कर रहे हैं। मुरादाबाद के पीतल उद्योग और वाराणसी के जर्दा तथा दूसरे उद्योगों में बच्चों को बड़े पैमाने पर काम में लगाया जाता है।”

एक-दो शिवकाशी, मुरादाबाद और वाराणसी क्या, न मालूम कितने हैं इधर-उधर प्रत्यक्ष या परोक्ष बाल - शोषण के ये अत्याचारी केन्द्र। हजारों - लाखों विकासोन्मुख नाजुक कलियाँ साधनों के अभाव में, साथ ही इस भीषण शोषण के झंझावात में पुष्पित नहीं हो पाती, फलतः ये न खिलती हैं और न महकती हैं। इनके जीवन के विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। अतः ठीक तरह न इनका बौद्धिक विकास हो पाता है और न शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास ही। बच्चों की यह बौनी अपसंस्कृति राष्ट्र का ही नहीं, मानवता का भी अभिशाप है।

शिवकाशी जैसे अनेक उद्योग ऐसे हैं, जहाँ विस्फोटक एवं ज्वलनशील वस्तुओं का निर्माण होता है। जरा-सी भूल के होते ही इन नन्हें-मुन्नों का सदा के लिए अंग-भंग हो जाता है। कुछ अन्धे हो जाते हैं और कुछ लँगड़े, टूटे के रूप में हस्त - पादविहीन। यह विकलांगता इतनी भयंकर है कि जीवनभर के लिए इन उगते अंकुरों को सहज सामाजिक - संस्कृति और सम्मान से वंचित कर देती है। भुक्त भोगी ही जानते हैं, यह स्थिति कितनी त्रासदायक है। यह एक मात्र यंत्रणा ही नहीं, अपितु एक क्रूर सामाजिक विसंगति भी है, जिसका कोई सम्मानजनक समाधान नहीं है।

बाल - जीवन पर अत्याचार केवल औद्योगिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है । अन्य अनेक क्षेत्रों में भी यह दानवी लीला चल रही है ।

— देवी देवताओं की प्रसन्नता के लिए बच्चों की बलि दी जाती है ।

— अपराध कर्मियों द्वारा बच्चे चुराए जाते हैं, फिरौती माँगी जाती है और उनकी जघन्य हत्या भी कर दी जाती है । इन्हीं दो वर्षों में ही बिहार के नवादा आदि जिलों में लगभग ६५० बच्चे अपहृत किए गए और अन्ततः उनकी हत्या कर दी गई ।

— बच्चों के प्राथमिक अक्रृतिक यौनाचार से सम्बन्धित बलात्कार की घटनाएँ भी आए दिन होती रहती हैं ।

— अनेक बच्चों के बुरी तरह अंग - भंग कर दिए जाते हैं, इसलिए कि उनकी दयनीय स्थिति से भिखारियों को भीख अच्छी तरह मिल सके।

— राजनीति की दलगत क्रूरता भी कम भयंकर नहीं है, जो बच्चों के साथ खेल की तरह की जा रही है । कुछ समय हुआ ईरान में विद्रोही पक्ष की ९-१० वर्ष की सुकुमार लड़कियों तक को सार्वजनिक रूप से बन्दूक की गोलियों से भून दिया । ईरान ही क्यों, अन्यत्र भी कमो वेश यही स्थिति है ।

— व्यक्तिगत शत्रुता का बदला लेने के लिए भी अधिकतर बच्चे ही मौत के घाट उतारे जाते हैं ।

मैं विचार में पड़ जाता हूँ, बालकों पर इस प्रकार जघन्य अत्याचार करने वाले अधिकतर भद्र श्रेणी के लोग ही होते हैं । वे मन्दिरों, मस्जिदों आदि पूजा-स्थानों में नियमित रूप से जाते हैं, भावभरी-मुद्रा में धर्माराधना करते हैं, बहुमूल्य चढ़ावा चढ़ाते हैं, अपने कुशल-मंगल की दीनता - भरी याचना भी करते हैं और इधर अबोध बालकों पर अक्षम्य एवं असह्य जुल्म भी ढाते हैं। यह कितना बड़ा अधर्म एवं पापाचार है, इसका इन्हें तनिक भी भान नहीं है ।

मैंने देखा है, कुछ राम और कृष्ण के भक्तों को, सन्त तुलसीदास एवं भक्त सूरदासजी आदि के द्वारा वर्णित राम और कृष्ण की बाल-लीला बड़े प्रेम से भाव-विभोर होकर झूम-झूम कर पढते-गाते हैं, नाचते हैं, परन्तु ये ही भक्तराज जरा - सी भूल होते ही बाल-कृष्ण रूप घरेलू बाल सेवकों को माँ बहन की भद्दी-भद्दी अश्लील गालियाँ देते हैं, बेदर्दी से मारते-पीटते भी हैं । यह कैसा विचित्र दुहरा रूप है, धार्मिक मानसिकता का।

अत्याचार एवं उत्पीड़न में संलग्न महानुभावों को सोचना चाहिए कि आखिर अत्याचार की फलवत्ता अत्याचार के रूप में ही प्राप्त होती है । आक्रमण प्रत्याक्रमण के रूप में ही प्रतिफलित होता है । जो बालक आज अत्याचार ग्रस्त हो रहे हैं, उनके मन में से मानवीय संवेदनशीलता का निर्झर सूखता जा रहा है । विद्रोही मन दुर्भावना के घातक - विष से भर जाता है और अन्ततः समय आने पर उसकी प्रतिक्रिया क्रूर - अत्याचारों के रूप में ही प्रतिफलित होती है । अधिकांश अत्याचारों की पृष्ठभूमि में ऐसी ही कोई निर्मम अत्याचार की कहानी रही हुई होती है । पीड़ा के गर्म आँसुओं के साथ अन्दर की मानवता प्रायः बह ही जाती है ।

भारत की संस्कृति करुणा एवं मैत्री की उदार संस्कृति है । उसका सदा-सदा से सदा-सदा के लिए पावन ब्रह्मघोष है - “आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपोलिकाम्” और तो क्या, क्षुद्र-से-क्षुद्र कीड़ों - चींटियों तक को अपने समान, अपनी आत्मा के समान ही देखना चाहिए । वैष्णव - परंपरा तो हर प्राणी में आराध्य ईश्वर के दर्शन की बात करती है । श्रमण-संस्कृति के महान उन्नायक महाश्रमण महावीर, तो पशु जगत् के प्रति भी सद्गृहस्थ को पारिवारिक व्यवहार जैसा मानवीय व्यवहार रखने की प्रेरणा देते हैं । उनका संदेश है - “घर पर काम कर रहे जानवरों को भी घर के ही एक सम्मान्य व्यक्ति के रूप में देखो । उनके प्रति किसी भी तरह का अमानवीय अभद्र व्यवहार न करो ।

— किसी भी पशु को कठोर बन्धन से मत बाँधो ।
 — निर्दयता के साथ किसी भी तरह की घातक चोट न करो ।
 — सावधान रहो । किसी भी रूप में उनका अंग - भंग न होने पाए ।
 — शक्ति से अधिक उन पर अति भार न लादा जाए । सीमा से, शक्ति से अधिक काम लेना पाप है ।

— समय पर दिए जाने वाले आहारादि का विच्छेद न करो । उसमें किसी तरह की कटौती भी न करो ।”

कितना उदात्त कल्याणकारी जीवन-सन्देश है । परन्तु खेद है, जो व्यवहार कभी पशु तक के लिए करना निषिद्ध था, आज वही व्यवहार अनेक अज्ञानग्रस्त लोक मनुष्यों के साथ, करुणापात्र बालकों तक के साथ कर रहे हैं। प्रस्तुत स्थिति पर मानवीय दृष्टिकोण से सोचने - विचारने की महती अपेक्षा है,

अत्याचार करने वालों और अत्याचार को तटस्थ-भाव से यों ही देखते रहने वालों को भी । अत्याचार करना जितना बुरा है उतना ही - अपितु उससे भी कहीं अधिक बुरा है, मूक भाव से अत्याचारों को देखते रहना । मानवता का तकाजा है, हर स्थिति में अन्याय-अत्याचार का प्रतिकार होना ही चाहिए - अवश्य होना चाहिए । घन्य हैं वे, जो न स्वयं अत्याचार करते हैं और न अन्यकृत अत्याचारों की उपेक्षा करते हैं, अपितु समय पर अत्याचारों का उचित प्रतिकार भी करते हैं ।

जुलाई १९८४

यथार्थ धर्म क्या है?

धर्म और अध्यात्म पर्यायवाची हैं। अध्यात्म का अर्थ है - आत्मा की आन्तरिक चेतना की पवित्र धारा। धर्म का अर्थ है - स्वभाव, अर्थात् आत्मा का निज शुद्ध स्वभाव।

उक्त पंक्तियों में स्पष्ट है, जिन्हें आज विभिन्न नामों से धर्म कहते हैं, वे धर्म नहीं, कुछ और हैं। धर्म एवं अध्यात्म में कहीं घृणा, द्वेष, वैर, विग्रह आदि हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इसलिए कि इनका सम्बन्ध अन्तरात्मा से कहाँ है? इनका सम्बन्ध तो बाह्य वेष - भूषा और बाह्य क्रिया-काण्डों से है। आज धर्म के नाम पर जो विग्रह हो रहे हैं, दंगे और हत्याएँ हो रही हैं, वे इन्हीं बाह्य नारों को लेकर ही हैं न? धर्मों की विभाजक - रेखाएँ इन्हीं के आधार पर तो खींची गई हैं। और, ये ऐसी लक्ष्मण रेखाएँ बना दी गई हैं कि उन्हें लांघना हिमालय के दुर्गम शिखरों के लांघने से भी अधिक दुर्गम है। यदि कोई लांघने का प्रयत्न करता भी है, तो वह तथाकथित धर्मान्ध गुरुओं के द्वारा अधार्मिक, नास्तिक, मिथ्यादृष्टि और काफिर आदि न जाने कितने अभद्र विशेषणों से सम्बोधित कर दिया जाता है।

यदि कोई वस्तुतः धर्म है, तो उसका सौरभ अन्तर् से विकीर्ण होगा, बाहर से नहीं। गुलाब के पुष्प को सुगन्ध के लिए बाहर के किसी सुगन्धित इत्र की अपेक्षा नहीं है। बाहर के इत्र की अपेक्षा कागज या कपड़े के बने गुलाब के पुष्प को होगी, प्राकृतिक गुलाब के पुष्प को नहीं।

सम्प्रदाय और धर्म के पार्यक्य को समझना आवश्यक है। आज के तथाकथित धर्मों का जो रूप है, जिसके कारण मानव - जाति खण्ड - खण्ड हो रही है, जंगली जानवरों की तरह एक - दूसरे को समाप्त करने के लिए संघर्षरत है, वह सम्प्रदाय है, पन्थ है, मत है।

धर्म की दृष्टि अन्तर में झांकती है, सम्प्रदाय की दृष्टि बाहर में। धर्म देखता है अपने को मैत्री, करुणा, प्रमोद, अवैर, क्षमा, समता आदि स्व-प्रमंगलकारी दिव्य गुणों के रूप में और सम्प्रदाय देखता है अपने को दाढ़ी - चोटी में, छापा - तिलक में, मन्दिर - मस्जिदों, गुरुद्वारों, और चर्चों में, विभिन्न भाषाओं के विभिन्न स्तुति - पाठों में, प्रार्थना - काल की विभिन्न मुद्राओं में, धर्म गुरुओं के विभिन्न क्रिया-काण्डों में और अतीत की विभिन्न भाषाओं में लिपि - बद्ध तत्कालीन देश, काल की छाप लिए हुए शास्त्रों में ।

आत्मा की ओर अन्तर्मुख होने में कोई भेद नहीं । भेद नहीं, तो कोई दुराव भी नहीं, घृणा - द्वेष भी नहीं । और आत्मा से बहिर्मुख होने में निश्चित भेद है । जहाँ भेद है, वहाँ दुराव होता ही है । और इसके फल-स्वरूप घृणा और द्वेष भी होते ही हैं । और आप जानते हैं, जहाँ घृणा और द्वेष होते हैं, वहाँ ऐसी कौन-सी अमानवीय एवं आसुरीय प्रवृत्ति है, जो न होती हो । आये दिन हिन्दू - मुस्लिम दंगे, हिन्दू-सिक्ख झगड़े आदि जो होते हैं, वे आखिर किस आधार पर होते हैं? क्या धर्म के आधार पर होते हैं? बिल्कुल नहीं । धर्म तो विश्व मैत्री की भाषा जानता है, वहाँ तो पराया जैसा कुछ भी नहीं है । वहाँ तो - 'एगे आया' का ऐक्य आत्मवाद है और है - 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का विश्व परिवार का महान आदर्शवाद ।

धर्म प्रकाश है, वहाँ अन्धकार कैसा? धर्म अमृत है, वहाँ विष कैसा? धर्म तो गंगा की निर्मल धारा है, वहाँ गाँव के गन्दे नाले की गंदगी कैसी? ये जो भी अन्धकार है, विष है, गन्दगी है, वह सब सम्प्रदायवाद की उपज है । क्योंकि संप्रदायवाद खड़ा ही है, भेद के दुराव के और घृणा के आधार पर । और भेद, दुराव तथा पारस्परिक घृणा से बढ़कर मानव - जाति के लिए अन्धकार, विष और गन्दगी अन्य क्या हो सकती है?

धर्म जीवन को व्यापकता एवं विस्तार देता है । और सम्प्रदाय संकीर्णता एवं क्षुद्रता देता है और यह संकीर्णता बढ़ते - बढ़ते इतनी बढ़ जाती है कि धर्म का चोला पहने हुए तथाकथित दो भिन्न सम्प्रदायों में ही संघर्ष, विग्रह एवं झगड़े होते हैं, यह बात नहीं है, प्रत्युत एक सम्प्रदाय में भी कई उपसंप्रदाय खड़े हो जाते हैं । और वे बाहर में एक होते हुए भी आपस में बुरी तरह संघर्षरत हो जाते हैं, झगड़ने लगते हैं और फिर निर्दोष - निरपराध मानवों का

धर्म के नाम पर रक्त बहने लगता है । मुसलमान होते हुए भी सिया - सुन्नियों के बीच, हिन्दू होते हुए भी हरिजन - सवर्णों के बीच, सिक्ख होते हुए भी निरंकारियों-अकालियों के बीच, जैन होते हुए भी दिगम्बर - श्वेताम्बरों के बीच, आये दिन जो झगड़े होते हैं, वह प्रमाण है, संप्रदायों की झगड़ालू मनोवृत्ति का । झगड़ालू मनोवृत्ति दूसरों से ही नहीं, जरा - सा मतभेद होते ही अपनों से भी टकराने लगती है, यहाँ तक कि एक-दूसरे का खून बहाने तक को भी तत्पर हो जाती है । तत्पर क्या, खून बहाने ही लगती है, जैसा कि हम इन दिनों प्रत्यक्ष में देख रहे हैं, सुन रहे हैं और अखबारों में पढ़ रहे हैं ।

मानव जाति का कल्याण धर्म निरपेक्ष होने में नहीं है, अपितु धर्म के नाम से प्रचारित, किन्तु धर्म से शून्य इन रंगे सियार संप्रदायों से निरपेक्ष होने में है । जल से शून्य अन्ध गर्त का रूप लिए कूप को पाट ही देना चाहिए । जीवन - प्राण से शून्य मृत हुए शरीर को आग या मिट्टी में दफना ही देना चाहिए । यही व्यवहार धर्म - भावना से रिक्त हुए संप्रदायों के प्रति भी अपेक्षित है ।

मानव जाति का अभ्युदय एवं निःश्रेयस साम्प्रदायिक धर्म से नहीं, अपितु आध्यात्मिक धर्म से है । अमुक अंश में आध्यात्मिक से अनुप्राणित संप्रदाय से भी हो सकता है, परन्तु इसमें बहुत सावधानी की अपेक्षा है । ध्यान रखना है, संप्रदाय में किसी अपेक्षा से धर्म हो सकता है, परन्तु मूलतः संप्रदाय धर्म नहीं है, और धर्म संप्रदाय नहीं है । धर्म ज्योति है, ज्योतिशिखा है । लौ तो लौ है - उसमें कहीं भेद नहीं है । न देश का भेद है और न काल का । समग्र विश्व में सदाकाल लौ लौ है, ज्योति, ज्योति है, अन्धकार को दूर करती है । दीवट-दीयाधार अनेक रूपों में अनेक हो सकते हैं, अतः दीवट पर अधिक ध्यान न दीजिए । ध्यान दीजिए पूर्णतया ज्योति पर, यदि अन्धकार दूर करना है तो । धर्म ज्योति है, सम्प्रदाय दीवट है । ज्योतिहीन दीवट स्वयं अन्धकार में डूबा रहता है, वह प्रकाश कैसे करेगा ? खेद है, बुझी हुई मशालें लेकर लोग अन्धकार में उजेला होने का, पथ प्रदर्शन करने का नारा लगाते हैं, कितना विचित्र भ्रम पाले हुए हैं।

स्पष्ट है, आध्यात्मिक धर्म की, तथा आध्यात्मिक धर्म पर आधारित कर्म की ही आज के समाज को आवश्यकता है । आज क्या, सदा काल ही आवश्यकता है । आध्यात्मिक धर्म ही मानव के अन्तरतम में उद्भूत होकर

मानव को बुराईयों एवं दुर्गुणों से मुक्त कर सकता है । आज सब ओर, जो नैतिक मूल्यों में गिरावट आ रही है, आध्यात्मिक धर्म ही उसे विना किसी तनाव या दबाव के रोक सकता है । नैतिकता धर्म का ही समाज में प्रतिफलित होने वाला बाह्य रूप है । आध्यात्मिकता के अभाव में नैतिकता की कल्पना आकाश-कुसुम की कल्पना से भिन्न नहीं है । इसी आध्यात्मिक धर्म के प्रति भगवान महावीर ने कहा — “ धम्मं सरणं पवज्जामि” भगवान् बुद्ध ने कहा — “ धम्मं सरणं गच्छामि:”

अगस्त १९८४

अपेक्षा है कूप-मण्डूकता के परित्याग की

आज के युग की सबसे बड़ी समस्या कूप-मण्डूकों की समस्या है । कूप-मण्डूकों का दर्शन, चिन्तन कूप के क्षुद्र अन्धेरे घेरे में ही सीमित है । उनका अस्तित्व जो भी है, कूप के अन्दर ही है । बाहर में कोई सागर भी है, नदियाँ भी हैं, निर्झर भी हैं, उन्हें कुछ पता नहीं । यदि कोई उनके अस्तित्व की चर्चा करता भी है, तो वे मानने को बिल्कुल तैयार नहीं होते, अपितु लड़ने-मरने के लिए, खून-खराबा करने के लिए तैयार हो जाते हैं । तैयार क्या, आए दिन ऐसा करते ही हैं ।

सबसे भयंकर हैं, धर्म-क्षेत्र के कूप-मण्डूक । अपने धर्मसम्प्रदाय की मान्यताओं के कूप में पड़े हुए ये धार्मिक कूप-मण्डूक, समग्र सत्य का भंडार, अपने मत-पंथों के विधि-निषेधों में, क्रिया-काण्डों में, मान्यताओं में ही देखते हैं । इनका मानना है जो भी सत्य है वह सब हमारे ही पास है दूसरों के पास सत्य जैसी कोई चीज है ही नहीं । दूसरों के लिए इनके पास प्रायः एक ही शब्दावली है कि ये मूर्ख हैं, अज्ञानी हैं, मिथ्या दृष्टि हैं, असत्य को सत्य मानकर बैठे हुए हैं, आँख के अन्धे हैं । इन्हें कौन समझाए कि ये तुम्हारी विधि-निषेधों की मान्यताएँ, क्रिया-काण्डों की परिकल्पनाएँ देश-काल आदि की परिस्थितियों में जन्म लेती हैं और कुछ काल जीवित रहकर देश-काल के बदलते परिवेश में जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं, अन्ततः मर भी जाती हैं, परन्तु ये कूप-मण्डूक उन्हें अजर-अमर मानते हैं, अब भी जीवित होने के भ्रम में उनकी सड़ती-गलती लाशों को गगन-भेदी जयजयकारों के साथ सिर पर ढोये फिरते हैं ।

कहने को भारत धर्म-प्रधान देश है । ऐसा कहते हुए हम प्रायः गौरवानुभूति ही क्या, गर्वानुभूति भी करते हैं, परन्तु क्या सचमुच में ऐसा है ? सत्य कड़वा है, फिर भी वह कहना ही है । भारत अब धर्म-प्रधान देश नहीं, धर्म के नाम पर अन्ध-विश्वासप्रधान धर्म का देश है। भारत-पाकिस्तान के

विगत विभाजन काल में जो हुआ है, क्या वस्तुतः वह धर्म-प्रधानता है ? बच्चों का, बूढ़ों का निर्दयता के साथ कत्ल हुआ, मातृ-जाति की अस्मत् लूटी गई—उनके अंग-भंग किए गए, निरपराध जनता को लूटा गया, मन्दिर-मस्जिद तोड़े गए, क्या यही गर्व करने जैसी हमारी पवित्र धार्मिकता है ? आज की ताजा घटनाओं में भिवंडी-बम्बई (महाराष्ट्र) और पंजाब में जो दुर्घटित हुआ है, धर्म-रक्षा के नाम पर जो निरपराध स्त्री-पुरुषों का दुर्नाम हत्याचक्र चला है, लूट-मार, बलात्कार, अपहरण, आगजनी आदि का, जो तूफान हुआ है, क्या वह सचमुच में ही हमारे मस्तक पर धर्म-प्रधानता का मंगल तिलक है ? हजारों वर्ष हो जाते हैं, हमें परस्पर साथ रहते, साथ बोलते-बतलाते । फिर भी एक दूसरे को अच्छी तरह समझ नहीं पाए हैं । भौगोलिक दीवारें भले ही टूट रही हैं, पर हमने अपने चारों ओर मान्यताओं की ऐसी कुछ अभेद्य दीवारें खड़ी कर दी हैं कि उनकी कैद में मानव-जाति वंश-परम्परा से कैदी बनी आ रही है । और खेद इस बात का है कि इस कैद में वह मुक्त कण्ठ से अपने गौरव का गुण-गान करती है ।

“भारत की संस्कृति, समन्वय मूलक गंगा की संस्कृति है,” - यह हमारा आए दिन का नारा है । हम मंच पर बड़े गर्व से कहते हैं कि विभिन्न संस्कृतियों, परम्पराओं का संगम एवं समन्वय केन्द्र है हमारी संस्कृति । जिस प्रकार गंगा में मिलकर सब नदी-नाले गंगा हो जाते हैं, एक पवित्र धारा का रूप ले लेते हैं, वैसे ही हमारी संस्कृति में भी सबको मिलाने की, एकरूप देने की, विविधता में एकता स्थापित करने की अद्भुत क्षमता है । कभी रही होगी यह क्षमता, कभी रही होगी वह गंगा की संस्कृति । परन्तु आज? आज तो इसके सर्वथा विपरीत स्थिति है । आज के भारतीय समाज में धर्म, संप्रदाय, प्रान्तवाद, जातिवाद आदि के नाम पर घृणा, तिरस्कार, अपमान, वैर - विद्वेष आदि के सिवा और क्या मिलता है? दूर के भेदों को तो जाने दीजिए, एक धर्म परम्परा के ही उपभेदों में कहाँ मेल है, जाति की ही उपजातियों में कहाँ बन्धुता है ? कभी-कभी तो एक ही वृक्ष की ये शाखाएँ-उपशाखाएँ परस्पर इतनी अधिक टकरा जाती हैं, कि महाभारत-युद्ध का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है, ‘अहिनकुलम्’ के जन्म-जात वैर की स्मृति जागृत हो जाती है । महर्षि मनु के शब्दों में अखिल विश्व को मानवता का, सच्चरित्रता का मंगलपाठ पढ़ाने वाले हम भारतीय, आपस के क्षुद्र मतभेदों के इतने अधिक शिकार हो जाते हैं, और भूल ही जाते हैं कि हम सब एक धरती माँ के पुत्र मानव हैं । अपने सम्बन्ध में

देवों से भी उच्च श्रेष्ठता का जयघोष करने वाले हम मानव तो क्या, पशु की भूमिका पर भी ठीक तरह स्थिर नहीं हो पाते । अन्दर में छिपा हुआ घृणा एवं वैर-विद्वेष का पिशाच, पता नहीं कब, धर्म तथा जाति वाद आदि की रक्षा का हुंकार करता हुआ बाहर निकल पड़े और अबोध जनता में हाहाकार का भयावह नारकीय दृश्य खड़ा कर दे ।

दूर क्यों, मैं अपनी ही धर्म-परम्परा की बात कर लेता हूँ । जैन-धर्म मानव के प्रति ही नहीं, प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना का धर्म है, अहिंसा-करुणा का बहुत बड़ा प्रशंसा प्राप्त पक्षधर है । अनेकता में भी एकता स्थापित करने वाला अभेदवादी अनेकान्त दर्शन है उसका । इधर-उधर बिखड़े हुए सत्य के पुष्पों को वह एक अखण्ड माला का रूप देता है । कभी यह सब-कुछ उसके शब्दों में ही नहीं, जीवन में भी था । कभी उसके मानवतावादी लोक-मंगल आदर्शों की धर्म-दुन्दुभि दिग्-दिगन्त में ध्वनित थी|परस्पर संघर्षरत धार्मिक तथा सामाजिक विचार सूत्रों को एक सूत्र में आबद्ध करने वाले उसके धर्म-प्रचार का उदात्त इतिहास है । परन्तु, आज क्या है ? उसका विश्व-समन्वयवादी अनेकांत तथा स्याद्वाद आज क्या कर रहा है ? हमारी वैचारिक कूपमण्डूकता ने हमें और हमारे अनेकान्त को कहीं का नहीं छोड़ा । मंच पर अनेकान्तवाद की जय-घोषणाएँ करके हम अपने ही हाथों अपनी पीठ थपथपा लेते हैं, अपने मुँह अपनी ही वाह-वाह कर लेते हैं । आज दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी और तेरापन्थ आदि में कितने व्यक्त और अव्यक्त मत-भेद हैं और इनमें भी कितने ही मत-मतान्तर हैं, भेद-उपभेद हैं । सब अपने को ही शुद्ध जैन धर्मी, सम्यक् - दृष्टि मानते हैं, अपने ही भिन्न विचारधारा के पक्ष को जैनाभास एवं मिथ्यादृष्टि के रूप में सम्बोधित करते हैं । आज युग बदला है, युगके अनुरूप भाषा भी बदली है, मंच पर एकता एवं समन्वय के गीत भी जोर - शोर से चिल्ला-चिल्ला कर गाए जाते हैं, परन्तु अन्दर में क्या है? मन वही पुराना पापी है, मेल - मिलाप में नहीं, तोड़-फोड़ में ही विश्वास करता है । विश्वास ही नहीं, वाणी से प्रचार भी करता है, इसलिए कि चित भी मेरी, पट भी मेरी । अन्दर में पन्थ की दीवारें भी सुरक्षित रहें और बाहर में सार्वजनिक प्रशंसा भी मिल जाए । 'हल्दी लगे न फिटकरी, रंग चोखा आ जाए ।' हार्दिक सद्भावना संवेदनशीलता नहीं बढ़ी है, बढ़ी है बौद्धिक चतुरता और इस चतुरता ने बढ़ते - बढ़ते धोखे का, छल-कपट का, आम लोगों की आँखों में धूल-झोंकने का रूप ले लिया है । विचित्र स्थिति है, आज के धार्मिक कूप - मण्डूकों की ।

धर्म का दंभ से, दो जिहवाओं से कोई संबंध नहीं है । जहाँ दंभ है, वहाँ अधर्म है, पाप है । धर्म है, सरलता में, मन की निर्मलता में । भगवान् महावीर निर्वाण के क्षणों में भी अपनी निर्दम्भ दिव्य - ध्वनि ध्वनित कर गए हैं कि 'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'- धर्म शुद्ध हृदय में रहता है ।

कब होगा, उपर्युक्त शब्द पाठ का अन्तर्हृदय में भाव पाठ? यह तब होगा, जब हम कूपमण्डूकता की क्षुद्र मानसिकता से बाहर निकलेंगे । और, इस मानसिकता से बाहर तब निकलेंगे, जब सत्य को पोथी-पतरों के अक्षरों से बाहर अनन्त असीम रूप में देखेंगे, और सत्य का यह अनन्तरूप में दर्शन अनेकान्त एवं स्वाद्वाद के विना न आज संभव है और न कल । अनेकान्त ही सत्य के विराट रूप का दर्शन करा सकता है, झगड़ालू क्षुद्र मनोवृत्ति की दूषित मान्यताओं के कदाग्रह से मुक्त करा सकता है । सब ओर कदम - कदम पर सत्य की मधु-धाराएँ प्रवाहित हैं, यदि कोई पान करना चाहे तो, परन्तु अनेकान्त दृष्टि के बिना वे दीखें, तो कैसे दीखें? दुर्भाग्य है आज के मानव का कि वह देखकर भी कुछ नहीं देख पा रहा है सुनकर भी कुछ सुन नहीं पा रहा है, छूकर भी कुछ छू नहीं पा रहा है, और चल कर भी कुछ चल नहीं पा रहा है । कूप - मण्डूक जो बन गया है । मान्यताओं के गन्दे - सड़ते कूप से बाहर निकले बिना सही रूप में न कुछ देखा जा सकता है, न कुछ सुना जा सकता है । सत्य को छूने और उसकी राह पर चलने की तो बात ही कहाँ है?

अपेक्षा है हमारी शुद्ध मानसिकता को व्यापकता में बदलने के लिए इतिहास के क्षुद्र अध्ययन की । इतिहास ही हमें बताता है कि चिर अतीत में से आज तक आते-आते मानव जाति, सामाजिक एवं धार्मिक आदि क्षेत्रों में कैसे-कैसे परिवर्तित होती आई है, देश और काल का कब कहाँ कैसा प्रभाव पड़ा है और इसके फल-स्वरूप मानव कितना कुछ पुराना छोड़ता और कितना कुछ नया-नया अपनाता आया है । मानव का मस्तिष्क और तदनुरूप कर्म कभी एकान्त रूप से स्थिर नहीं रहा है । अब भी भविष्य की यात्रा के लिए उसे यथाप्रसंग बदलना ही होगा । पहले रखे कदम को छोड़े विना, अर्थात् वहाँ से उठाए विना अगला कदम कैसे रखा जाएगा? और वहीं रखा जाएगा, तो गति कैसे होगी? और गति न होगी, तो मंजिल तक कैसे पहुँचा जाएगा?

इतिहास के साथ ही दूसरी अपेक्षा है, वैज्ञानिक दृष्टिकोण की । वैज्ञानिक चिन्तन व अध्ययन के विना अन्ध - विश्वासों का चिरागत सघन अन्धेरा

दूर नहीं हो सकता । सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं के नाम पर हमने अपनी आन्तरिक चेतना पर अन्ध-विश्वासों एवं विवेक शून्य मान्यताओं के इतने काले कम्बल डाल दिए हैं कि हम तर्कशील चिन्तन की स्वच्छ एवं मुक्त हवा में ठीक तरह सांस तक नहीं ले पाते । मध्यकाल के विवेक-पराङ्मुख काल में अनेक ऐसे धर्म-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, जिनमें धर्म तो क्या, धर्म की मूलधारा मानवता का कहीं स्पर्श तक नहीं है । अच्छे - बुरे कर्म के आधार पर मनुष्य की पवित्रता-अपवित्रता का विचार, पता नहीं कहीं अतल सागर में डूब गया और सतह पर रह गया, जातिवाद के नाम पर जन्मजात पवित्रता-अपवित्रता का, उच्चता-नीचता का दुर्विचार एवं दुर्व्यवहार । यहाँ तक कि निम्न जाति के गर्त में धकेल दिए गए मनुष्य को छूना तक पाप हो गया । पवित्रता के पुनीत धर्म के नाम पर असहाय विधवाएँ पति के शव के साथ जीवित ही भस्म की जाने लगीं । देवी - देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रतिवर्ष करोड़ों ही मूक पशु मौत के घाट उतार दिए गए । अब भी यह परम्परा बंद नहीं हुई है । बिहार में मुंगेर जिले के एक गाँव में किसी कल्पित देवी के आगे प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ला के प्रथम मंगलवार को एक ही दिन में लगभग आठ-दस हजार बकरे-भेड़ें काट दिए जाते हैं । भय और प्रलोभन का इतना गहरा अन्ध - विश्वास है कि कितना ही समझाइए, समझने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं होते । यह एक क्या, ऐसे अनेक स्थान हैं, जहाँ प्रतिदिन मूक - पशुओं के खून की धाराएँ बहती रहती हैं । हिन्दू, मुस्लिम दोनों ही इस जघन्य एवं क्रूर अन्ध-विश्वास के शिकार हैं । समस्या यह है कि इन तथा-कथित धर्म पुस्तकों पर, किसी पर ईश्वर की, तो किसी पर सर्वज्ञ महर्षि की मुद्रा लगी हुई है । ईश्वर और सर्वज्ञ की वाणी, भला कैसे असत्य हो सकती है, कैसे उसे छोड़ा जा सकता है? धार्मिक क्रिया-काण्ड के नाम पर मानव ने अपने शरीर को भी इतनी भयंकर यातनाएँ दी हैं कि हर सहृदय व्यक्ति का रोम-रोम काँप उठता है । भूसे की आग में जल कर मरे हैं, अनेक विद्वान कहे जाने वाले लोग भी । एक लंबी कहानी है, धार्मिक यातनाओं की । आज के बौद्धिक कहे जाने वाले युग में यातना की अनिवार परम्पराएँ चल ही रही हैं । क्या किया जाए, चलेगी ही, क्योंकि ईश्वर और सर्वज्ञों का तथाकथित त्रिकालबाधित उपदेश जो है ।

मनुष्य का अन्तर्विवेक एक तरह से समाप्त ही हो गया है, इन धर्म ग्रन्थों के व्यामोह में । तर्क का तो नाम आते ही बिदकने लगते हैं, बुरी तरह भड़कने लगते हैं, तथाकथित धार्मिक जन । अतः धर्म के लिए विज्ञान का स्पर्श

अतीव आवश्यक है । विज्ञान कोरे परंपरागत विश्वासों पर आधारित नहीं है । वह विशुद्ध तर्क के आधार पर खड़ा है । तर्क-सिद्ध, प्रत्यक्षतः प्रमाणित लोक हितकर सत्य ही विज्ञान का सत्य है । विवेक सिद्ध आचार ही धर्म है, और वह विवेक वैज्ञानिक चिन्तन एवं तर्क से अनुप्राणित होना चाहिए । हमारे पूर्वज तर्क के विरोधी नहीं थे, जैसे कि हम आज हैं! उनका तो सार्वजनिक उद्घोष ही था कि तर्क से ही धर्म के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होता है - “यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेदनेतरः।”

और, अनेकान्त! वह तो सर्वोपरि है ! अनेकान्त का अमृत स्पर्श तो विषाक्त क्षुद्रता की, कूप-मण्डूकता की विनिवृत्ति के लिए कदम-कदम पर आवश्यक है । जीवन का कोई भी अंग हो, उसे व्यापक आयाम देने के लिए अनेकान्त ही एकमात्र अमोघ साधन है ।

सितम्बर १९८४

संयम यात्रा अकषाय भाव में

जैन-धर्म निवृत्तिप्रधान है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि जैन-साधना में प्रवृत्ति को कोई स्थान नहीं है, प्रवृत्ति का पूर्णतः निषेध है । निवृत्तिप्रधान का तात्पर्य यह है कि जैन-धर्म की अध्यात्म-साधना में निवृत्ति मुख्य है, प्रवृत्ति गौण है । क्योंकि साधना का लक्ष्य त्रियोग और उसके आधार कर्म तथा कर्म के मूल हेतु विभाव से पूर्णतः निवृत्त होकर अपने शुद्ध स्वभाव एवं स्वरूप को अनावृत्त करना है । अस्तु, निवृत्ति अध्यात्म-साधना का मूल लक्ष्य है।

इसलिए अध्यात्म-साधना में गुप्ति और समिति का महत्त्व पूर्ण स्थान है । मन, वचन और काय-योग का सम्यक् रूप से गोपन करना गुप्ति है और जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विवेक - पूर्वक योगों को प्रवृत्त करना समिति है । आवश्यक कार्यों के साथ धर्म-प्रचार हेतु प्रवृत्ति करना भी समिति में समाहित है । गुप्ति निवृत्ति की परिसूचक है और समिति प्रवृत्ति की । निवृत्ति और प्रवृत्ति का यह समन्वित रूप ही अध्यात्मसाधना है। इसमें न तो एकान्त रूप से निवृत्ति का आग्रह है और न एकान्ततः प्रवृत्ति का । क्योंकि यथार्थ में जीवन की गति भी एकान्त नहीं है । न तो एकान्त रूप से निवृत्ति परक रहने का आग्रह रखने वाला समाधिपूर्वक जीवन-यात्रा कर सकता और न निरन्तर प्रवृत्ति में संलग्न रहने का आग्रह रखने वाला भी । जीवन समन्वय पर ही स्थित है । इसलिए निवृत्ति-प्रवृत्ति का सम्यक् समन्वय करके चलना ही सम्यक्-साधना है ।

अध्यात्म-साधना के पथ पर चलने को तत्पर जैन श्रमण, इस निवृत्ति-प्रवृत्ति के समन्वित पथ पर चलने की प्रतिज्ञा करता है । उसकी साधना का उद्देश्य न तो सिर्फ क्रियाओं से निवृत्ति है और न सिर्फ क्रियाओं में प्रवृत्ति । उसका लक्ष्य है—जिस वैभाविक परिणति (राग-द्वेष, कषाय-नोकषाय) से कर्मों का बन्ध होता है,^१ उससे मुक्त होना—“कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ।”

१. रागो व दोसो वि य कम्म बीयं । — उत्तराध्ययन ३२,७

वस्तुतः राग-द्वेष एवं कषाय-वृत्ति ही संसार परिभ्रमण का मूल हेतु है। कषाय, राग-द्वेष जन्य है। कष् का अर्थ है— संसार और आय का अर्थ है—लाभ। जिस वैभाविक परिणति से संसार की वृद्धि होती है, उसे कषाय कहते हैं। वह चार प्रकार का है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इस कषाय-भाव से निवृत्त होकर शुद्ध स्वभाव में परिणत होना अध्यात्म-साधना है। अभिप्राय यह है कि साध्य है—आत्मा का शुद्ध स्वभाव, वीतराग-भाव और विवेक पूर्वक निवृत्ति-प्रवृत्ति के सम्यक् समन्वित रूप साधना से साध्य को सिद्ध करना, साधना है। अतः अध्यात्म-साधना विधि-निषेध-परक बाह्य क्रिया-काण्ड मात्र नहीं है, वह है अकषाय-वृत्ति, वीतराग-भाव।

कषाय-वृत्ति सावद्य है और अकषाय अर्थात् वीतराग-भाव निर्वद्य। क्योंकि कर्म-बन्ध का कारण कषाय है, सरागता है। जब तक आत्मा में कषाय एवं राग-द्वेष की विभाव परिणति है, तब तक कर्म-बन्ध की परम्परा अनवरत चालू रहती है, भले ही बाहर में कितनी ही उत्कृष्ट एवं उत्कृष्टतम कठोर चर्चा भी क्यों न हो। उग्र ध्यान-योगी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का जीवन हमारे सामने है। भयंकर सर्दी में निर्वस्त्र राजर्षि खुले आकाश के नीचे ध्यान-साधना में खड़े हैं। मगध सम्राट श्रेणिक भगवान के दर्शनार्थ जाते हुए मार्ग में राजर्षि की उत्कृष्टतम ध्यान-चर्या में आकृष्ट होकर उनके चरणों में सभक्ति वन्दन करता है और समवसरण में पहुँच कर सर्वप्रथम श्रमण भगवान महावीर से पूछता है—“यदि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का इस समय आयु-कर्म पूर्ण हो जाए तो वे कहाँ जाएँ ?”

श्रमण भगवान महावीर का उत्तर है—“राजन् यदि इस समय वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो सातवें नरक में जाएँगे।”

आश्चर्यजनक बात है। बाहर में ध्यान की उत्कृष्ट साधना, काय-योग से पूर्ण निश्चल, वचन-योग भी मुखरित नहीं है, पूरी तरह मौन हैं। बाहर में न स्थावर काय के जीवों की हिंसा और न छोटे-मोटे अन्य विकलेन्द्रिय जीवों की जरा-सी भी विराधना। आज कल की भाषा में हिंसा से पूर्णतया विरति है, बाहर में कोई योग सावद्य परिलक्षित नहीं होता। फिर क्या बात है कि सातवें नरक में जाने योग्य कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का संग्रह कर लिया उस महासाधक ने। वहाँ एक मात्र मन-योग सावद्य है। भले ही बाहर में कुछ नहीं हो रहा है, परन्तु अन्तर्मन में रौद्र परिणाम हैं। मन, मनः परिकल्पित

शत्रुओं के साथ युद्ध में संलग्न है । बाहर में रक्त की बूंद नहीं गिर रही है, परन्तु मन के रौद्र परिणामों से हजारों सैनिकों का भयंकर संहार हो रहा है । यह है तीव्र द्वेषभाव, प्रचण्ड क्रोध, जो सावद्य है और उसी का परिणाम है कि बाहर में किसी तरह की सावद्य क्रिया न होते हुए भी सातवीं नरक के योग्य कर्म-पुद्गलों का आस्रव हो गया । आस्रव तो हो गया । पर, निकाचित बन्ध पड़ने के पूर्व ही जागृत हो गए और उस सावद्य-योग से पूर्णतः निवृत्त हो गए । चिन्तन की धारा आत्माभिमुखी हो गई । और, इस निवृत्ति का परिणाम है कि सम्राट श्रेणिक के प्रश्न पूछते-पूछते और श्रमण भगवान महावीर के उत्तर देते-देते ही राजर्षि प्रसन्नचन्द्र केवलज्ञानी हो गए ।

अस्तु, त्रि-करण, त्रि-योग से त्याग का अर्थ है—कषाय से अनुरंजित प्रवृत्ति का त्याग । यथार्थ में राग-द्वेष एवं कषाय वृत्ति ही सावद्य है और यह वृत्ति ही योगों को सावद्य बनाती है । अन्तर्मन में राग-द्वेष एवं कषायों की वृत्ति जितनी तीव्र होगी वैभाविक परिणति जितनी अधिक गहरी होगी, उतना ही मनोयोग अशुद्ध होगा और योगों की प्रवृत्ति भी अशुद्ध ही होगी और उमसे अशुभ कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का बन्ध भी प्रगाढ होगा । अस्तु, बाह्य योग-प्रवृत्ति एवं बाह्य पदार्थों से योग-निवृत्ति स्वतः न तो शुद्ध है, न अशुद्ध है, न शुभ है और न अशुभ है । जब, मन वचन एवं काय-योग जड़ हैं, भौतिक पुद्गलों से बने हैं, तब वे स्वभाव से शुभाशुभ कैसे हो सकते हैं ? परिणामों की शुद्ध, अशुद्ध, शुभ और अशुभ पर्याय है और वह स्वभाव-विभाव की अपेक्षा से शुद्ध और अशुद्ध होती है । शुद्ध पर्याय आत्मा का स्वभाव है, उसमें बन्ध नहीं होता । बन्ध, अशुद्ध पर्याय विभाव रमणता में ही होता है और वह शुभ भी है और अशुभ भी । शुभ से पुण्य का बन्ध होता है और अशुभ से पाप का । पर, हैं दोनों ही मूल में बन्धन । अतः यथार्थ में कषाय के रंग से अनुरंजित परिणाम ही सावद्य हैं और उन सावद्य परिणामों से स्पर्शित योगों को भी व्यवहार में सावद्य कहा है । इसलिए यथासंभव सावद्य क्रिया से बचना श्रमण का कर्तव्य है । धर्म तो है कषायों से निवृत्त होकर अकषाय एवं वीतराग-भाव में स्थित होना और यह अवस्था बाह्य प्रवृत्ति के चालू रहने पर भी अबन्ध अवस्था है ।

श्रमण-दीक्षा के समय साधक त्रिकरण— न करूँ, न कराऊँ और न अनुमोदन ही करूँ और त्रियोग मन से, वचन से और काय से, हिंसा आदि

दोषमय कार्यों का त्याग करता है । वह मन योग से भी करने, कराने और अनुमोदन का त्याग करता है । इसी तरह वचन एवं काय-योग से भी करने, कराने और अनुमोदन का त्याग करता है । इसे शास्त्रीय भाषा में नव-कोटि से किया गया प्रत्याख्यान कहते हैं । समझना यह है कि जीवन व्यवहार में श्रमण इस नव-कोटि का पालन कैसे कर सकता है ?

श्रमणोपासक के अणुव्रतों में अणुत्व की एक सीमा-रेखा है— अतः अपना गृहस्थ का जीवन व्यवहार चलाते समय उससे प्राणियों की हिंसा हो सकती है और सत्यादि अन्य व्रतों में भी सामान्यतः असत्यादि का व्यवहार हो सकता है परन्तु, श्रमण का त्याग तो अणुरूप में देश त्याग नहीं, सर्व त्याग है और वह भी तीन करण, तीन योग से । त्रिकरण और त्रियोग के त्याग का सिर्फ शाब्दिक प्रदर्शन करने वाले एवं अपने तथाकथित त्याग के अहम् में वरिष्ठ श्रमण-श्रमणियों के प्रति विषाक्त एवं दूषित वातावरण बनाने वाले आज के तथाकथित वरिष्ठ श्रमण एवं आदरणीय आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधर मुनि अपनी आत्म-साक्षी से गंभीरता पूर्वक सोच-समझ कर कृपया बताएँ कि त्रिकरण और त्रियोग से वे क्या सचमुच में ही हिंसा, परिग्रह आदि से सर्वतो भावेन विरत हैं ? तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर एवं उनके द्वारा संस्थापित तत्कालीन धर्म-तीर्थ, श्रमण-संघ द्वारा भी चलते-फिरते, आहार, निहार, विहार आदि की क्रियाओं में, एवं धर्म-प्रचार हेतु गंगा, गंडकी आदि विशाल नदियों को नौका-यान के द्वारा पार करते समय क्या यथार्थ में त्रिकरण और त्रियोग का पालन होता था ? जंघाचरण, विद्याचरण एवं अन्य लब्धिधारी मुनि तीव्र गति से आकाश-मार्ग से हजारों योजन सुदूर पर्वतों के उत्तुंग शिखरों की यात्रा करने जाते थे और आकाश-मार्ग से ही वापस लौट कर आते थे, तो क्या उनके योगों से जीवों की विराघना नहीं होती थी ? और क्या वे श्रमण-मुनि नहीं थे, आपकी दृष्टि में ?

आज शास्त्र आज्ञा के विरुद्ध विहार-यात्रा में श्रमणोपासक साथ रहते हैं, वेतन-भोगी नौकर साथ-साथ चलते हैं, कार, टैक्सी, जीप, ट्रक आदि भी कुछ आचार्यों एवं वरिष्ठ साधुओं के साथ चलते हैं, उनसे आहार-पानी आदि की सुविधा एवं अन्य सेवाएँ भी कभी प्रत्यक्ष, तो कभी परोक्ष में ली जाती हैं, क्या इसमें त्रिकरण, त्रियोग का पालन होता है ? आगमों में श्रमण-श्रमणी के लिए लेखन-क्रिया का निषेध है, यहाँ तक कि आगमों को लिपि-बद्ध करने का भी निषेध रहा है । आज तो लिखने-लिखाने की वह निषिद्ध क्रिया तो विधि रूप में

सामान्य हो गई है। उससे भी आगे षड्-जीवनिकाय की हिंसा से चलने वाले मुद्रण यन्त्रों में त्रिकरण-त्रियोग से त्यागी श्रमणों के प्रवचन एवं ग्रन्थ मुद्रित होते हैं, उनका विक्रय होता है। अन्य प्रकाशकों द्वारा मुद्रित ग्रन्थ क्रय करके मंगाये जाते हैं। श्रमण-श्रमणियाँ स्वयं तो कार आदि यान-वाहन में नहीं बैठते, परन्तु उनके द्वारा दिए गए संदेश को यथास्थान पहुंचाने एवं उसका उत्तर लाने के लिए संदेश-वाहक, पत्र, पार्सल, पुस्तकें, सामान आदि कार, ट्रेन, बस, ट्रक, वायुयान आदि से इधर-उधर आते-जाते हैं। क्या त्रिकरण-त्रियोग के त्यागियों की यह यान-यात्रा नहीं है? क्या वे स्वयं न जाकर इस तरह सामान भेज सकते हैं, मंगवा सकते हैं? आज भी छोटे-मोटे नदी-नालों में घुटने तक भरे पानी को पैरों से चल कर पार करते हैं और अधिक पानी होने पर नौका-यान से भी नदी पार करते हैं—क्या इस क्रिया में अप्कायिक एवं अन्य स्थावर तथा पानी के आश्रित रहे हुए द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय त्रस प्राणियों तक की जो हिंसा होती है, वह हिंसा नहीं है? वहाँ त्रिकरण-त्रियोग सुरक्षित रहता है क्या?

क्या त्रिकरण-त्रियोग से त्यागी श्रमण चातुर्मास-स्वीकृति रूप पूर्व उद्घोषणा कर के चातुर्मास कर सकता है, दीक्षाउत्सव के मेलों में सम्मिलित हो सकता है, गुरु की, एवं अपनी जयन्ती, अपने अभिनन्दन समारोह, अमृत-महोत्सव एवं गुरु आदि की पुण्य-तिथि के आडम्बर पूर्ण उत्सवों में भाग ले सकता है, पत्रकार सम्मेलन बुला सकता है, रेडियो, वीडियो, एवं टेलीविजन पर भाषण, फोटो-चित्र आदि प्रसारित-प्रदर्शित करा सकता है? यश-प्रतिष्ठा बटोरने एवं अपने त्याग के दिखावे का प्रदर्शन करने हेतु किए जाने वाले ऐसे और भी अनेक कार्य हैं, जिनमें तथाकथित उत्कृष्ट चारित्री कहलाने वाले श्रमणों का त्रिकरण-त्रियोग का त्याग कितना सुरक्षित रहता है?

इसका अर्थ तो यह हुआ कि वे जो-कुछ करें, वह सब हिंसा आदि दोषों से रहित है। परन्तु, अपने से भिन्न परम्परा एवं सम्प्रदाय का श्रमण देश-काल की परिस्थिति को देखकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार धर्म-प्रचार के लिए कुछ करता है, तो वह त्यागी नहीं है। लगता है, त्याग का ठेका इन तथाकथित धर्म-गुरुओं ने ही ले रखा है।

त्रिकरण-त्रियोग के त्याग का प्रश्न वर्तमान में ही उठा है, ऐसा नहीं है। यह प्रश्न युग-युगान्तर से, शताब्दियों-सहस्राब्दियों से चला आ रहा है।

श्रमण भगवान महावीर के युग में इस सम्बन्ध में शिष्य द्वारा पूछा गया है—

“कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं से ?

कहं भुंजतो-भासतो, पावकम्मं न बन्धई ?” दशवै.४,७

प्रस्तुत प्रश्न के समाधान में ज्योति-पुरुष श्रमण भगवान महावीर ने त्रिकरण-त्रियोग के त्याग के बाद प्रवृत्ति से सम्बन्धित बाह्य हिंसा से होने वाले धर्म-अधर्म के सम्बन्ध में तथा पुण्य-पाप के बन्ध के और कर्म में अकर्म के सम्बन्ध में एक ज्योतिर्मयी दृष्टि दी है —

“जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये ।

जयं भुंजतो-भासन्तो, पावकम्मं न बन्धई ॥” दशवै. ४,८

—यदि साधक यतना से, विवेक से चलता है, विवेक से खड़ा रहता है, विवेक से बैठता है, विवेक से सोता है, विवेक से आहार करता है, विवेक से बोलता है, तो उसे पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता ।

महान आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में हिंसा की परिभाषा की है—“प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोणं हिंसा” अर्थात् प्रमत्त-योग से किसी भी प्राणी के प्राणों का नाश करना हिंसा है ।

श्रमण भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है—जो प्रमत्त है विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवों को दण्ड(पीड़ा) देनेवाला है अर्थात् हिंसा करने वाला है—

“जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे त्ति पवुच्चत्ति”—१.१.४,

अभिप्राय यह है कि हिंसा-अहिंसा, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप सिर्फ बाहर की प्रवृत्ति में नहीं है । योग प्रवृत्ति मूलक हैं । जब तक योग है, तब तक प्रवृत्ति होगी ही । योग के रहते कोई भी साधक निष्क्रिय नहीं हो सकता और जहाँ प्रवृत्ति है, वहाँ बाह्य हिंसा भी है । योगों की प्रवृत्ति से किसी भी जीव की विराघना न हो, यह असंभव है । आहार, विहार, गौचरी, प्रस्रवण आदि के हेतु जाने-आने में, अपने ठहरने के स्थान को झाड़कर साफ करने में, धर्म-प्रचार हेतु एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाते समय बीच में नदी-नाला आ जाने पर पानी में से चलकर या अधिक पानी होने पर नौका के वाहन से नदी को पार करने में, वर्षा

के समय-शौच आदि जाने-आने आदि प्रवृत्तियों में, क्या त्रिकरण-त्रियोग के त्याग का पालन होता है ? क्या श्रमण भगवान महावीर के श्रमण-संघ के श्रमण-श्रमणी, जो धर्म प्रचार हेतु नौका द्वारा गंगा आदि विशाल नदियों को पार करते हैं और आज भी साधु नदियों को पार करते हैं, तथा वे पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ छपवाते हैं, मँगवाते हैं, पत्र लिखते या लिखाते हैं, वाहन से सामान भेजते-मँगाते हैं, तो उनका त्रिकरण-त्रियोग का त्याग रहता है या नहीं रहता ?

त्रिकरण-त्रियोग की प्रतिज्ञा :

तीन करण और तीन योग से साधक दीक्षा के समय जो सामायिक एवं छेदोपस्थानीय चरित्र स्वीकार करता है, सावद्य योगों का त्याग करता है, वह एकान्त रूप से पूर्णतः निवृत्ति नहीं है । मूल में लक्ष्य निवृत्ति का है, अयोग गुणस्थान को स्पर्श कर गुणस्थानातीत शुद्ध अवस्था को अनावृत्त करना है । निश्चयदृष्टि से गुणस्थान का विकास-क्रम भी अशुद्धता से शुद्धता की ओर क्रमिक गतिशीलता है । जब तक आत्मा के साथ योगों का सम्बन्ध है, तब तक संसार अवस्था है । अतः शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से योग स्वरूप प्रवृत्ति के कारण तेरहवे गुणस्थान में स्थित अर्हन्त भी पूर्ण रूप से शुद्ध स्वरूप में नहीं, अभी संसार में हैं । क्योंकि उन्हें भी अधातिरूप वेदनीय, नाम गोत्र एवं आयु कर्मों का भोग अभी भोगना शेष है और इस भोग में अमुक रूप में योग प्रवृत्ति भी कथंचित् होती है । अस्तु, चौदहवे गुणस्थान में योगों का निरोध होकर जब उसके पार गुणस्थानातीत पूर्ण शुद्ध सिद्ध अवस्था में स्थिर होता है, तब अजर, अमर पूर्ण निर्विकार अबन्ध एवं अबद्ध परमात्म-भूमिका पर साधक पहुंचता है ।

दीक्षा के समय जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण की गई सामायिक एक प्रतिज्ञा पाठ है । साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं विवेक के आलोक में अप्रमत्त भाव से अपने शुद्ध स्वरूप को अनावृत्त करूँगा । वह आवश्यक क्रियाओं का त्याग नहीं करता, अपितु राग-द्वेषात्मक भाव से कषाय-भाव से की जाने वाली हिंसा आदि प्रवृत्ति के त्याग का उपक्रम प्रारंभ करता है । विवेक पूर्वक प्रवृत्ति करते समय किसी प्राणी की हिंसा हो जाना और बात है और हिंसा जन्य भावों से हिंसा करना और बात है । भले ही वह प्रवृत्ति नौका आदि के वाहन से की गई हो या पद-यात्रा से, यदि विवेक पूर्वक की गई है, तो उससे पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता । उक्त प्रवृत्ति से एकमात्र सातावेदनीय रूप कर्मण-वर्गणा के पुद्गल

इधर आएँगे और उधर तत्क्षण ही झड़ जाएँगे, राग-द्वेष का अभाव होने से स्थिति-बन्ध नहीं होगा और यदि पद-यात्रा कर रहे हैं, परन्तु विवेक का अभाव है, तो उस विहार प्रवृत्ति से पाप-कर्म का बन्ध होगा। अस्तु सावद्य अर्थात् सदोष प्रवृत्ति नहीं, राग-द्वेषात्मक, कषायात्मक वृत्ति है। और, उसका त्याग ही सामायिक है—भले ही वह देश-व्रत की हो या सर्व व्रत की।

प्रतिज्ञा का विकृत रूप :

त्रिकरण-त्रियोग के त्याग में मुख्यता है—राग-द्वेष एवं कषाय-वृत्ति का क्षय एवं क्षयोपशम करना। क्योंकि गुणस्थानों का विकास बाह्य क्रिया-काण्ड एवं बाहर की विधि-निषेधात्मक प्रवृत्ति-निवृत्ति पर आधारित नहीं है। श्रमणत्व-साधुत्व, क्रिया-काण्ड की साधना में, वह बाह्य नियमोपनियमों में नहीं, वीतराग-भाव में है। अध्यात्म-साधना वीतराग का मार्ग है। वह जड़ता की नहीं, चिन्मय वीतरागता की साधना है। अतः साधक को पूर्णतः सावधानी रखनी है कि साधना-पथ की जीवनयात्रा में किसी भी परिस्थिति में कषायों का संस्पर्श न हो। यदि कभी प्रमाद के झोंके में कषाय का उदय हो भी जाए, तो तुरन्त संभल कर कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ को उपशान्त करके अपने स्वभाव में आ जाए। साधक को निरन्तर सजग रहना है कि जीवन में कषायों का, कामनाओं का प्रवेश न होने पाए।

परन्तु, आज क्या हो रहा है ? केवल बाह्य क्रिया-काण्ड का प्रदर्शन। कोई साधु माइक पर बोल गया कि संयम टूट गया ? देशकालादि की परिस्थिति विशेष तथा धर्म प्रचार हेतु यानादि का प्रयोग होते ही धर्मभ्रष्टता का हल्ला मचाने लगते हैं धर्म के ठेकेदार। सारा संयम माइक पर नहीं बोलने एवं पद-यात्रा में ही रह गया है। भले ही प्रेसों में उनकी पुस्तकें छप रही हैं, उनका सामान, पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ वाहनों में आ-जा रही हैं, वीडियो फिल्में खिंची या खिंचवाई जा रही हैं। खेद है, उनमें उन्हें कोई दोष प्रतिभासित नहीं होता।

इसके अतिरिक्त सभी जैन-परम्पराओं के वरिष्ठ आचार्य एवं पदवीधर तथा साधु-साध्वी अहर्निश एक-दूसरे की निन्दाबुराई में, घृणा फैलाने में, एक-दूसरे को नीचा दिखाने में संलग्न रहते हैं। विहार-यात्रा एवं गोचरी-शौच आदि के लिए जाते हुए इधर-उधर बचने का अन्य मार्ग न होने पर हरी सब्जी

छू जाए, कहीं कच्चे पानी आदि का स्पर्श हो जाए, फलस्वरूप स्थावर जीवों की विराधना हो जाए, तो प्रतिक्रमण के समय उनकी आलोचना की जाती है । परन्तु, दिन भर में एवं रात्रि में कितनी बार क्रोध आया, कितनी बार अहंकार आया, कितनी बार लोभ आया और कितनी बार माया-छल-कपट किया—जो संसार परिभ्रमण के कारण हैं, अध्यात्म-साधना के भयंकर दोष हैं, न तो उनकी कोई स्मृतिपूर्वक गणना है और न उनकी आलोचना है । लगता है, सारे महाव्रत अग्नि-पानी को छू जाने में टूट जाते हैं, परन्तु विचार एवं परिणामों के द्वारा किसी वरिष्ठ सन्त के व्यक्तित्व हनन के रूप में की गई हिंसा से असत्य से, यश-प्रतिष्ठा कामना एवं आसक्ति रूप परिग्रह से, पदार्थों के भोगोपभोग की आसक्ति से तथा कषायों से उनके महाव्रत नहीं टूटते । वस्तुतः देखा जाए, तो बाह्य हिंसा हो भी जाए तब भी साधक विरोधक नहीं होता, परन्तु कषायों में, राग-द्वेष में, वैर-विरोध में, उलझा साधक तो आगम की भाषा में संयम का आराधक रहता ही नहीं । अस्तु, वीतराग भाव को भूल कर साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा के व्यामोह में केवल क्रिया काण्ड का प्रदर्शन करना दम्भ है, मायाचार है और प्रतिज्ञा का विकृत रूप है ।

याज्ञिक हिंसा : हिंसा :

यह तर्क कितना हास्यास्पद है कि “ याज्ञिकी हिंसा, हिंसा न भवति—इस तथ्य को स्वीकारने में जैन-समाज को क्या आपत्ति है ।” श्रमण-श्रमणी की विवेक योग्य प्रवृत्ति से होने वाली बाह्य हिंसा की याज्ञिकी हिंसा से तुलना करना कथमपि संगत नहीं है । क्योंकि यज्ञों में बकरे, भेड़े, अश्व, बैल एवं मनुष्य तक की जो बलि दी जाती थी और आज भी भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में देवी की सामने बलि दी जाती है, वह पशुओं का वध करने की भावना से ही दी जाती रही है और दी जाती है । पशुओं का वध करने के क्रूर परिणामों से किया जाने वाला कार्य हिंसा ही है । इसलिए श्रमण भगवान् महावीर ने उसका विरोध किया और आज भी जैन श्रमण उसका विरोध करते हैं, परन्तु धर्मचर्या हेतु जाते हुए विशाल नदियों के बीच में आ जाने पर उन्हें नौका द्वारा पार किया जाना चिरकाल से चला आ रहा है । तीर्थंकर एवं गणधरों के काल में भी था यह । अतः उसकी तुलना बलि आदि से कैसे की जा सकती है । यान न सही, परन्तु साधु धर्म प्रचार के लिए पाद-विहार करते हैं, उसमें भी बाह्य हिंसा तो होती ही है, परन्तु वह जीवों का वध करने की

भावना से नहीं चलता और न उन्हें गिन-गिनकर मारता ही है । वैसे ही यतना एवं विवेक पूर्वक तटस्थ भाव से नौका आदि वाहन द्वारा नदी पार करते हैं । अतः पशुओं का वध करने के विचार से वध करना और योग्य प्रवृत्ति करते हुए हिंसा का हो जाना कथमपि एक नहीं है । यदि ऐसा मानेंगे, तो कोई भी साधु-साध्वी शक्य-अशक्य कैसी भी प्रवृत्ति कर नहीं सकेगा ।

श्रावक भी त्यागी बन सकता है :

राग-द्वेष एवं कषाय-वृत्ति का त्याग किसी परम्परा, किसी वर्ग विशेष या किसी वेष विशेष से संबद्ध नहीं है । अध्यात्म साधना हर व्यक्ति कर सकता है । वीतराग-भाव आत्मा का शुद्ध स्वभाव है और यह ज्योति हर जगह, हर व्यक्ति में जग सकती है । जैनेतर परंपरा के क्रियाकाण्ड में संलग्न साधक के अन्दर भी वीतराग भाव जागृत हो सकता है और वह उसी वेश में अर्हन्त ही नहीं, सिद्ध-बुद्ध हो सकता है । अन्यथा 'अतीर्थसिद्धा' का क्या अर्थ रहेगा ?

माता मरुदेवी गृहस्थ जीवन में ही थी । अन्तिम क्षण तक वह गृहस्थ के वेश में ही रही और अर्हन्त एवं सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करते समय हाथी पर सवार थी । वह तो श्राविका भी नहीं थी । न उसने श्रावक-व्रतों को स्वीकार किया और न साधु-व्रतों और न व्रतरूप में किसी धार्मिक क्रिया-काण्ड का पालन किया । भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में भगवान् की छवि को देखते ही अनन्त काल से सोयी चेतना जगी और स्वल्पतम समय में ही मिथ्यात्व की ग्रन्थि का भेदन कर इतनी तीव्र गति से परिणामों की धारा का ऊर्ध्व गमन हुआ कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गई और आयु-कर्म भी क्षय होने को था, अतः वही सिद्ध बुद्ध-मुक्त भी हो गई । वीतराग-भाव की साधना अन्दर की साधना है और वह सर्वत्र हो सकती है । अतः यह प्रश्न उठाना "परिवार-हित एवं व्यक्ति-हित के लिए हिंसा और परिग्रह का उपयोग करने वाला एक अनासक्त साधक एवं आदर्श श्रावक घर में रहते हुए त्रिकरण-त्रियोग से त्यागी क्यों नहीं बन सकता?" जैन-दर्शन के सिद्धान्त को नहीं जानना है। वीतराग-वाणी से अनभिज्ञ या सर्वज्ञ की वाणी पर श्रद्धा नहीं रखने वाला व्यक्ति ही ऐसा प्रश्न उठा सकता है। अनासक्त साधक गृहस्थ में रहते हुए भी स्वरूप में तल्लीन होते ही त्रिकरण-त्रियोग का त्यागी श्रमण ही नहीं, अर्हन्त भी हो जाता है। चक्रवर्ती सम्राट भरत भाव धारा के परिवर्तित होते ही आरिसा-भवन में ही अर्हन्त भी

हुए हैं । यह तो अन्तर्चेतना की जागृति है और वह कहीं भी हो सकती है ।
श्रमण भगवान महावीर की निर्वाण के क्षणों में दी गई दिव्य-देशना है --

“सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।” – उत्तराध्ययन ५.२०
– कुछ भिक्षुओं-साधुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते हैं ।

उपसंहार :

अस्तु, त्रिकरण और त्रियोग का त्याग आवश्यक प्रवृत्ति एवं प्रवृत्तिजन्य हो जाने वाली बाह्य हिंसा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत साधक की प्रवृत्ति राग-द्वेषात्मक एवं कषायिक वृत्ति के साथ न हो, इसके लिए है । यथार्थ में त्याग राग-द्वेष एवं कषाय वृत्ति का है । परिणामों में कषाय की तीव्रता न उभरने पाए, इसके लिए साधक को सजग होकर गति करना है, द्रष्टा-भाव से प्रवृत्ति में प्रवृत्त होना है । आज के साम्प्रदायिक उठा-पटक के अशान्त वातावरण में साधु-साध्वियों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे आत्म-निरीक्षण करके देखें कि उनकी अध्यात्म-साधना त्रिकरण-त्रियोग के त्याग की सही दिशा में कितनी आगे बढ़ रही है, राग-द्वेष एवं कषाय-वृत्ति कितनी घट रही है ? यदि कषायों को कम कर सके, तो साधना में अवश्य तेजस्विता आएगी और साम्प्रदायिक कलह-कदाग्रह भी समाप्त होंगे ।

दिसम्बर १९८५

मानवता का भीषण कलंक : जातिवाद

जीवन है, समाज है और राष्ट्र है । इन तीनों का एक-दूसरे के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है । वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपों में मानव अपनी भावनाएँ क्रिया के रूप में अवतरित करता रहता है । वे भावनाएँ हिंसा और अहिंसा के रूप में असंख्य भेदों के साथ प्रकट होती हैं, जिस किसी भी क्षेत्र में या जिस किसी भी ढंग से, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिंसा होती है, वहाँ मानव का सद्बिवेक चाहता है कि हिंसा का स्थान अहिंसा ग्रहण कर ले । अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का त्राण सम्भव है । इसलिए मानव हर स्थान पर हर रूप में, हर क्षेत्र में हिंसा को पददलित करना चाहता है और अहिंसा को प्रोत्साहित करना चाहता है ।

जो हिंसा, क्रोध, मान, माया, लोभ एवं वासना के रूप में मानव मन के अन्दर-ही-अन्दर आग की तरह सुलगती रहती है, वह आन्तरिक हिंसा है । इस हिंसा के माध्यम से हम किसी दूसरे की ही हत्या नहीं करते, बल्कि अपने ही अभद्र संकल्प से अपनी ही हत्या करते रहते हैं । आत्म-हत्या का अर्थ बन्दूक या पिस्तौल से, जहर खा कर या कुएँ में गिर कर मर जाना इतना ही नहीं है । यह तो शरीर की ही हत्या हुई । किन्तु, मनुष्य जब अपने सद्गुणों की, सद् विचारों की और सद्वृत्तियों की हत्या करता है, तो वह अधिक भयंकर है, वह ही आत्म-हत्या होती है । आत्म-हत्या कायरता है । मानव जीवन में जहाँ तक कायरता आएगी, वहाँ तक वह पतित ही होगा और सद्वृत्तियों से भ्रष्ट होगा । कायरता और भय ही मानव जीवन के पतन का कारण है और हिंसा में केवल कायरता ही होती है, वीरता नहीं । जो आदमी डरता है, भय खाता है और अपने को बचाने के लिए या अपनी कुप्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के लिए दूसरों पर क्रोध करता है, दूसरों को असद्वचन कहता है, या दूसरों को मार डालता है, वह निहायत डरपोक है, कायर है । जिसके हृदय में भय नहीं है जिसको अपने

(३३७)

जीवन की रक्षा का भार परेशान नहीं करता है, वह अपने प्राण देकर भी दूसरों की रक्षा करने के लिए तत्पर रहता है। इसलिए वास्तव में वह वीर है और वही अहिंसक भी।

कभी-कभी ऐसा भ्रम होता है कि हम कायरता को ही वीरता समझ लेते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वह भ्रम मन को इस तरह दबोच लेता है कि हम हिंसा को भी अहिंसा का नाम दे देते हैं। यही कारण है कि दूसरों की हत्या करने वाले या दूसरों की हिंसा करने वाले, वीर कहलाने लगते हैं और धर्म के नाम पर, जाति-पांति के नाम पर, सम्प्रदाय के नाम पर होने वाली हिंसा को भी अहिंसा समझ लिया जाता है। इस प्रकार अहिंसा और हिंसा सम्बन्धी उलझनें अनेक बार पैदा होती हैं। किंतु, यदि मानव अपने विवेक से काम लेता है और इन उलझनों को सुलझा देता है। जहाँ उसे अपनी बुद्धि और अपना विवेक सहारा नहीं देता, वहाँ वह इतिहास का, धर्म-ग्रंथों का अथवा प्राचीन शास्त्रों का सहारा ले लेता है। शास्त्र, चिन्तन में सहायक हो सकते हैं, किन्तु आखिर तो मानव को अपने विवेक का निर्णय ही स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि शास्त्र का भी एक कोई निश्चित फलितार्थ कहाँ है? प्राचीन काल से ही पंडित लोग शास्त्रों का अनेक प्रकार से विश्लेषण करते रहे हैं और मानव के मन-मस्तिष्क को अनेक विचित्र परिभाषाओं में उलझा देते हैं।

आज हिंसा का जो भयंकर रूप बना है, उतना उग्र रूप पहले नहीं था। जो हिंसा सामाजिक और सामुदायिक क्षेत्र में ज्यादा भयंकर और व्यापक हो रही है और उस सामाजिक और सामुदायिक हिंसा को बहुत से लोग हिंसा ही नहीं समझते। एक अखण्ड मानव - जाति अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंट गई है। उसके असंख्य टुकड़े हुए हैं। उन टुकड़ों को कोई गिनना चाहे, तो शायद अच्छी तरह से गिन भी नहीं सकेगा। सम्प्रदाय - ५१ जाति एवं वर्णों के नाम पर किस तरह ऊँच - नीच की चौड़ी खाई खोदी हुई है। ये खाइयाँ उसी तरह मानव जीवन को कष्ट पहुँचाती हैं, जिस तरह पैर में घुसा हुआ और न दिखाई देने वाला काँटा सारे शरीर को पीड़ित करता रहता है।

ये भेद प्रमेद कभी - कभी धर्म और इज्जत का प्रश्न सामने रखकर भीतर-ही जल उठते हैं और फिर विस्फोट के रूप में बाहर भी फूट पड़ते हैं। इस विस्फोट में विद्वेष की आग सुलग उठती है। इस आग में बड़े-बड़े विचारक

और समझदार आदमी भी अपनी जाति एवं संप्रदाय का अभिमान बचाने के लिए हिस्सा लेने लगते हैं, भले ही वे विवश होकर ही हिस्सा लेते हों ।

हम देखते हैं कि खंडित सामाजिकता का, सांप्रदायिकता का, जात-पांत, ऊँच-नीच आदि का रोग ऊपर से नीचे तक फैल गया है । जिस निम्न जाति के व्यक्तियों को ऊँच जाति के लोग नफरत की निगाह से देखते हैं, वे भी छूत-अछूत के भेद-भाव से भरे हुए हैं । बड़े-छोटी जातियों से घृणा करते हैं, परन्तु वे छोटी जातियों के लोग भी अपने से छोटी समझी जाने वाली जातियों से उतनी ही घृणा करते हैं । ऐसी स्थिति में इस रोग को दूर करने के लिए बहुत बड़ी क्रान्ति की अपेक्षा है । गाँधीजी को भी इसी प्रश्न को सुलझाने के लिए अपना बलिदान देना पड़ा । गोडसे के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था । परन्तु, बापू ने मुसलमानों को भी हिन्दुओं जितना ही प्यार किया, इसलिए उन्हें मार डाला गया । इस प्रकार के बलिदान हमारे अनेक पूर्वजों को भी देने पड़े हैं ।

जातिगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत और समूहगत, जो हिंसा फूटती है, वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में न देखकर घृणा और द्वेष की संकुचित दृष्टि से देखती है । कभी-कभी मनुष्य अपनी इन संकुचित वृत्तियों को दैनिक जीवन के व्यवहार में भी प्रगट कर देता है और उस कारण से वह अपनी व्यवस्थित नीतिमय परम्पराओं को तोड़ डालता है । एक बालक ठोकर खाकर रास्ते में गिर पड़ता है, तो उस समय रूढ़िग्रस्त, जातिवादी लोग यह सोचने लगते हैं कि अगर यह बच्चा किसी हरिजन जाति का या नीची जाति का हो तो इसे नहीं उठाना चाहिए । यह कितनी निर्दयता की भावना है ? जिसके हृदय में थोड़ी-सी भी करुणा होगी, दया होगी, वह बिना किसी तरह का विचार किए, उस बच्चे को तुरन्त अपनी गोद में उठा लेगा, क्योंकि यह तो मानव की मानवता है, उसका परम कर्तव्य है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के १२ वें अध्याय में हरिकेशीमुनि की एक प्रेरणाप्रद कहानी है । यह कहानी जैन-साहित्य की अमूल्य निधि है, और इस कहानी को पढ़ने से ऐसा लगता है कि हमारे पूर्वजों ने वे गलतियाँ नहीं की, जो गलतियाँ आज हम कर रहे हैं । हरिकेशीमुनि श्रेष्ठ गुणों के धारक, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले और एक महान आदर्श भिक्षु थे। उनके गुणों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार इस बात का उल्लेख करते हैं कि हरिकेशी मुनि चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे । शास्त्र में सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया गया है—

‘सोवाग कुल संभूवो, गुणुत्तरघरो मुणी ।
हरिएस बलो नाम, आसी भिक्षु जिइंदियो ।’

यह उल्लेख हमें शास्त्रकारों के हृदय तक ले जाता है । इस कहानी को समझने के लिए हमें उस युग की परिस्थिति को भी समझना चाहिए और इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जिस जमाने में जातिवाद अत्यन्त भयंकर रूप में फैल चुका था, उस समय भी जैन शास्त्रकारों ने चांडाल कुलोत्पन्न मुनि का गुणानुवाद किया है । जीवन यात्रा में कभी-कभी बड़ी अटपटी घटनाएँ सामने आती हैं । सावधान रहने पर भी मनुष्य ठोकर खा ही जाता है । किन्तु, सच्चा बहादुर वही है जो गिर कर भी उठ खड़ा होता है । हरिकेशी मुनि उन्हीं वीरों में से एक थे । उन्होंने अपने जीवन को एवं आत्मा को संभाला और वे अत्यन्त महान व्यक्तित्व वाले मुनि बन गए । जब वे गृहस्थ थे, तब चारों ओर से उन्हें अनादर मिला किन्तु, जब उन्होंने अनादर का विषाक्त घूंट पीकर अपने मन को स्थिर किया, तो श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गए । भगवान महावीर स्वयं कहते हैं कि जाति की कोई विशेषता नहीं है । तपस्या की ही विशेषता है । जीवन की पवित्रता एवं साधना ही मानव को विशिष्ट बनाती है । जाति तो केवल अहंकार जन्य विकार है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हरिकेशी मुनि हैं । चांडाल का लड़का भी कितना ऊँचा उठ सकता है, यह हरिकेशी मुनि ने अपनी उत्कृष्ट साधना से साबित कर दिया । उनका आध्यात्मिक तेज और उनका विमल यश चारों ओर व्याप्त हुआ । जैन शास्त्रों की इतनी सचोट आवाज को सुनकर भी यदि हमारे रूढ़िचुस्त समाज के लोग अपनी आँख नहीं खोलते हैं, तो उसके लिए कोई उपाय नहीं है ।

आखिर कर्ण भी तो सूतपुत्र थे । किन्तु, अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा उन्होंने अपने जीवन का जो नव-निर्माण किया, उससे वे अनेकानेक क्षत्रियों से भी अधिक बलवान साबित हुए । उन्होंने कहा—“ किस कुल में मेरा जन्म हुआ, यह मेरे हाथ में नहीं था, प्रकृति के हाथ में था । किन्तु पुरुषार्थ तो मेरे हाथ में है । फिर मैं क्यों न पुरुषार्थ करूँ ? मैं जन्म से न सही, किन्तु अपने कर्म से क्षत्रिय बन गया हूँ ।”

इसी तरह वाल्मीकि भी पहले एक ढाकू ही तो थे । किन्तु जब उनके हृदय में परिवर्तन आया और जब उनके अन्तर्-मन में करुणा का झरना

फूट पड़ा, तो रामायण के रूप में एक महाकाव्य ही फूट पड़ा । उनके इस अप्रतिम कवित्व ने सारे समाज को चमत्कृत कर दिया ।

इस सारे ऐतिहासिक सन्दर्भों के बाद, यह अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि जाति और वर्ण की मान्यताएँ नितान्त अव्यावहारिक, अपंग और अवैज्ञानिक हैं । आज तो प्रत्येक मानव को अत्यन्त उदार बनने की आवश्यकता है । यदि हृदय में उदारता, विशालता न हो, तो सारा जीवन सूखा मरुस्थल ही बन जाएगा ।

अभिप्राय यही है कि जहाँ ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है और मनुष्य के प्रति थोड़ी-सी भी हीन भावना है, तो वह हिंसा है । अहिंसा की साधना के लिए पहले हिंसा के समस्त उपकरणों से मुक्त हो जाना चाहिए । जब हमारा मन, विचार और मस्तिष्क इस बात के लिए तैयार हो जाएगा कि हमें अनावश्यक संग्रह, लोभ और वासना में नहीं पड़ना चाहिए, तब सहज ही ये बातें प्रकट हो जाएँगी। हिंसा यानी समाज को खंडित करने का विचार और अहिंसा यानी समाज को एक सूत्र में पिरोने का विचार । अगर हम मानव मात्र की एकता में विश्वास करते हैं, तो हमें अहिंसक समाज-पद्धति को चरितार्थ करना चाहिए और उसके लिए मानवता के इस कलंक को यानी जातिवाद, पंथवाद एवं सम्प्रदायवाद के पाप को शीघ्र ही धो डालना चाहिए ।

फरवरी १९८५

यह क्या हो रहा है? यह क्यों हो रहा है?

धर्म प्रधान एव धर्म प्राण कहे जाने वाले भारत की पुण्यभूमि का भद्र मानव, आज इतना अभद्र क्यों और कैसे होता जा रहा है? यह एक बड़े गंभीर आश्चर्य की बात है ।

यों तो प्राचीन काल में भी कभी-कभी मनुष्य का अन्दर का सोया हिंस्र पशुत्व बुरी तरह जाग उठता था और संहार लीला पर उतर आता था । पर, वह कुछ ही उन्मादी लोगों की ओर से की गई दुर्घटनाएँ हैं । उनमें अधिकतर वैयक्तिक विद्वेष वृत्ति के विष बीज ही अधिक हैं ।

स्कन्दक मुनि और उनके पाँच सौ शिष्यों को तिलों की तरह कोल्हू में पीस दिया गया था, राम-काल से कुछ समय पूर्व में ।

दक्षिण में दिगम्बर मुनियों के उत्पीडन की कथाएँ भी कम नहीं हैं । गजसुकुमाल मुनि को मस्तक पर आग रख कर जला दिया गया था, श्री नेमिनाथ के युग में ।

और भी कुछ घटनाएँ हैं, जो आज पौराणिक रूप ले चुकी हैं, अतः इतिहास के धुंधलके में कुछ धूमिल-सी हो गई हैं ।

परन्तु, आजकल तो जो कुछ हो रहा है, वह तो अतीव विचित्र शर्मनाक हो रहा है । 'आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकाम्' के महान् मैत्री एवं करुणा के आदर्श पर चलने वालों के हाथों में और तो क्या, संसार त्यागी विरक्त साधु-सन्तों तक का उत्पीडन हो रहा है । कितने निम्न स्तर पर उतर

आया है, आज का मानव और यह सब प्रायः हो रहा है धर्म के पवित्र नाम पर। नाम पर इसलिए कि यह धर्म नहीं है, धर्म के नाम पर सम्प्रदायवाद या सम्प्रदाय-दाह का नग्न ताण्डव है ।

काफी समय से राजस्थान के सिरोही आदि प्रदेशों में अनूप मंडल के नाम से एक ऐसा ही घृणित पंथवाद चल रहा है । खेद है, अकारण ही, यत्र तत्र श्वेताम्बर मुनिवरों पर आक्रमण होते आ रहे हैं । जैन मन्दिर जलाए जा रहे हैं, श्रावक जन लूटे जा रहे हैं, साधुओं को बेरहमी से मारा-पीटा जा रहा है । पर, अभी तक प्रतिकार के रूप में न समाज से कुछ हो पा रहा है, न सरकार से, जैसा कि मुझे मालूम हुआ है ।

सन्मतिसागरजी जैसे अनेक नग्न दिगम्बर मुनियों पर भी राजस्थान में ऐसे कुछ दुर्व्यवहार हुए हैं । कुछ समय पूर्व एक मिथ्या अफवाह फैलाकर तेरापन्थ संघ के महान आचार्य श्री तुलसीजी एवं उनके साधु और साध्वियों तक के प्रति दुर्व्यवहार किया जा चुका है, वह सर्व विदित है । उन्हें बाध्य होकर रायपुर से चातुर्मास में ही अन्यत्र विहार कर देना पड़ा । इस दुश्चक्र में किन सम्प्रदायवादी महन्तों एवं मठाधीशों का हाथ था, क्या यह भी अब बताने जैसा है ?

अभी अहमदाबाद में स्थानकवासी परंपरा की साध्वीरत्न श्री हीराबाई महासतीजी पर आक्रमण हुआ है । इसकी सुर्खी धुंधली हुई भी नहीं थी कि बम्बई में आचार्य श्री विजयरामसुरीश्वर डेहला वालों पर आक्रमण कर दिया । और अभी-अभी हिसार में नवतेरापंथ में प्रव्रजित होनेवाली भावदीक्षिता किरण कुमारी का गुण्डों द्वारा अपहरण का दुष्प्रयास किया गया, जिससे सर्व-साधारण जैन, अजैन जनता में उत्तेजना व्याप्त हो गई । साध्वीजी पर भी चप्पलें मारी गईं । साध्वियों के अपहरण की और उनके प्रति लज्जाजनक व्यवहार की, अन्य भी अनेक घटनाएँ हैं, जो समाचार पत्रों के पृष्ठों पर आ चुकी हैं ।

एक नया दौर और चला है धमकी भरे पत्रों का । ज्ञानागच्छ के सुप्रसिद्ध साधु और साध्वी का अपहरण कर सुदूर प्रदेशों में कहीं ले जाने के पत्र मिले हैं । आचार्यरत्न श्री नानेशजी के एक विद्वान सन्त की नाक काट देने का पत्र भी 'श्रमणोपासक' पत्र के द्वारा प्रकाश में आया है ।

(३४३)

इधर राणकपुर के ऐतिहासिक दिव्य - कला कृति के मन्दिर को बम से उड़ा देने की धमकी मिली है। जिन प्रतिमाओं के चशु भी अनेक बार उखाड़ कर चुराये जा चुके हैं। मूर्तियों की चोरी की बात तो आम हो गई है।

इन सब कारनामों के पीछे अन्य अजैन ही नहीं, जैनों के भी नाम आ रहे हैं। दुर्भाग्य की बात है, धर्म पर धर्म का ही आक्रमण हो रहा है। धर्म अपनी मूल आत्मा खो बैठा है, और अज्ञानान्धजन उसके क्रिया-काण्ड रूप शव को लिए बैठे हैं।

मैं केवल जैनों की बात ही नहीं कर रहा हूँ। हिन्दू, सिक्ख, ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि कोई भी हों, किसी का भी उत्पीड़न भयंकर पाप है, वह भी धर्म के नाम पर। क्या आदमी धर्म के नाम की मदिरा में सचमुच ही होश - हवाश खो बैठा है? धर्म तो जनहित में है। मैत्री, करुणा की पक्ष मुक्त निर्मल ज्योति में है। सच्चे धर्म सब 'स्व' के अपनेपन के दायरे में हैं। वहाँ पर अर्थात् पराया जैसा कुछ है ही नहीं। यह मेरा-तेरा धर्म नहीं, सम्प्रदाय हैं, जो अहम् के दम्भ में से जन्म लेते रहे हैं।

आज अपेक्षा है धर्म की शुद्ध परिभाषा को पुनः परिभाषित करने की। जहाँ भी सम्प्रदाय के नाम पर धर्म का नाम लिया जाता हो, विग्रह, कलह, घृणा फैलाई जाती हो, उसका पक्षमुक्त शुद्ध हृदय से डटकर प्रतिकार करने की, फिर वह धर्म या तथाकथित संप्रदाय अपना हो, दूसरों का हो, किसी का भी हो। शुद्ध अहिंसा धर्म में इस तरह की बातों के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रबुद्ध मनीषी वर्ग को, विशेषतः नवयुग की क्रान्ति के पक्षधर शिक्षित युवकों को इसके लिए संघटित होना है। प्रतिकार के रूप में हमें न स्वयं मरना है और न किसी को मारना है। मारना है, अज्ञानता की पशु-मनोवृत्ति को।

इधर-उधर विरोध में दो-चार जुलूस निकालने, निन्दा प्रस्ताव पास करने या सरकार के द्वार पर गुहार मचानेसे कुछ नहीं होना-जाना है। यदि ऐसा कुछ होता, तो कभी का हो गया होता। इसके लिए तो प्रत्येक परम्परा के आचार्यों को, पदवीधरों को मिलकर विचार करना है, भविष्य के लिए जनता को एकमुख हो कर क्रियाशील क्रान्तिकारी योजना अर्पित करना है।

खेद है, सर्व साधारण जनता से हमारा सम्पर्क टूट गया है । हम -अपने-अपने विशिष्ट वर्ग में अवरुद्ध हो गए हैं । इस संकीर्ण अवरोध से बाहर निकलना है, दूर दूर तक सर्व साधारण में पहुँच कर जन - जन को संप्रदायातीत शुद्ध अहिंसा, दया, मैत्री, सद्भावना का धर्म-संदेश देना है, सुप्त एवं मूर्च्छित होती जा रही मानव की आन्तरिक मानवता को जगाना है ।

सितम्बर १९८५

ज्ञानमेकं परम ज्योति

संसार में जो भी दुःख हैं, पीडाएँ हैं, यातनाएँ हैं, सबका मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान में से ही राग, द्वेष, घृणा, वैर, कलह, हिंसा, उत्पीडन आदि विकारों का जन्म होता है। जहाँ ये विकारों के भूत-प्रेत हैं, वहाँ सुख, प्रमोद एवं आनन्द कहाँ? अज्ञानमूढ़ आत्मा, जिन सांसारिक सुखोपभोगों को सुख समझता है, वे भी दुःख ही हैं। सुख तो केवल छलावा मात्र है। शास्त्रकारों ने इन सुखों को किंपाक फल की उपमा दी है। वह देखने में बहुत सुन्दर, सूँघने में बहुत सुगन्धित तथा खाने में बहुत मधुर, किन्तु अन्तिम परिणाम में विष होने से मृत्यु का हेतु होता है। संसार के सुख भी 'बहिरेव मनोहराः' हैं, किन्तु परिणाम में तो अन्ततः दुखावह हैं। अतः अनुभवी ऋषियों ने कहा है — 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' योग दर्शन २, १५ अर्थात् विवेकी साधक की दृष्टि में संसार का सब सुख भी दुःख ही है। जो अध्रुव है, क्षणिक है, वह शाश्वत आत्मानन्दरूप सुख की तुलना में दुःख नहीं, तो क्या है? और यह दुःख अज्ञानजन्य है। इसीलिए अष्टविघ्न कर्मों की गणना में सर्वप्रथम ज्ञानावरण का निर्देश किया गया है। मोह भी अज्ञानमूलक ही है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' गीता ५, १५। अज्ञान से ज्ञान आच्छादित है, इसी कारण संसारी प्राणी मोह - मूर्च्छित हैं।

अतः साधना के पथ पर सर्वप्रथम अज्ञान का निराकरण आवश्यक है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है - 'पढमं नाणं तओ दया'। दशवै. ४, १०; प्रथम ज्ञान है, तदनन्तर दया है अर्थात् चारित्र्य है, संयम है। ठीक भी है, जब कर्तव्य का कुछ अता-पता ही नहीं है, तो उस कर्तव्य का कोई यथोचित पालन क्या खाक करेगा? गतव्य दिशा का अता-पता ही न हो, तो फिर पथिक जाएगा कहाँ? यह गमन नहीं, भटकन है। अतः दशवैकालिक सूत्रकार कहते हैं - "अन्नाणी किं काही, किंवा नाही से - पावंगं।" ४, १०.

अज्ञानी क्या करेगा? वह कैसे जान सकेगा कि क्या श्रेय है, और क्या अश्रेय है। अर्थात् कालोचित हित और हित के विपरीत पापरूप अहित का उसे

क्या परिबोध होगा? दशवैकालिक सूत्र के चूर्णिकार आचार्य अगस्त्यसिंह गणी ने अज्ञानी को अन्ध की उपमा दी है। उदाहरण दिया है - जैसे नगर में आग लग जाए, सब ओर हाहाकार मच जाए, तो आँखों वाले तो अग्निरहित निरापद मार्ग से नगर से बाहर निकलकर अपनी रक्षा कर सकते हैं, किन्तु अन्धा क्या कर सकता है? दिखता नहीं है, अतः बचाव के लिए जलती आग की ओर ही दौड़ पड़ता है, वहाँ भस्म होने के सिवा और होगा क्या? यही स्थिति अज्ञानी अन्ध की है। वह भी संसार के विषय विकारों की आग में श्रेय तो क्या पाएगा, उल्टा अश्रेय में जा पड़ता है। बोल हैं आचार्यदेव के - "जहा अंधो महानगर दाहे पलित्तमेव विसमं वा पविसति, एवं छेय-पावगमजाणं तो संसारमेवाणु पडति।" उक्त प्रसंग पर सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य हरिभद्र भी यही कहते हैं - 'दिकं निपुणं हितं कालोचितं, पापकं ना अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्रनिमित्ता भावात् अन्धप्रदीप्तपलायन घुणाक्षर करणवत्।' दशवे. टीका ४, १०

अतः शत - प्रतिशत स्पष्ट है कि साधक के लिए सर्वप्रथम ज्ञान की अपेक्षा है। गीता में श्रीकृष्ण का उद्घोष है - 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' गीता, ४, ३८ अर्थात् ज्ञान के समान अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है, आत्मा को पावन करने वाला नहीं है। जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्मसात कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है। गीता का श्लोक है -

यथैघ्रांसि समिद्धोऽग्निभस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। ४.३७

श्रमण भगवान महावीर का अन्तिम देशना सूत्र के रूप में मान्य उत्तराध्ययन सूत्र में मोक्ष - मार्ग का प्रथम रूप ज्ञान ही बताया है - 'नाणं च दंसणंचेव-' २८-२। उक्त सूत्र में ही कहा गया है कि चेतन-अचेतन सभी तत्त्वों का और उनके शुद्धाशुद्ध स्वरूपों का यथार्थ परिबोध ज्ञान के द्वारा ही होता है - "नाणेण जाणइ भावे।" २८, ३५

जैन-परम्परा के महनीय यापनीय शाखा के आचार्य शिवार्य ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'भगवती आराधना' में लिखते हैं - "ज्ञान के बिना मनुष्य अपने चित्त का निग्रह नहीं कर सकता। ज्ञान, वह अंकुश है, जो मत्त हुए चित्त रूप हस्ती को नियंत्रित करता है" -

“ गाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।
गाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चिहत्थिस्स ॥ ” ७५६

जैसे सुन्दर रीति से साधी गई विद्या पिशाच को पुरुष के वश में कर देती है, वैसे ही सम्यक् रूप से आराधित ज्ञान अयोग्य कर्मकारी चित्त रूपी पिशाच को वश में करता है ।

“ विज्जा जहा पिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ।
गाणं हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥ ” ७६०

जिसके निर्मल हृदय में ज्ञान का दीप प्रज्वलित है, उसको जिनोपदिष्ट मोक्ष-मार्ग के विनाश का कुछ भी भय नहीं है ।

“गाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्ध लेसस्स ।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥ ” ७६६

ज्ञान का प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है । क्योंकि ज्ञान रूपी प्रकाश में स्थिर साधक का कभी पतन नहीं होता । सूर्य तो अल्प क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान तो समग्र विश्व को अर्थात् लोकालोक को प्रकाशित करता है —

“ गाणुज्जोवो जोवो गाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ॥
दीवेइ खेत्तमप्यं सूरुो गाणं जगमसेसं ॥ ” ७६७

जो व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश के विना चारित्र एवं तप रूप मोक्ष-मार्ग को प्राप्त करना चाहता है, वह अंधा है, अन्धकार में अति कठिन दुर्ग पर आरोहण करना चाहता है—

“गाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंघलओ अंघयारम्मि ॥” ७७०

श्री नवपद स्तुतिकार आचार्य ज्ञान को अज्ञानतप के हरण करनेवाले सूर्य के रूप में दो वार नमो-नमो कहते हुए नमस्कार करते हैं —

“ अन्नण सम्मोह-तमोहरस्स,
नमो नमो नाण-दिवायरस्स । ”

आचार्य उमास्वाति ने विश्व के सर्वोत्कृष्ट पुण्य-पद तीर्थकरत्व की उपलब्धि के हेतुओं में भी ज्ञानोपयोग को महत्ता दी है—

“ अभीक्षणं ज्ञानोपयोग संवेगौ । ”

अब प्रश्न है, इस महान ज्ञान-गुण की उपलब्धि किसके द्वारा होती है? वैसे तो निश्चय दृष्टि में ज्ञान-गुण आत्मा का ही निज गुण है। किन्तु, उसके सम्यक्-विकास में निमित्त तो अपेक्षित ही है। और, वह निमित्त है सद्-गुरु। इसलिए श्रुतज्ञान जनता के परिबोध की दृष्टि से महत्तम ज्ञान है। साधक सद्-गुरु की वाणी को सुनकर ही जीव आदि तत्त्वों का सम्यक्-परिज्ञान करता है। जड़-चेतन के भेद-विज्ञान की दृष्टि भी सद्-गुरु के उपदेश श्रवण से ही उपलब्ध होती है। इसी भावना को दशवैकालिक सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है - “ साधक सुनकर ही कल्याण - मार्ग का अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य का बोध करता है और सुनकर ही पाप-असंयम का परिज्ञान करता है। दोनों में से चिन्तन पूर्वक जो श्रेय है, उसका आचरण करता है, और अश्रेय का परिहार करता है।” सूत्र पाठ है -

“ सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयपि जाणई सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥ ” ११

सद्गुरु से श्रुतज्ञान की उपलब्धि की परम्परा प्राचीन ही नहीं, प्राचीनतम है। आगमों के रचना-काल से लेकर भगवान महावीर के निर्वाण के दशवें शतक तक अर्थात् ६८० वर्ष तक जैनागम रूप श्रुतज्ञान कण्ठस्थ ही रहा है। और, यह कण्ठस्थ अध्ययन आचार्य अर्थात् गुरु के श्रीमुख से सुनकर ही होता था। इसीलिए गुरु के उपदेश श्रवण को ज्ञान प्राप्ति का प्रधान अंग माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र (३-१) में चार दुर्लभ परमांगों का जो महत्त्वपूर्ण वर्णन है, उनमें मनुष्यत्व के बाद द्वितीय परमांग श्रुति अर्थात् सद्गुरु का उपदेश श्रवण ही है - “ माणुसत्तं सुइ सद्धा संजममिय वीरियं।” इससे स्पष्ट है, श्रुत के बाद ही श्रद्धा और आचरण का नम्बर आता है। यही बात उक्त सूत्र के तृतीय अध्ययन

(३४९)

में पुनः दुहराई गई है - “माणुस्सं विगहंलब्धं सुइधम्मस्स दुल्लहा।” उत्तराध्ययन सूत्र के दशवें अध्ययन में भी पुनः श्रुत की दुर्लभता का वर्णन है - “उत्तमधम्म सुईं हु दुल्लहा।”

स्थानांग सूत्र में श्रमण की पर्युपासना के दस महान् फल बताए गए हैं। उनमें पहला फल श्रवण है, तदनन्तर ज्ञान, विज्ञान, संयम, तप आदि का उल्लेख है --

“सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे ।

अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे ॥” ३, ४१८.

भगवती आराधनाकार आचार्य शिवार्य भगवती आराधना में स्वाध्याय की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं --

“सर्वज्ञ भगवन्तों के द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर और बाह्य भेद के रूप में-- जो बारह प्रकार के तप हैं, उनमें स्वाध्याय के समान श्रेष्ठ तप न कोई दूसरा है और न होगा”-

“बारसविहम्मि य तवे सम्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।

ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्जायसमं तवो कम्मं ॥” १०६.

जैन - परम्परा ही नहीं, वैदिक परम्परा में भी वेदों को श्रुति कहा है, जिसका अर्थ है - सद्गुरु ऋषियों से सुनना, तदनन्तर कण्ठस्थ करना। वेदान्त में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के रूप में जो साधना का क्रम है, उसमें भी सर्व प्रथम श्रवण का उल्लेख है। बृहदारण्यक में कहा है -- “आत्मा व अरे द्रष्टव्य, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः ।” - २,४,५.

शास्त्र लेखन का युग जब प्रारम्भ हुआ, तब शास्त्र पुस्तकारूढ हो गए और श्रवण की जगह पठन की परम्परा चली। और, इस पठन परम्परा में भी गुरु से पठन का ही महत्त्व है, स्वयं पठन का नहीं। गुरु के श्रीमुख से पढ़ने वाला शास्त्रज्ञ शास्त्र के रहस्य को भली भाँति जान सकता है। स्वयं अपने आप पढ़ने वाला शास्त्र के गूढ़ मर्मस्थलों को कैसे अवगत कर सकता है? यही हेतु है, स्वाध्याय के पाँच अंगों में प्रथम के दो अंग सद्गुरु से ही सम्बन्धित हैं-- वाचना और पृच्छना। ज्ञानी सद्गुरु से ही शास्त्र की वाचना लेनी चाहिए और जहाँ कहीं

शंका हो या परिबोध न हो, वहाँ सद्गुरु से पूछना चाहिए । अतएव लेखन काल के बाद भी सद्गुरु का महत्त्व ज्यों - का-त्यों महत्ता के शिखर पर है ।

सद्गुरु का गीतार्थ अर्थात् सम्यक्-ज्ञानी होना परमावश्यक है । गुरु और वह अज्ञानी हो, इसका कुछ भी अर्थ नहीं है । ज्ञानहीन गुरु का तो तत्काल परित्याग कर देना चाहिए-- "विद्याहीनं गुरुं त्यज्येत"-- उल्लेख काफ़ी पुरातन है ।

आचार्य शिवार्य भगवती आराधना में कहते हैं, जो साधु अगीतार्थ है, सूत्र के मर्मार्थ को नहीं जानने वाला है, वह साधक के ज्ञान, दर्शन, चरित्र एवं तप रूप चतुरंग अर्थात् मोक्ष-मार्ग को नष्ट कर देता है । यदि एक वार यह चतुरंग नष्ट हो गया, तो पुनः इसका प्राप्त होना सुलभ नहीं है --

"णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ।

णट्ठम्मि य चउरंगे ण उ सुलहं चउरंगं ॥" ४३१.

भारतीय इतिहास के मध्य काल से धर्मों में जो भेद-प्रभेद बढ़ते गए हैं और उनके कारण परस्पर विग्रह, कलह, द्वन्द्व उठते रहे हैं, उन सब के मूल में प्रायः अहंकार ग्रस्त अज्ञानी गुरु ही हैं । आज भी राष्ट्र धर्म के नाम पर जो हिंसा, अत्याचार और आतंकवाद के रूप में यातना भोग रहा है, वह स्पष्ट ही है अज्ञानी गुरुओं का दुष्प्रयत्न । अन्धे अन्धों का पथ-प्रदर्शन करेंगे, तो विनाश के सिवा और क्या परिणाम आएगा? अतः अपेक्षा है, पक्षपात-मुक्त निर्भय, निर्द्वन्द्व, एकमात्र सत्य के उपासक सम्यक्ज्ञानी गुरुदेवों की । उपनिषदों का "आचार्य-देवोभव" का जो शिष्य के प्रति महान उपदेश है, वह सम्यक्-ज्ञानी देवतात्मा गुरुजनों को लक्ष्य में रख कर ही कहा गया है ।

इन्हीं गुरुदेवों को मैं 'शत-शत सद्गुरुवे नमः' करता हूँ ।

रात के इस सघन तम में,

एक है गुरु दिव्य तारा ।

जो हमें सत्पथ दिखाता,

बेसहारों का सहारा ॥

नवम्बर १९८५

(३५१)

अनन्त ज्योतिर्मय चैतन्य दीप :

श्रमण भगवान महावीर

महतो महीयान श्रमण भगवान महावीर, वह अनन्त ज्योति पुञ्ज चैतन्य दीप है, जिसके लिए शक्रस्तव सूत्र में उन्हें लोक-दीप, अतएव लोक-प्रद्योतकर महातिमहान् सम्बोधनों से संबोधित किया है ।

घरती के दीपक कितने ही बड़े दीप क्यों न हों, फिर भी अपने चारों ओर अंधकार से घिरे हुए रहते हैं । आकाश का दिनकर दीप सूर्य भी लोक-दृष्टि में दो रातों के बीच का दीपक है । अर्थात् उसके आगे-पीछे भी अँधेरी रातें हैं । किन्तु, श्रमण भगवान महावीर तो वह दीप है, जो किसी भी ओर से अंधकार से घिरा हुआ नहीं है । उसके आस-पास कहीं भी, किसी भी रूप में, अंधकार की प्रतीक कोई निशा नहीं है ।

यह दीप प्रदीप क्यों है? 'प्र' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रदीप्त होने वाला दीप ।

वह लोक प्रद्योतकर क्यों है? 'प्र' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप से समग्र विश्व को अर्थात् विश्व के समग्र सत्य को द्योतित करने वाला दीप ही नहीं, प्रद्योतित करने वाला प्रदीप है ।

ऐसा क्यों है? इसलिए है, कि उसे प्रकाश के लिए बाहर के किसी निमित्त, हेतु एवं कारण की अपेक्षा नहीं है । वह स्वयं में स्वयं की अनन्त शक्ति से अनन्त-अनन्त काल प्रकाशमान है । अर्थात् वह सदा काल प्रकाश है, कभी अप्रकाश नहीं होता । वह कभी बुझा नहीं, बुझेगा भी नहीं। सुख-दुःख की कितनी बड़ी भयंकर आंधिरियाँ आईं, तूफान आए । अन्य हजारों दीप बुझ गए, किन्तु वह

नहीं बुझा। अपने प्रकाश के लिए यदि बाहर की अपेक्षा होती, तो वह इन बाहर के भयंकर चक्रवातों, तूफानों से तो क्या, साधारणसे हवा के झोंके से भी बुझ जाता ।

यह वह दीपक है, जो निर्धूम है । धरती के दीपक जलते हैं, प्रकाश देते हैं एक सीमा में, किन्तु साथ ही धुआँ भी छोड़ते हैं, इधर-उधर कालिमा फैलाते हैं । जहाँ स्थित होते हैं, वहाँ आसपास की चीजों को अपने धुएँ की कालिख लगाकर गन्दा कर देते हैं । किन्तु भगवान महावीर तो वह अद्भुत दीपक है, जो स्वयं तो क्या धुआँ छोड़ेंगे, उन्होंने तो दूसरे दीपकों के धुएँ को भी परिसमाप्त किया । यह धुआँ क्या है? अन्तर मन का विकार ही तो धुआँ है । क्रोध, मान, दम्भ, लोभ, आसक्ति आदि, संक्षेप में कहें तो राग - द्वेष ही अन्तर्मन का धुआँ है । जो स्वयं व्यक्ति को भी और आस-पास के परिवार तथा समाज आदि को भी धूमिल करता है, गंदा करता है । महावीर इस विकार के धुएँ से सर्वथा मुक्त रहे हैं ।

श्रमण भगवान महावीर की माता राजरानी त्रिशला ने उनके अवतरण के समय में चौदह स्वप्न देखे थे । यह वर्णन हमारे अतीत के साहित्य में आज भी उपलब्ध है । इन चौदह स्वप्नों के उपसंहार रूप में चौदहवाँ स्वप्न निर्धूम अग्नि शिखा का लिखा है । अर्थात् वह अग्नि ज्वाला जो धूम से रहित है । अतः विशुद्ध अग्नि देव है । इस स्वप्न ने सूचित किया था कि अवतरित होने वाला महान् चैतन्य दीप धूम रहित होगा, अर्थात् विकारों से मुक्त । यद्यपि कृष्ण ने कहा था - “सर्वारम्भा हि दोषेण, धूमेनाग्निरिवावृताः ।” अर्थात् सभी कर्म दोष से उसी प्रकार आच्छादित रहते हैं, जिस प्रकार धूम से अग्नि आच्छादित रहती है ।

महाश्रमण महावीर इस उक्ति के अपवाद हैं । उनके कर्म अर्थात् व्यवहार राग-द्वेष रूप धूम से अनावृत्त रहे हैं । भयंकर से-भयंकर प्रतिकूल उपसर्गों में भी वे क्षोभ मुक्त रहे हैं और बड़े से बड़े मनोमुग्धकर अनुकूल प्रसंगों में भी वे मोह मुक्त रहे हैं । मोह और क्षोभ से मुक्त ही उनका चारित्र्य था । जिस शान्त एवं स्वच्छ मन से वे पर्वत की कठोर शिला पर बैठे हैं, उसी प्रकार इन्द्रासन से भी बहुमूल्य मनोरम एवं रत्न जटित स्वर्ण सिंहासन पर भी सर्वथा स्वच्छ मोह-मुक्त भाव से विराजित रहे हैं । निंदा और स्तुति की गर्म और ठण्डी हवाओं से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहा है । अतः स्पष्ट है, वे विश्व में एक

अनुपम प्रदीप हैं । इसी सन्दर्भ में हमें भक्तराज आचार्य मानतुंग के वे स्तुति शब्द याद आते हैं, जिन्हें हम आज भी प्रतिदिन स्मरण करते हैं -

निर्धूमवर्तिरपवर्जित - तैलपूरः,
 कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
 गम्यो न जातु मरुतां चलिता चलानां,
 दीपोऽपरस्त्वमसिनाथ! जगत्प्रकाशः ॥

उक्त स्तुति श्लोक का भावार्थ पाठक समझ गए होंगे । संक्षेप में भावार्थ है- 'भगवान वह जगत् प्रकाश दीपक हैं, जो धूम से रहित है । बाह्य निमित्त रूप किसी बाती और तैल से भी मुक्त है । यह दीपक संपूर्ण विश्व रूप त्रिलोक को एक साथ प्रकाशित करता है । प्रलय काल के वात्याचक्रों से भी वह प्रकम्पित नहीं होता। जबकि प्रलयकाल के वात्याचक्र अचल कहे जानेवाले पर्वतों को भी विचलित कर देते हैं, एक प्रकार-से ध्वस्त ही कर देते हैं। अतः भगवान विश्व के सर्वथा, सर्वोत्कृष्ट, अनुपम, अद्वितीय दीप हैं ।

बाह्य विभूति देवाधिदेव तीर्थकर की सर्वोपरि होती है, किंतु इस विभूति में वे जल में कमलवत निर्लिप्त हैं । संसार के अनेक महानुभाव तुच्छ एवं नगण्य-सी विभूति में ही हर्षोन्मत्त हो गए हैं और, अपने अहंकार का धुआँ छोड़-छोड़कर दूसरों को धूमयित कर गए हैं । अन्य प्राणियों को इतनी रोम-प्रकम्प पीड़ाएँ दी हैं कि आज उनकी ऐतिहासिक गाथाएँ भी कोई सहृदय पढ़ता है, सुनता है, तो उसकी आँखों से अश्रु-धारा बह निकलती है। परन्तु, महावीर हैं कि इतनी विभूति में भी वे निर्धूम हैं, असंग हैं । उन्हें न कोई आसक्ति है, और न उससे उत्पन्न होने वाली कोई अन्य विकृति । यह एक विचित्र-सी बात लगती है । साधारणतया लगता है, यह अंगत है । ऐसा कैसे हो सकता है? किन्तु, महावीर हैं कि उनमें बाह्य और अन्तरंग विभूतियों में पूर्ण संगति लीलायित होती है । आचार्य पात्रकेशरी ने इस असंगति में भी संगति का उल्लेख किया है । प्रभु की असंग स्थिति का दिव्य चित्रण है यह । वे कहते हैं -

“सुरेन्द्र परिकल्पितं बृहदनर्घ सिंहासनं,
 तथा तपनिवारणत्रय मत्प्योल्लसच्चा मरुम् ।
 वसनं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंता,
 न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते ॥”

-देवेन्द्रों द्वारा रचित महान अनमोल सिंहासन है । तीन-तीन छत्र हैं । दोनों ओर दिव्य चँवर हैं । लोकत्रय के एकमात्र स्वामी हैं, फिर भी 'निरूपम निःसंगता' अर्थात् संगता में निःसंगता संगत नहीं होती है, किन्तु हे प्रभो! आप में यह पूर्णतया सुसंगत है ।

एक पात्रकेशरी ही क्या, प्रायः सभी आचार्यों ने आगमकाल से लेकर अब तक इस अनुपम निर्धूमता का अर्थात् अनासक्ति-योग का वर्णन किया है । यही वह परम ईश्वरत्व है, जो इस प्रकार परस्पर विरोधी दोनों स्थितियों में अपनी अविचल संगति बनाए रख सकते हैं ।

पूर्णिमा, प्रकाश की दृष्टि से प्रकृति के चन्द्र की देन है, किन्तु कार्तिक मास की अमावस्या जो सघन अंधकार से प्रकाशमान हुई है, उसमें आपकी ही दिव्य हेतुता है । निर्वाण के समय हजारों ही रत्नदीप श्रद्धा में जल उठे । और, इसका प्रारम्भ किया लिच्छवी और मल्ल गणतन्त्र के अठारह राजाओं ने ।

यह वह महापुरुष है, जिसने अमावस्या को प्रकाशित कर पूर्णिमा का रूप दिया । और, संकेत दिया कि जीवन में अँधेरा है तो क्या है? उसके लिए कायर होकर रोना क्या है? गण में शक्ति ही नहीं, महाशक्ति है । सब मिलकर परस्पर सहयोग का आदान-प्रदान करें, तो अँधेरे में उजाला हो सकता है । दुर्भाग्य की तमसाच्छन्न अमावस्याएँ प्रकाश की पूर्णिमाएँ बन सकती हैं । समय पर सही दिशा में, सही कर्म का सही कदम उठाना चाहिए, यदि इस संकेत को भारत या अन्य कोई भी देश एवं उसकी जनता मनसा, वाचा, कर्मणा अपना ले, तो कुछ भी असंभव नहीं है । मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है । यही संदेश देता है भगवान का निर्वाण रात्रि का दीपावली पर्व जन-जन को ।

श्रमण भगवान महावीर कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त कर गए, सिद्ध हो गए । अब वे यहाँ हमारे सामने नहीं हैं । व्यवहार दृष्टि से कहा जा सकता है यह, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है । किन्तु, मेरी दृष्टि में भगवान् अनेक रूप होकर भक्ति रूप से हर भक्त के हृदय में विराजमान हैं । इसी से ही वैष्णव संत हरि को 'घट-घट वासी' कहते हैं । बात सर्वथा तर्क-संगत है, युक्ति-युक्त है । वह भक्त ही क्या, जिसके हृदय में भगवान विराजमान न हो? स्मृति रूप में ही सही, विराजमान तो हैं ही ।

एक बात और है, श्रमण भगवान महावीर की दिव्य-वाणी के ज्योतिर्मय दीप अब भी प्रज्वलित हैं । और, वे मानव - जाति को अन्धकार में प्रकाश देते हैं । महापुरुषों की उपस्थिति स्थूल भौतिक शरीर के रूप में हो, यह अपने में महत्त्वपूर्ण तो है, किन्तु इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना उसे महत्त्व दिया जाता है । महावीर अपने उपदेशों के रूप में जो ज्ञानोपदेश दे गए हैं, वह श्रुतज्ञान-रूप में अब भी अमुक अंश में हमारे समक्ष है । उक्त श्रुतज्ञान भगवान् का ज्ञान-शरीर है । उसमें वे स्वयं जगत्प्रकाश दीप के रूप में दीपायित हैं । महापुरुष जन-कल्याण के हेतु से अन्यत्र कहीं नहीं होते, वे अपनी जन-कल्याणी वाणी में होते हैं । वे जब स्थूल शरीर से विद्यमान थे, तब भी उनकी दिव्य-वाणी ही अज्ञान अंधकार को छिन्न-भिन्न कर, जनता के अन्तर्-हृदय को प्रकाशमान करती थी । अब भी वह वाणी है । भले ही वह पूर्ण रूप में न हो, किन्तु जो भी है, उसमें से ज्ञान के प्रकाश की किरणें प्रसारित हो रही हैं । इस दृष्टि से भगवान के दर्शन हम आज भी उनकी निर्धूम वाणी में कर सकते हैं। उनकी वाणी के आसपास भूगोल-खगोल एवं क्रिया-काण्ड आदि की एकान्त मान्यताओं के रूप में जो धुआँ है, वह उनका अपना धुआँ नहीं है, वह बाद में आ घिरा है । अनेकान्त दृष्टि को भूल जाने के कारण ही यह धुआँ है । किन्तु, जिनके पास अनेकान्त दृष्टि है, वे अब भी भगवान महावीर का दिव्य-दर्शन कर सकते हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में मैं गीता महात्म्य का एक श्लोक उद्धृत कर देना चाहता हूँ, जो आनन्द-कन्द बृजनन्द श्रीकृष्ण के मुख से ध्वनित हुआ या यों कहिए ध्वनित कहा जाता है । श्लोक है -

“ गीताश्रयेऽहं तिष्ठाभि, गीता मे चोत्तमं गृहम् ।

गीताज्ञानमुपाश्रित्य श्रील्लोकान्पालयाम्यहम् ” ॥ ७

भावार्थ है - मैं गीता के आश्रय में रहता हूँ । गीता मेरा घर है । गीता ज्ञान को उपाश्रित करके मैं मीन लोक का पालन करता हूँ ।

श्रमण भगवान महावीर अपने श्रुतज्ञान के रूप में विराजमान हैं और यह विश्व दीप अपने इस घर में से विश्व को प्रकाशमान कर रहा है । आओ, हम सब साम्प्रदायिक भेद-भावों को परित्याग कर एक जुट हो कर भगवत्-वाणी का प्रचार करें और उसमें ज्ञान-शरीर रूप से विराजमान भगवान महावीर के दिव्यरूप का जन-जन को दर्शन कराएँ ।

आशा है, इस ज्योतिर्मय दीपावली - पर्व पर उस महतो महीयान अनन्त ज्योतिर्मय दीप को स्मरण करेंगे और स्मरण कराएँगे, ताकि अन्ध विश्वासों का, वैर-विग्रहों का, जाति या पंथगत आतंकवाद का अन्धकार नष्ट हो और विश्व को अहिंसा, दया, करुणा एव परस्पोपग्रह का दिव्य प्रकाश प्राप्त हो ।

बन्ध-मोक्ष क्या बाहर में हैं?
कहीं नहीं हैं, कहीं नहीं हैं ।
तत्त्व-दृष्टि से देख स्वयं में,
जो भी है, सब तुझ में ही है ।
तेरी भाव-चेतना जब भी,
पूर्ण सुनिर्मल होती है ।
तभी मलिनता के बन्धन से,
मुक्त चिदात्मा होती है ।

ज्योति पर्व : दीपावली

१२ नवम्बर १९८५

मानवीय ज्ञान चेतना का अद्भुत चमत्कार

विश्व के प्राणियों में मानव की ज्ञान चेतना सर्वोत्कृष्ट है। ज्ञानावरण कर्म के कारण उसकी ज्ञान चेतना आच्छादित रहती है, किन्तु पूर्णरूप से आच्छादन की स्थिति नहीं है। यदि पूर्ण रूप से आच्छादित हो जाए, तो वह चेतन से जड़ बन जाए, किन्तु कभी ऐसा होता नहीं है। मानव ही क्यों, जो भी चेतन तत्त्व है, वह एकेन्द्रियादि किसी भी ज्ञानावरण से आच्छादित नहीं होती। ज्ञानावरण का क्षयोपशम रहता है और उस क्षयोपशम के न्यूनाधिकता से ज्ञान चेतना न्यूनाधिक होती रहती है। साधारण मानव भी इसी स्थिति का प्राणी है।

परन्तु मानव की एक विशिष्टता है ज्ञान चेतना के सम्बन्ध में। उसका क्षयोपशम विशिष्ट स्थिति को प्राप्त होता है, तो वह यथाप्रसंग मति, श्रुति, अवधिज्ञान की सीमाओं से पार होता हुआ मनःपर्याय - ज्ञान तक पहुँच जाता है। मनःपर्याय - ज्ञान का क्षयोपशम मानव के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं होता है, यहाँ तक कि देवों को भी नहीं होता है। यदि ज्ञानावरण का पूर्णतया क्षय कर दिया जाए, तो मानव केवलज्ञान की भूमिका तक पहुँच सकता है, जो ज्ञान की सर्वोच्च अनन्त, अक्षय भूमिका है।

प्रस्तुत में हम मनुष्य की प्रारम्भिक स्थिति के सम्बन्ध में बात कर रहे हैं। मनुष्य जब माता के गर्भ में होता है, तब वह आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों को पूर्ण कर मनःपर्याप्ति तक पहुँच जाता है, उस समय उसकी ज्ञान चेतना यदि क्षयोपशम विशेष से विशिष्टता प्राप्त कर ले, तो वह गर्भ में भी विस्मयजनक चिन्तन की स्थिति पर पहुँच जाता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर जब त्रिशला माता के गर्भ में थे, तो उन्होंने एक विशेष प्रसंग पर माता के शोक की वेदना को अनुभव किया,

(३५८)

और तत्काल प्रण किया कि जब तक माता पिता जीवित रहेंगे मैं उनके समक्ष दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा। मेरे वियोग से इनको शोक की अत्यन्त असह्य संवेदना होगी। गर्भ स्थिति में इस प्रकार का संकल्प सूचित करता है कि उनकी क्षायोपशमिक चेतना कितनी अधिक विशिष्ट थी।

महाभारत काल के सुप्रसिद्ध धनुर्धर अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि जब वह माता सुभद्रा के गर्भ में था, तब रात्रि काल में सुभद्रा के आग्रह पर अर्जुन चक्रव्यूह युद्ध की रचना सुना रहे थे। चक्रव्यूह क्या होता है, उसकी युद्ध काल में रचना कैसे की जा सकती है यह सेना का एक ऐसा विशिष्ट संयोजन होता है कि वह अभेद्य हो जाता है, उसे कोई यूँ ही तोड़कर उसमें प्रवेश नहीं कर सकता, किन्तु चक्रव्यूह का कोई विशिष्ट ज्ञाता हो, तो वह उसमें अमुक विधि से प्रवेश कर सकता है। कहा जाता है कि सुभद्रा चक्रव्यूह में प्रवेश करने की बात सुनते-सुनते निद्राग्रस्त हो गई, फलतः चक्रव्यूह में प्रवेश के बाद उसे भेदन कर निकल आने की अगली स्थिति नहीं सुन पाई। गर्भ में रहा हुआ अभिमन्यु भी यह सब सुनता रहा, और मन में इस प्रक्रिया को ठीक तरह स्मृति में रखता रहा। कहा जाता है कि महाभारत युद्ध में अभिमन्यु चक्रव्यूह को भेदन कर उसमें प्रवेश तो कर गया, किन्तु निकल नहीं पाया। यह कथा सूचित करती है कि गर्भस्थ मानव शिशु भी कभी कोई क्षयोपशम विशेष से विशिष्ट ज्ञान चेतना का धनी हो जाता है।

भगवती सूत्र में भी एक ऐसे ही प्रसंग का उल्लेख है, जिसमें गर्भस्थ शिशु अपने पिता पर आक्रमण की बात सुनकर क्रोधाविष्ट हो जाता है, और पिता की रक्षा के लिए उद्यम करने लगता है।

और भी इतिहास के कहिए, अथवा पौराणिक कहिए, अनेक उदाहरण इस प्रकार के मिलते हैं। साधारण व्यक्ति इस प्रकार के उदाहरण पर प्रायः कम ही विश्वास करता है, परन्तु मानवीय ज्ञान-चेतना के विकास की चमत्कारिक गाथाएँ उन्हें यूँ ही अविश्वस्त मान कर ठुकराया नहीं जा सकता। पुरातन प्रमाणों को एक ओर रख दें, तब भी वर्तमान काल की भी कुछ घटनाएँ समाचार पत्रों के माध्यम से इसी रूप में प्राप्त होती हैं।

आगरा से प्रकाशित दैनिक "अमर उजाला" के ६ जनवरी १९८६ के अंक में "कुदरत का कमाल" शीर्षक से एक घटना प्रकाशित हुई है। जिज्ञासु पाठकों की एतत्सम्बन्धी विश्वस्तता के लिए उसे हम यहाँ ज्यों का त्यों उपस्थित कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि यह एक कैसी मनोरंजक चमत्कारी घटना है, मानवीय ज्ञान चेतना की।

"हेवार्ड (कैलिफोर्निया) ५ जनवरी (ए.पी.) पत्नी की गर्भावस्था के अन्तिम महीने पति उसके पेट पर अपना गाल सटाकर अजन्मे शिशु से रोज सुबह तथा रात को बातें किया करता था। एक दिन इस अनूठे व्यक्ति डेनियलसन ने अपने अजन्मे शिशु से कहा "अरे बच्चे मैं तेरा पिता हूँ।" बस गर्भ के अन्दर से शिशु ने जवाब में अपना पैर हिला दिया, जो गर्भवती ईलीन डेनियलसन के पेट पर साफ महसूस हो रहा था। गतवर्ष अक्टूबर में प्रसव कक्ष में डेनियलसन ने पहली बार अपने बेटे से आमने-सामने बात की। ताज्जुब की बात देखिए - पिता के, "अरे बच्चे मैं तेरा पिता हूँ" कहने पर शिशु का रोना बन्द। ईलान डेनियलसन ने बताया कि शिशु पिता की आवाज सुनते ही अपना सिर उठाकर उसे देखने लगा। यह बच्चा चार महीने की उम्र में "मम्मा" मम्मी तथा डैडी कहने लग गया था। सात महीने में तो वह चलने भी लग गया। अब तो जूस तथा वैकम जैसे कठिन शब्दों का भी सही-सही उच्चारण कर लेता है। वह अब लगातार १५-२० मिनट तक चित्रों की पुस्तक देखकर अपना मनोरंजन भी करता है। हाँ उसे "बेबी सुपीरियर" श्रेष्ठ बच्चे का खिताब मिल चुका है। इस बच्चे का प्रसव कराने वाले डॉ. एफ. रेन वानडे कार का कहना है कि यह अजूबा बालक माँ की आंतों की आवाज, उसके दिल की धड़कन, उसकी साँस की सूक्ष्म ध्वनि और अन्य कई बाहरी आवाजें आसानी से सुन लेता है।

मानव जीवन की श्रेष्ठता के जो अमर गान धर्म शास्त्रों एवं पुराणों में अनुगुंजित हैं, वे इसी ज्ञान चेतना की सर्वोत्तम उपलब्धि के कारण हैं। उक्त ज्ञान चेतना का मानव यदि जन मंगल एवं लोक कल्याण के लिए उदात्त मन से उपयोग करे, तो वह अवश्य ही शास्त्रोक्त अपनी यशो-गाथा का सही अधिकारी हो सकता है। यदि ये चेतना यथोचित रूप में विकसित न हो एवं लोक कल्याण के पथ पर अग्रसर न हो तो मानव भी एक ऐसा पशु ही है जो मानव का तन तो रखता है, किन्तु मानव जैसा स्वच्छ नेर्मल, एवं लोकहितकर मन नहीं रखता। उसकी उत्कृष्टता और निकृष्टता अपनी बौद्धिक चेतना के सदुपयोग एवं दुरुपयोग

पर निर्भर है । हमें ऐसा मानव चाहिए, जो अपने सुख-दुःख की चेतना के साथ दूसरों के सुख दुःख को भी भली भाँति स्पष्ट कर सके । ऐसे मानव ही धरती के यथार्थ देव होते हैं ।

फरवरी १९८६

क्या यही देवत्व है? और, यह आपको अपेक्षित है?

मानव -मस्तिष्क पर मानव सभ्यता के आदि काल से ही दैवी-जगत् का कभी कम, तो कभी ज्यादा प्रभाव रहा है। स्वर्ग के देवों के रंगीन सुख-भोगों के वर्णन प्रायः सभी धर्मों के साहित्य में अंकित हैं, जो मनुष्य के हृदय में एक ऐसा प्रलोभन पैदा करते आए हैं, जिसे साफ करना काफी मुश्किल रहा है।

मैं विचार करता हूँ, उक्त वर्णन तथ्य और औचित्य के साथ कितना सम्बन्ध रखते हैं? और उससे मानव-जाति का कल्याण अधिक हुआ है या अकल्याण?

देवताओं के वर्णन में लिखा मिलता है, कि वे पुष्प शय्या में जन्म लेते हैं। अतः उनकी न कोई माँ होती है, और न कोई पिता। माता-पिता ही नहीं, तो भाई-बहन आदि का तो अस्तित्व ही कहाँ रहता है? विवाह की नैतिक पद्धति के आधार पर वहाँ पति-पत्नी के सम्बन्ध भी नहीं हैं। स्पष्ट है, दैवी-जगत् में परिवार जैसी कोई चीज नहीं है। और यह परिवार हीनता पशुपक्षी जगत् के साथ कुछ अंश में मिल जाती है। परिवार और उससे सम्बन्धित प्रेम और कर्तव्य मानव-जगत् को ही विशिष्टता प्रदान करते हैं।

देवों के वर्णन में देवताओं की अपेक्षा देवियों की अल्पायु होती है। इस प्रकार एक देव अनेक नई-नई देवियों का उपभोक्ता बनता जाता है, साथ ही एक देव के अनेक देवियों की चर्चा भी की गई है। यह भूमण्डल के राजा - महाराजाओं, श्रेष्ठियों के बहु-विवाह की प्रथा से सम्बन्धित है, जो विकसित सभ्यता की दृष्टि में एक निकृष्टतम प्रथा है।

देवलोक में अपरिग्राहिया नाम से वेश्याओं का भी वर्णन है। जैन-साहित्य में यह वर्णन उपलब्ध है। साथ ही हिन्दू-साहित्य में भी उर्वशी, (३६२)

मेनका, तिलोत्तमा आदि देव-जगत् की वेश्याएँ ही तो हैं। इन्द्र द्वारा उनसे ऋषियों को पथ-भ्रष्ट करने की कथाएँ आज भी बड़े गौरव से वर्णित की जाती हैं। खेद है, धरती की वेश्याओं के भोग की कथाएँ स्वर्ग में भी पहुंच गई हैं। क्या यह नैतिक जीवन है? इस प्रश्न चिन्ह का धर्म-धुरन्धरों के पास क्या उत्तर है?

स्वर्ग का कोई देव मर जाता है, तो तत्कालीन उसकी देवियाँ नये जन्म लेने वाले देवता की उपभोग्य बन जाती हैं। इसका अर्थ है देवलोक में देवियों की स्थिति मात्र एक उपभोग्य सामग्री के रूप में ही है, उसका कोई नैतिक आधार नहीं है।

सभ्य जगत् में इस नीतिहीन क्रिया-कलाप को किस नजर से देखा जाए, बुद्धिमान पाठक स्वयं सोच-समझ सकते हैं। इन देवियों से तो भारत के सभ्य समाज की नारियों की स्थिति ही अधिक ठीक है। यह है, स्वर्ग-लोक का महिमान्वित आचार, जिसकी गाथाएँ गाते हुए आज धर्म-धुरन्धर थकते नहीं हैं।

देवों की एक दशा वर्णित की है, वह यौवन की। जन्म-काल से लेकर मृत्यु के अन्तिम क्षणों तक देव युवक ही बने रहे हैं। और, यह यौवन केवल वैषयिक सुखोपभोग के लिए ही प्रायः स्वीकृत है। मानव की यौवन दशा तो पुरुषार्थ, कर्म-योग, सेवा और धर्मारोघना की दृष्टि से भी उपयुक्त है। इसपर से स्पष्ट है, देवों के यौवन की अपेक्षा मानव का यौवन, धर्म और समाज की दृष्टि से अधिक कल्याणकारी है।

स्वर्ग में दास प्रथा भी है। जैन-पुराण और कुछ ग्रन्थ कहते हैं कि अभियोग्य देवता अपने स्वामी बड़े देवता की गुलामी करते हैं। स्वर्ग में पशु जाति नहीं है। अतः अभियोग्य देव ही घोड़े, हाथी के रूप में अपने को रूपान्तरित करके सवारी का काम करते हैं। आज सभ्य देशों में दास प्रथा समाप्त की जा चुकी है तथा की जा रही है, किन्तु देवलोक में यह घृणित प्रथा अनादि काल से चली आ रही है। क्या धरती पर से स्वर्गलोक में जाने वाले त्यागी-वैरागी महात्मा, साधु जन, उक्त अनाचारों के प्रति आवाज नहीं उठा सकते? क्या आवाज उठाएँगे? वे स्वयं उसके उपभोग में लिप्त हो जाते हैं।

स्वर्ग लोक में कित्त्विषिक देव भी होते हैं । उनकी दशा अछूतों जैसी होती है । देव बन गए तो क्या, रहे तो एक प्रकार से अछूत ही । मानव सभ्यता में आज अस्पृश्यता को बुरी नजर से देखा जाता है, और उसके लिए महात्मा गांधी जैसे महापुरुष सत्याग्रह करते हैं, सरकार कानून बनाती है और अस्पृश्यता निवारण के लिए यथाशक्य सामाजिक आन्दोलन भी किये जाते हैं । क्या स्वर्ग में कोई महात्मा गांधी नहीं है? क्या न्यायोचित सरकार नहीं है? क्या सामाजिक चेतना जागृत नहीं है । अपेक्षा है, वहाँ कोई महात्मा गांधी जैसा महान् आत्मा पहुँचे । यहाँ अपने को महात्मा गांधी से भी ऊँचा मानने वाले महान् सन्त स्वर्ग में जाकर आखिर क्या करते हैं? कुछ समझ में नहीं आता ।

स्वर्ग में कुछ ऐसे निकृष्ट देव भी होते हैं, जो दूसरे देवों की देवियों का एवं विशिष्ट अलंकारादि का अपहरण करते हैं । खेद है, देव होकर भी चौर्य-कर्म जैसे असामाजिक अपराध कर्मों में लिप्त हैं ।

जैनों में तो नहीं, किन्तु हिन्दुओं में तो ऐसे भी देवता हैं, जो मांस खाते हैं, मदिरा पीते हैं और उन्मत्त होकर घरती के निर्दोष लोगों को सताते हैं। हजारों, लाखों, यहाँ तक कि करोड़ों बकरे और भैंसे बलि के रूप में देवताओं को बलि देने के लिए काट दिए जाते हैं । केवल बेचारे मूक पशु ही नहीं, नरबलि के रूप में अबोध बच्चे, युवक आदि का बलिदान भी किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रहा है । मुझे आश्चर्य होता है, यहाँ बात-बात पर अहिंसा की गुहार मचाने वाले महान् अहिंसाव्रती साधक मरकर स्वर्ग में जाते हैं, तो वे मानव लोक में आकर आकाश में यत्र-तत्र खड़े होकर उक्त हिंसा के विरोध में उद्घोषणा क्यों नहीं करते? यदि वे इस सम्बन्ध में थोड़ासा भी प्रयत्न करें, तो लाखों-करोड़ों मूक पशुओं के प्राणों की रक्षा हो सकती है । क्या वे स्वर्ग के सुखोपभोग में इतने अधिक डूब जाते हैं कि अपनी दया-करुणा की चिर प्रिय साधना भूल जाते हैं? कहाँ चली जाती है, वहाँ उनकी वह अहिंसा भगवती की अखण्ड उपासना?

स्वर्ग के अनेक वर्णन उन्मुक्त विलासिता के उतने अधिक घृणित वर्णन हैं कि जिन्हें यहाँ अंकित करने में कागज, कलम और स्याही गन्दे हो जाते हैं । इतनी अधिक अश्लीलता के वर्णन हैं, जिन्हें साधारण पुस्तकों में भी स्थान नहीं

मिलना चाहिए। खेद है, वे धर्म-शास्त्र कहे जाने वाले ग्रन्थ भी धर्म शास्त्रों में मूर्धन्य स्थान प्राप्त किए हुए हैं। और, यदि कहीं कोई प्रबुद्ध पाठक इन वर्णनों के विरुद्ध आवाज उठाता है, तो धर्म-नाश की दुहाई दी जाने लगती है।

एक बात और है, और बड़ी ही विचित्र है। यहाँ धरती पर मनुष्य को त्याग वैराग्य का उपदेश दिया जाता है। त्याग के नाम पर अनेक बोध-शून्य घोर यातनाएँ शरीर को दी जाती हैं। किंतु आज उनका फल क्या है? जरा पुछें, तो बताया जाता है, कि इनसे परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होगी। आजकल कुछ धर्म मुक्ति नहीं मानते, उनमें एक जैन-परम्परा भी है। इसका अर्थ है कि धरती पर किया गया त्याग और वैराग्य स्वर्ग में अनियन्त्रित एवं अमर्यादित सुखोपभोग पाने के लिए है। त्याग की परिणति भोग में। कितना विचित्र विरोधाभास है? कारण और कार्य में कोई तर्क-संगत सम्बन्ध ही नहीं हो पाता है। यहाँ एक स्त्री का त्याग और वहाँ बदले में हजारों अप्सराएँ। जरा विचार किया जाए, तो कुछ सत्य समझ में आ सकता है और असत्य का परिहार किया जा सकता है। किन्तु, इसके लिए सत्साहस की अपेक्षा है और सांसारिकता से ऊपर उठ कर तर्कसंगत ज्ञानचेतना की आवश्यकता है।

स्पष्ट है, जब तक स्वर्ग का प्रलोभन रहेगा, और स्वर्ग के देवताओं से कुछ पानेकी आकांक्षा रहेगी, तब तक धूर्त लोगों के द्वारा देवों के नाम पर अनेक अनर्थ परम्पराएँ चलती ही रहेंगी, और बेचारे भ्रान्त लोग ठगे ही जाते रहेंगे। काली, महाकाली की पूजा होती ही रहेंगी। मूक पशु कटते ही रहेंगे। कत्लखानों का विरोध होना ही चाहिए, किन्तु इससे भी अधिक बलिदानों के विरोध की अपेक्षा है। जिनके देवता मांस खाते हैं, वे स्वयं मांस खाना कैसे छोड़ेंगे? जिनके देवता मदिरा पीते हैं, उनके भक्त भला मदिरा पीना कैसे छोड़ सकते हैं? सत्य के लिए कुछ आहुति देनी है, तो सर्वप्रथम देवताओं के नाम पर प्रचलित दुष्कर्मों के प्रति देनी चाहिए। पूर्वकाल के अनेक महापुरुषों ने उक्त दैवी अत्याचारों का डटकर विरोध किया था। किन्तु खेद है, कि उनके शिष्य-परम्परा में असत्य का विरोध करने के लिए वह जीवन्त शक्ति नहीं रही, जो उनके बताए उपदेशों के लिए मार्ग प्रशस्त करती। मार्ग तो क्या प्रशस्त करना था, वे स्वयं ही भ्रान्ति के माया-जाल में उलझती गईं। स्वर्ग के सुखों का प्रलोभन दिया जाने लगा और देवताओं की महिमा के गीत गाए जाने लगे। यहाँ तक कि

देवताओं के विरोध में कुछ भी कहा जाए, तो उसे देवता की आसातना माने जाने लगा और उसके विरोध में प्रायश्चित्त के रूप में मिच्छामि दुक्कडम् का उद्घोष भी होने लगा ।

प्रबुद्ध पाठक साम्प्रदायिक एवं पुरातन परम्परा की दृष्टि से नहीं, सत्य शोधक की तटस्थ दृष्टि से विचार करें, कि स्वर्गीय देवों के अनेक अभद्र कल्पित वर्णनों से मानव-जाति का अहित अधिक हुआ है या हित? स्पष्ट है, हित नहीं, अहित ही अधिक हुआ है । आज समय आ गया है, हम उक्त अहित के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द करें । फिर भले ही कोई हमारी निन्दा करे या स्तुति । सत्य को मात्र सत्य की ही अपेक्षा है और उसके लिए स्पष्ट चिंतन की अपेक्षा है। स्पष्ट चिंतन के लिए निन्दा या स्तुति कोई अर्थ नहीं रखती ।

धर्म-ग्रन्थों में देवों की जो भोग-प्रधान रजोगुणी स्थिति का वर्णन है, उसका निराकरण होना चाहिए । और, जो नैतिक, पवित्र, जन-कल्याणी सात्त्विक स्थिति है, मात्र उसी का धर्म-ग्रंथों में स्थान रहना चाहिए । शुद्ध धर्म एवं शुद्ध समाज की दृष्टि से देवों की यह सात्त्विक स्थिति ही जन साधारण तक पहुंचनी चाहिए । इसी में धर्म-ग्रन्थों का, धर्म-ग्रन्थों के निर्माताओं का और साथ ही देवों का भी गौरव सुरक्षित रह सकता है ।

मार्च १९८६

कुछ विचारणीय प्रश्नबिन्दु

धरती पर असंख्य प्राणी हैं। उनमें एक प्राणी है, जिसे हम मनुष्य कहते हैं, इन्सान कहते हैं, आदमी कहते हैं। और, एक आकाश का प्राणी है, जिसे हम देवता कहते हैं, सुर कहते हैं, फरिश्ता कहते हैं, अनेक नाम हैं उस प्राणी के। इन दो प्रकार के प्राणियों में एक ओर धरती का मनुष्य है और दूसरी ओर आकाश का देव। भारत की आध्यात्मिक धार्मिक सभी परम्पराओं के प्रबुद्ध पुरुषों ने मानव की श्रेष्ठता को एक स्वर से स्वीकार किया है। आगमों में स्पष्ट लिखा है—मानव से बढ़कर अन्य कोई प्राणी श्रेष्ठ नहीं है। देव भी मानव-चरणों में नत-मस्तक होता है।

किन्तु, दूसरी ओर देवों की महिमा के गान भी इतने बढ़ा-चढ़ा कर दिए हैं कि साधारण मनुष्य ललचाई आँखों से देवताओं के वैभव की ओर देखना शुरू कर देता है। बीच के काल में कुछ ऐसे भी शास्त्रकार हुए हैं, जिन्होंने कहा—तुम यह मन्त्र जपो, वह तन्त्र करो, ऐसा यन्त्र रखो, तो देवता तुम पर प्रसन्न हो जाएँगे और तुम्हारी सभी समस्याओं का निराकरण कर देंगे। इन भ्रांत धारणाओं के जाल में साधारण इन्सान ऐसा उलझ गया कि वह देवताओं की उपासना में, पूजा-अर्चना में, उन्हें प्रसन्न करने में १५-२० वर्ष गुजार देगा, परन्तु स्वयं स्वयं पर विश्वास करके स्वयं के पुरुषार्थ से अपनी समस्या का हल करने का प्रयत्न नहीं करेगा। वह देवों की महिमा के पीछे पागल बन कर स्वयं की शक्ति को भूल जाता है।

मध्य-युग में जैन आचार्यों ने भी धर्म की उल्टी गंगा बहा दी। वस्तुतः धर्म था—बन्धन-मुक्ति के लिए। धर्म एवं अध्यात्म-साधना थी—राग द्वेष की धारा को क्षीण करने के लिए। परन्तु, बाद के आचार्यों ने उल्टी गंगा बहानी शुरू कर दी। आज उनका स्वर ही बदल गया। उन्होंने कहना शुरू कर दिया—धर्म, तप, संयम, सदाचार, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की साधना करो, इससे तुम

बंधन से मुक्त तो हो नहीं सकते, पर देव बन जाओगे । आत्म-साधना से तुमको स्वर्ग मिलेगा । स्वर्ग में अपार वैभव एवं भोगविलास के साधन मिलेंगे । साधना के फल के रूप में देव बनने का प्रलोभन दिया गया । यथार्थ में देखा जाए, तो वे जैन-दर्शन का गणित ही भूल गए। तप करो, त्याग करो, साधना करो, पर उसका फल क्या मिलेगा? तो त्याग का फल भोग बताया गया । यहाँ भोग का त्याग करो, खाना छोड़ो, सुख-साधन छोड़ो, घर से भागो, मरने के बाद तुमको स्वर्ग मिलेगा । वहाँ तुम सब-कुछ पा लोगे । एक पत्नी का त्याग करोगे, तो हजार अप्सराएँ मिल जाएँगी । कुछ सम्पत्ति का यहाँ दान कर दोगे, तो देवलोक में तुम्हें रत्नों के महल मिल जाएँगे । यह विचित्र विरोधाभास है । ऐसा विरोधाभास है कि जिसका कोई समाधान नहीं ।

अभी कुछ दिन पूर्व बेंगलोर से डी. रमेश जैन का एक पत्र आया है । इस नवयुवक को मैं जानता नहीं हूँ । उक्त पत्र में उसके वेदना से भरे कई प्रश्न हैं । उसमें से एक प्रश्न है । एक तरफ तो धर्मगुरु कहते हैं कि कलिकाल है । इसमें धर्म क्षीण होता जाएगा, पापाचार बढ़ेगा । तब वह पूछता है कि आप उपदेश क्यों देते हैं । जब आपने स्वीकार कर लिया कि धर्म का दिवाला निकलने वाला है । फिर धर्म का उपदेश देने का क्या अर्थ है ?

क्या समाधान है इसका? यह एक विरोधाभास है । धर्म कभी क्षीण नहीं होता । उसका तात्त्विक अन्तरंग स्वरूप, जो भगवान महावीर के समय में था, उनके पूर्व में हुए २३ तीर्थकरों के समय में था, २३ ही क्यों, अनन्त तीर्थकरों के समय में था, वही आज है और भविष्य में भी रहेगा । हास एवं विकास अथवा परिवर्तन-परिवर्द्धन उसमें ही होता है, जो देश-काल अर्थात् युग के अनुरूप, क्रिया-काण्ड संबंधी व्यावहारिक धर्म के रूप में स्वीकार किया जाता है । धर्म की साधना आत्मा की अन्तर्-ज्योति है । अतः धर्म अन्तर्-जागरण में है, आत्म-ज्योति पर आए हुए विकारों के आवरण को हटाने में है । धर्म के उस ज्योतिर्मय स्वरूप की अवगणना करके देवों को उच्चतम आसन पर बैठा दिया गया । उसी का परिणाम है कि धर्म की ज्योति धूमिल होती गई, क्रिया-काण्ड का बाह्य आडम्बर एवं राग-द्वेषात्मक तमस् इतना गहरा छा गया कि धर्म को पहचानना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन हो गया ।

क्या श्रमण भगवान महावीर भी ऐसा ही मानते थे? भगवान महावीर के नाम से कहने को तो हम बहुत-कुछ कह देते हैं । परन्तु वास्तव में देखें, तो

भगवान महावीर का दिव्य स्वर महत्त्वपूर्ण था । वे देव से अधिक श्रेष्ठ मानते थे मानव को । जिसकी मानवता जागृत है, जिस मानव का जीवन धर्ममय है और धर्म की ज्योति से जिसका अन्तरंग ज्योतिर्मय है, वह देवों का ही नहीं, देवेन्द्रों का भी पूज्य है । इसलिए भगवान महावीर ने कहा था— मानव का शरीर है तो हाड़-मांस से बना हुआ, मल-मूत्र से परिपूरित, परन्तु वह इस मिट्टी के पिण्ड में धर्म का दीप प्रज्वलित कर ले, तो ब्रह्माण्ड में उसके तुल्य अन्य कोई भी प्राणी श्रेष्ठ नहीं है । अरे, मानव तू अपने स्वरूप को समझ और अन्तर्-ज्योति जगा ले, फिर देवता तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ते फिरेंगे, देवेन्द्रों के मस्तक तुम्हारे चरणों में झुकेंगे । याद रखो, जब तुम जाग जाओगे, तो आध्यात्मिक विकास के उच्च शिखर का स्पर्श कर लोगे, जिसके आगे और कोई ऊँचाई नहीं है । स्वर्ग तो तेरे चरणों में झुकने के लिए है । तुम देवों के चरणों में झुकने के लिए नहीं हो, देव तुम्हारे चरणों में नत-मस्तक होने के लिए है ।

मूल आगमों में दशवैकालिक महत्त्वपूर्ण रचना है । आचार्य शय्यंभव राजगृह का राजपुरोहित रहा है । उस समय शय्यंभव भट्ट कहते थे । उसने जैन श्रमण की दीक्षा ले ली । और आचार्य बन गया । उसने द्वादशांगी में से भगवान की वाणी का संकलन करके दशवैकालिक की रचना की । उसने उसके प्रारम्भ में श्रमण भगवान महावीर के एक दिव्य संदेश को उद्धृत किया है ।

“धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥”

धर्म ही मंगल रूप है, कल्याण रूप है और वह उत्कृष्ट मंगल रूप है। वह सर्वोपरि सर्व श्रेष्ठ मंगल है, जो कभी भी अमंगल रूप नहीं होता । वह धर्म क्या है? इसकी व्याख्या भी इस गाथा में कर दी है कि अहिंसा, संयम और तप धर्म है । जिस साधक का मन धर्म में लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

तुम्हारे मन में अहिंसा का, करुणा का भाव जागृत होता है, दूसरे की पीड़ा को देखकर मन अनुकम्पित हो उठता है और उस पीड़ा को दूर करने का प्रयास करते हो, यही अहिंसा है । अहिंसा का अर्थ केवल किसी प्राणी को नहीं मारना, इतना ही नहीं है, प्रत्युत विश्व की प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के

समान सुख-दुःख की अनुभूति करने वाली समझकर उसे दुःख से, कष्ट से छुटकारा दिलवाना एवं सुख-शान्ति देने का प्रयास करना, अहिंसा है। धर्म अहिंसा के दर्शन में है, प्रदर्शन में नहीं। प्रदर्शन दूसरों को तमाशा दिखाने के लिए है और दर्शन आत्मानुभूति के लिए है।

संयम धर्म है। जीवन में वासनाओं का, कामनाओं का जो प्रवाह बह रहा है, उसमें एक असहाय तिनके की तरह बहते जाना संसार है। क्रोध आया, तो क्रोध की धारा में बह गए। अहंकार आया, माया, लोभ-लालच आया, राग-द्वेष आया और बह गए उसकी धारा में। धर्म है कषायों के, राग-द्वेष के, वासना के प्रवाह में भी अपने आपको नियंत्रित रखना। इसके साथ मान प्रतिष्ठाओं के व्यामोह में स्वयं को सँभालकर रखना है। न किसी सांसारिक लोभ या भय से, न परलोक के लोभ या भय से, प्रत्युत सहज भाव से अपने स्वभाव में स्थित रहने के लिए अपने मन को नियंत्रित रखना संयम है। किसी बाह्य क्रिया-काण्ड में उलझे रहना संयम नहीं है। संयम है, पर-भाव से, विभाव से स्वयं को हटाकर स्वभाव में स्थित होना। राग-द्वेष से हटकर वीतराग भाव से आना संयम है। संयम का अर्थ है - राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतराग-भाव की ओर बढ़ते रहना। राग असंयम है, वीतराग-भाव संयम है।

तप धर्म है। जीवन में कष्ट आते रहते हैं, पीड़ाओं के क्षण भी आ जाते हैं। यह भी संभव है, कुछ अज्ञानी व्यक्ति उत्पीड़ित करें। उस समय ज्ञानपूर्वक समभाव में स्थित रहकर उन्हें सहन कर सको, यह तप है। तप वह ज्योतिर्मय ज्वाला है, जिसमें विकारों का मल जलकर नष्ट हो जाता है और साधक तपे हुए स्वर्ण की तरह निखर जाता है, जिस पर न तो राग-द्वेष आदि विकारों की कालिख लगती है और न जंग ही लगता है।

तप का अर्थ है - इच्छाओं पर, आकांक्षाओं पर नियंत्रण करना। इस लोक या परलोक से सम्बन्धित किसी भी तरह की आकांक्षा का नहीं होना, इच्छाओं का निरोध करना तप है। केवल उपवास, बेला, तेला, मासखमण आदि करना ही तप नहीं है। यह तो सिर्फ बाह्य तप है। तप है, अन्दर में समत्व भाव का आना। समत्व की ज्योति इतनी प्रबल हो कि विषमता का अंधकार नष्ट हो जाए, सारा मैल साफ हो जाए। जैसे स्वर्ण को तपाते जाते हैं, तो उसमें संलग्न पूरा मैल जलकर समाप्त हो जाता है और सोना अपने शुद्ध स्वरूप में

चमक उठता है । मक्खन को अग्नि पर तपाने पर उसमें जो छछ का अंश है, वह जल जाता है और शुद्ध घी निखरता जाता है । यह दृष्टि है समत्व साधना की । समत्व ही तप है और यही धर्म है । समत्व के सिवा और कोई धर्म नहीं ।

जिस साधक के जीवन में समत्व की ज्योति प्रज्वलित हो गई, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं । नमस्कार का अर्थ सिर्फ सिर झुकाना नहीं, प्रत्युत समर्पण कर देना है । अतः देव एवं देवेन्द्र भी अपने को सर्वात्म-भाव से समर्पण कर देते हैं, उस साधक के चरणों में, जिसके अन्तर् में समत्व की ज्योति प्रज्वलित हो गई है ।

अस्तु श्रमण भगवान महावीर के दर्शन में धर्म का फल न तो देवों का सन्तुष्ट होकर भौतिक साधन देना है, न यश-कीर्ति, मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति है और न स्वर्ग की प्राप्ति है । धर्म का फल है — कषायों का उपशान्त होना, विकारों का नाश होना, राग-द्वेष का क्षीण होना और आत्मा में अखण्ड शान्ति की अनुभूति होना । अस्तु, धर्म किसी विशेष प्रकार के क्रिया-काण्ड में नहीं, समत्व की साधना में है, कषायों की आग का उपशमन करने में है, राग-द्वेष को क्षीण करने में है ।

श्री रमेश का दूसरा प्रश्न है, कि जब मानव को सर्व श्रेष्ठ प्राणी स्वीकार कर लिया, तब फिर आज जन-संख्या पर रोक क्यों लगाई जा रही है? बढ़ती हुई आबादी की भीड़ को नियंत्रित क्यों किया जा रहा है ?

मनुष्य की श्रेष्ठता सिर्फ मानव के आकार को प्राप्त कर लेने में नहीं है । श्रेष्ठता इस मिट्टी के पुतले की नहीं है । वह है, अन्दर के इन्सान की अर्थात् मानवता की, इन्सानियत की । इस बढ़ती हुई आबादी की भीड़ को श्रेष्ठ नहीं कहा है । क्योंकि ये केवल आकार से मनुष्य हैं, परन्तु अन्दर में पशुत्व जागृत है । इसलिए मनुष्यों की भीड़ समाज एवं राष्ट्र के लिए एक विकट समस्या है और यह समस्या विकटतर बनती जा रही है । इसलिए इसे नियंत्रित करना राष्ट्र के हित में है । अस्तु, मानव की श्रेष्ठता उसके उदात्त भाव एवं उज्ज्वल जीवन के कारण है । और, वह धर्म से जागृत होता है ।

एक प्रश्न है-नरक में असंख्य सम्यक्-दृष्टि आत्माएँ हैं । किसी समय अज्ञान एवं प्रमाद के वश कोई दुष्कर्म हो गया और नरक का बन्धन पड़ गया,

उसे तोड़ नहीं सके । तत्पश्चात् अन्तर्ज्योति जगी, आत्म-स्वरूप का बोध हुआ, सम्यक्-दृष्टि प्राप्त हो गई । परन्तु, पूर्व में बद्ध कर्म के कारण उन्हें नरक में जाना पड़ा । ऐसे प्राणियों में मगध सम्राट श्रेणिक भी हैं, जो नरक में वेदना पीड़ा भोग रहे हैं । बाहर में ऐसा प्रतीत होता है कि वे अत्यधिक दुःख-क्लेश पा रहे हैं ।

दूसरी ओर अनेक मिथ्या-दृष्टि अज्ञान तप आदि की साधना से इक्कीसवें देवलोक तक चले आते हैं । भौतिक सुख की दृष्टि से वे मिथ्या-दृष्टि इक्कीसवें स्वर्ग में कितने वैभव में खेल रहे हैं, कितने आराम में हैं और नरक तल से कितनी ऊँचाई पर हैं ।

एक ओर नरक में स्थित सम्यक्-दृष्टि दुःख का वेदन करता है और दूसरी ओर मिथ्या-दृष्टि स्वर्ग के भोगों का वेदन करता है । बाहर में मिथ्या-दृष्टि अच्छी स्थिति में परिलक्षित होता है । परन्तु प्रश्न है - दोनों में श्रेष्ठ कौन है ?

महाश्रमण भगवान महावीर कहते हैं—सम्यक्-दृष्टि ही श्रेष्ठ है, भले वह नरक में भी क्यों न हो । क्योंकि उसे अपने स्वरूप का बोध है । वह नरक की उस वेदना को आर्त्त-ध्यान से हाय-त्राय करते हुए नहीं भोगता, प्रत्युत अपने कृत-कर्म का फल समझ कर समभाव से वेदन करता है । जबकि मिथ्या-दृष्टि, जिसे निज स्वरूप का बोध नहीं है, भोगों में आसक्त होकर उन्हीं में उलझा रहता है । और, परिणाम स्वरूप वह अनन्त संसार में भटकता फिरता है । इसलिए अन्तर्-दृष्टि से देखा जाए, तो सम्यक्-दृष्टि ऊँचाई पर है, बहुत अधिक ऊँचाई पर है । इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति के बाह्य आकार-प्रकार का, रूप-रंग का महत्त्व नहीं है, महत्त्व है धर्म का, समत्व भाव का, राग-द्वेषातीत वीतराग-भावना का ।

भोग-वासनाओं में लिप्त मानव पागल बन गया । कुछ साम्प्रदायिक धर्म-गुरुओं ने भी उसके पागलपन को बढ़ावा दिया है । एक तरफ तो उन्होंने मानव की गरिमा के गीत भी गाए हैं, तो दूसरी ओर उसके दिमाग में यह भ्रान्त धारणा भी जमा दी कि मानव, तू कुछ नहीं है । तेरी शक्ति एवं क्षमता नगण्य है। तू देवता की आराधना कर, भक्ति कर । वह सर्व शक्ति सम्पन्न है । तेरी समस्त इच्छाओं को पूरा कर देगा ।

अभी कुछ दिन पहले मैंने एक समाचार पत्र में पढ़ा था—एक पागल पिता एक देवी की मूर्ति के सामने अपने २२ वर्ष के नौजवान पुत्र को ले गया । पुत्र को कुछ भी पता नहीं था कि पिता किस भावना से उसे वहाँ लाया है । सहज भाव से वह देवी को नमस्कार करने झुका कि पिता ने उसकी बलि चढ़ाने हेतु झटपट उसकी गर्दन पर कुल्हाड़ी से प्रहार कर दिया । उसको बताया गया था कि अपने पुत्र की बलि देगा, तो देवी तुझ पर प्रसन्न हो जाएगी और तेरी सारी इच्छाएँ पूरी कर देगी और लड़के को भी जिन्दा कर देगी ।

परन्तु, गर्दन पर प्रहार होते ही लडका चीखा-चिल्लाया । हल्ला मच गया । आस-पास से लोग दौड़े आए, भीड़ जमा हो गई । पुलिस भी आ गई । पिता को गिरफ्तार कर लिया और घायल लड़के को अस्पताल पहुँचाया । जहाँ कुछ देर बाद वह मर गया । ऐसी एक-दो नहीं, अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं । अज्ञान वश ऐसे दुष्कर्म करते हुए व्यक्ति हिचकते नहीं हैं । उन्हें मनुष्य कहना सही नहीं है ।

आपके पास एक पत्तल है । सुन्दर-सुगन्धित मिष्टान्न उस पर रखा है। उस पत्तल को आप कब तक सुरक्षित रखेंगे? जब तक उसमें मिठाई है । उस पकवान को खाने के बाद तो उस खाली पत्तल को कोई नहीं रखता । फिर तो उसका स्थान कूड़ादान है । इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों में जो विभिन्न प्रकार के साम्प्रदायिक क्रिया-काण्ड हैं, जब तक उनमें समत्व धर्म का माधुर्य है, तब तक तो उस सम्प्रदाय का, उन क्रिया-काण्डों की पत्तल का कुछ अर्थ है । परन्तु उनमें से धर्म का माधुर्य निकल गया है, तो उनका कोई अर्थ नहीं है । वे झूठी पत्तल के समान फेंक देने योग्य है ।

रमेश का अन्तिम प्रश्न है — धर्म महान है । और, धर्मगुरु धर्म का, समता का उपदेश देते हैं । और, हर साधु-साध्वी, स्वयं महावीर का अनुयायी है, ऐसा दावा करता है । फिर ये परस्पर लड़ते-झगड़ते क्यों हैं? एक ही पिता के पुत्र होकर परस्पर एक-दूसरे के साथ अछूत जैसा व्यवहार क्यों करते हैं?

वस्तुतः यह सब धर्म नहीं है । यह तो साम्प्रदायिक बाडा-बन्दी है । धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं है । धर्म सम्प्रदायातीत होता है । वह न तो किसी से संघर्ष करना सिखाता है, न किसी के साथ छूत-अछूत-सा व्यवहार करना सिखाता

है । धर्म तो मानव ही नहीं, प्राणी मात्र से प्रेम करना, मित्र जैसा व्यवहार करना, सबको अपनी आत्मा के समान देखना ही सिखाता है ।

धर्म सम्प्रदायों के काल के प्रवाह में एक तरह की जातियाँ बन गई हैं । जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-ये जातियाँ हैं और इनमें भी अनेक उपजातियाँ हैं। और, उन्होंने अमुक जाति को ऊँच और अमुक को नीच जाति मानकर छूत-अछूत मान लिया है । वैसे ही साम्प्रदायिक क्षुद्र मनोवृत्ति के कुछ धर्म गुरुओं ने भी सम्प्रदाय को जाति का रूप दे दिया है । और, अपनी सम्प्रदाय के अतिरिक्त दूसरी सम्प्रदायों को अपने से निम्न तर श्रेणी का मानते हैं । परन्तु, धर्म में यह भेद की दीवारें नहीं हैं । सच्चा धार्मिक साधक इन सबसे ऊपर होता है । सच्चा धार्मिक तो गणधर गौतम है । भगवान महावीर के पचास हजार श्रमण-श्रमणियों का प्रमुख गणधर है, गण का नायक है। श्रमण भगवान महावीर के बाद उसका दूसरा नम्बर है । लेकिन, भगवान महावीर से उसे ज्ञात होता है कि मेरा बाल मित्र स्कन्दक संन्यासी समवसरण में आ रहा है । उसके आगमन की बात मुनकर गौतम अपने आसन से उठकर स्कन्दक संन्यासी के स्वागतार्थ चला जाता है । जबकि वह अन्य तीर्थ का संन्यासी है । मिथ्या-दृष्टि है। उसका विचार और आचार दोनों अर्हत् परम्परा से सर्वथा भिन्न है । इस ओर ध्यान नहीं दिया गौतम ने । किन्तु वह तो द्वार पर आ रहे अतिथि का स्वागत करने चल पड़ा और स्नेह भरे शब्दों में कहता है - “सागयं खंघा सुसागयं खंघा, अनुरागयं खंघा ।” हे स्कन्दक ! मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ, सुस्वागत करता हूँ। तुम्हारा आगमन आनन्ददायक है । कितना उदात्त जीवन है, गणधर गौतम का । यह सब आज भी भगवती सूत्र में उपलब्ध है ।

किन्तु खेद है, कि आज एक ही परम्परा के महावीर के अनुयायी साधु-साध्वी एक-दूसरे साधु-साध्वी के आने पर आसन से उठ नहीं सकते, उनको आदर-सम्मान दे नहीं सकते, एक साथ मिलकर बैठ नहीं सकते, एक साथ आहार-पानी नहीं कर सकते, यहाँ तक कि एक-दूसरे को सुख-साता नहीं पूछ भी सकते । यदि अपनी सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय के साधु-साध्वी को सुख-साता पूछ ली, तो इनका धर्म नष्ट हो जाता है । यह सब पागलपन है । वे स्वयं मूढ़ हैं और दूसरों को मूर्ख बना रहे हैं । महावीर का दिव्य धर्म आज पंथों के घेरे में बन्द हो गया है । धर्म तो वह है, जिसमें अपने-पराए के भेद की कोई रेखा नहीं है । ज्योतिर्मय धर्म की ऊँचाई पर गौतम थे । इस प्रकार सुविशुद्ध धर्म के

उपदेष्टा उन ज्योतिर्मय आत्माओं के चरणों में वन्दना के पुष्प अर्पित करते हुए भारतीय दर्शन क्षितिज के सूर्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं -

“दिव्यम्रजो जिन! नमत् -त्रिदशाधिपाना -
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र,
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव ॥”

भगवान को नमस्कार करते समय देवेन्द्रों के मुकुट में लगी हुई फूल-मालाएँ प्रभु के चरणों में आ गिरती हैं । यह कोई असाधारण बात नहीं है । जब कोई नमन करने के लिए मस्तक झुकाता है, तो फूल मालाएँ नीचे गिर ही जाती हैं । वे फूल-मालाएँ रत्नों से जड़े मुकुटों को छोड़कर प्रभु-चरणों में क्यों आ गिरती हैं? उन्हें मुकुट जैसे सुन्दर स्थान पर रहना क्यों नहीं पसन्द आता? यह एक प्रश्न है । आचार्य श्री का उत्तर है-वे सुमन हैं । और जो सुमन (अच्छे मन वाले) होते हैं, उनका प्रभु-चरणों में अगाध प्रेम होता ही है ।

श्लोक में प्रयुक्त 'सुमन' शब्द के दो अर्थ हैं-एक पुष्प और दूसरा अच्छे मन वाले सज्जन पुरुष । सज्जन व्यक्ति प्रभु के चरणों से प्रेम करते ही हैं। अतः नाम-साम्य के कारण सुमन 'पुष्प' भी प्रभु के चरणों से अनुराग रखते हैं ।

यह मानव जीवन के विकास का दिव्य स्वरूप है । वीतराग अर्हन्त प्रभु भी तो मनुष्य ही हैं । वही शरीर है पंचभूत का । किन्तु शरीर का प्रश्न नहीं है। उस शरीर में जो अनन्त ज्योति प्रकाशित हुई है, उसका महत्त्व है । और, उसी महत्त्व के कारण मानव को सर्व श्रेष्ठ कहा गया है ।

भौतिक दृष्टि से देखा जाए, तो देवताओं का शरीर मनुष्य के शरीर से दिव्य है । लेकिन उनका आध्यात्मिक विकास इतनी ऊँचाई पर नहीं हो सका है, जितनी ऊँचाई मनुष्य छू लेता है । भौतिक-दृष्टि से देव भले ही भोग-साधनों एवं वैभव-ऐश्वर्य की दृष्टि से मनुष्य से अधिक सम्पन्न दिखाई देते हैं, परन्तु अध्यात्म-विकास में वे मानव से निम्न ही हैं । वे भोगों का परित्याग नहीं कर सकते । अतः आध्यात्मिक दृष्टि से मानव ही श्रेष्ठ है, उच्चतम है, देवों की अपेक्षा से ।

अतः मानव को आज अपनी शक्ति को समझने की अपेक्षा है । अन्तर्ज्योति को जगाना है । याद रखिए धर्म धर्म है, भले ही उसकी आराधना आज कलिकाल में करें, तब भी वह कषायों को शान्त-उपशान्त ही करेगा और उसके परिणाम स्वरूप कर्म-मल क्षीण ही होगा । धर्म से स्वर्ग का भौतिक सुख नहीं, आत्म-शान्ति ही मिलेगी । अतः अपने आपको देवों की गुलामी से, भौतिक प्रलोभनों से ऊपर उठाकर निष्काम-भाव से साधना में लगाएँ । श्रमण भगवान महावीर की वाणी को आत्मसात करें । परम आनन्द की अनुभूति होगी ।

अप्रैल १९८६

अहिंसा के देवदूत क्या कर रहे हैं ?

विश्व-जगत् में चैतन्य-जगत् महत्त्वपूर्ण जगत् है । मानव ही नहीं, पशु-पक्षी जगत् की भी अपनी एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है । इसे यों ही मानव अपनी महत्ता के आवेश में नकार नहीं सकता । मानवीय जीवन की स्थिति का बहुत-कुछ मूलाधार पशुपक्षी आदि का तुच्छ एवं साधारण कहा जाने वाला जगत् ही है ।

परन्तु, खेद है, उक्त जगत् की कितनी बड़ी दयनीय अवहेलना है कि उसके जीवन को जीवन ही नहीं समझा जाता । उसके सुखःदुःख का ठीक तरह मूल्यांकन नहीं किया जा रहा है । उसके अमोल जीवन को आहार के रूप में मानव-जाति ने कितना उदरस्थ कर लिया है, यह सब गणना से बाहर की बात हो गई है । सौन्दर्य प्रसाधनों के रूप में वन्य-प्राणियों का एवं अन्य जन्तु जगत् का कितना संहार हो रहा है, यह हम आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ते हैं, फिर भी हम जड़वत् होकर इस दुःखद स्थिति पर कुछ भी विचार नहीं करते । यथावसर मैं इस पर फिर कभी चर्चा करने का विचार रख रहा हूँ ।

प्रस्तुत में एक बड़ी दुःखद बात है गो-वंश के संहार की । मनुष्य प्रारम्भ से दुग्ध-जीवी रहा है । जन्म लेते ही सर्व प्रथम आहार के रूप में माता का दूध ही ग्रहण करता है । इसलिए तत्कालीन शिशु-जीवन को संस्कृत कोषों में स्तनधयी कहा जाता है । इसका अर्थ है—मानव के संपोषण के लिए दुग्ध-पान अति आवश्यक है ।

मातृ-दुग्ध के समान गाय का दूध भी अमृत तुल्य है । गाय का दुग्ध जितना हल्का, पाचक, पौष्टिक एवं साथ ही सात्विक है, उतना और कोई नहीं है । भारत के प्राचीन आयुर्वेदाचार्य इसके साक्षी हैं । साक्षी की बात छोड़िए, यह तो प्रत्यक्ष में भी अनुभव सिद्ध है— “ प्रत्यक्षे सति अन्यत् किं प्रमाणम् ? ”

भारत के प्राचीन इतिहास में गो-पालन का महत्त्वपूर्ण स्थान है । कुछ अपवादों को छोड़कर गाय का गोमाता के रूप में उदात्त गुणगान अनुगंजित है भारतीय वाङ्-मय में ।

वैदिक एवं पौराणिक काल में महर्षियों के आश्रम निर्जन वनों में होते थे और वहाँ गायों का पालन अपने ही परिवार के एक महत्त्वपूर्ण पूज्य व्यक्ति के रूप में होता था । कामधेनु और नन्दिनी आदि की कथाएँ इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं ।

जैन-परम्परा में भी गो-पालन का महत्त्व है । इधर-उधर दूर न जाएँ, श्रमण भगवान् महावीर के ही काल की बात कर लें । भगवान् महावीर के गृहस्थ शिष्य प्रमुख श्रावक आनन्द के यहाँ चालीस हजार गायों का एक विराट समूह था । अंग-साहित्य का उपासकदशांग सूत्र इसका साक्षी है । कुछ अन्य श्रावकों के यहाँ भी गायों के अनेक विशाल ब्रज थे । एक-एक ब्रज (गोकुल) में दस हजार गायें होती थीं । चम्पा नगरी के कामदेव श्रावक के पास ६ ब्रज थे । वाराणसी के चूलणीपिया श्रावक के पास गायों के आठ ब्रज थे । वाराणसी नगरी के सुरादेव श्रावक के पास गायों के छह ब्रज थे । आलभिका नगर के चुल्लशतक श्रावक के पास छह ब्रज थे । काम्पिल्यपुर नगर के कुंडकौलिक श्रावक के पास गायों के छह ब्रज थे । पोलासपुर निवासी श्रावक सकडालपुत्र के पास गायों का एक ब्रज था । राजगृह के महाशतक श्रावक के पास गायों के आठ ब्रज थे । श्रावस्ती के श्रावक नन्दिनीपिया के पास गायों के चार ब्रज थे और वहीं के सालिहीपिया श्रावक के पास भी चार ब्रज थे ।

उक्त कथनों पर से स्पष्ट है, मानव के साथ गाय का एक महनीय उदात्त सम्बन्ध रहा है । मध्य-युग में गायों की रक्षा के लिए भारतीय दयालु मानवों ने संघर्ष में हँसते-हँसते अपने सिर कटाए हैं । आज उन्हें भले ही कोई भूल जाए, किन्तु इतिहास उन्हें कैसे भूल सकता है । और, स्पष्ट है कि इन दयावीरों को भूलना कृतघ्नता के सिवा और क्या है ?

भारत में ही नहीं, विदेशों में भी गोमाता ने अपनी विशिष्टता स्थापित की है । गो के दुग्ध को ही मानव जीवन संपोषण के हेतु एक विशिष्ट दुग्ध

माना गया है। यही हेतु है कि विदेशों में गोवंश के पालन पर अनेक राष्ट्रों ने विशेष ध्यान दिया है। अमेरिका तो इन सब में अग्रणी रहा है। अमेरिका में गो-रक्षा के प्रति जितना ध्यान दिया जाता रहा है, वह अन्य अनेक देशों में भी एक आदर्श उदाहरण बन गया है, किन्तु खेद है, आज वहाँ क्या स्थिति है? अब यह मति विमति के रूप में किस प्रकार परिवर्तित हो गई है।

अभी कुछ ही समय पूर्व जर्मनी में लाखों गायें काटने की चर्चा समाचार-पत्रों में आई थी और उस पर प्रायः समग्र भारत में एक विकट हा-हाकार मच गया था। अनेक अहिंसा प्रचार प्रधान तथा गो-रक्षक संस्थान उन गायों को बचाने की योजना में लग गए थे। अन्तिम परिणाम क्या हुआ, मुझे ठीक तरह मालूम नहीं है, परन्तु अभी एक और घमाका हो रहा है अमेरिका में। जो जर्मनी के घमाके से भी कहीं भयंकर है।

जनसत्ता, दिल्ली २३ मार्च १९८६ के अंक में समाचार है—अमेरिका में लाखों गायें काटी जानेवाली हैं, पत्र में लिखा है— “अमेरिका में दूध का उत्पादन सात फीसदी कम करने के लिए अगले सप्ताह १० लाख गायों को कत्ल किए जाने का कार्यक्रम है।

ये गायें १३,९८८ किसानों की हैं। इन्हें पहले गर्म सलाखों से दागा जाएगा, ताकि अन्य डेरीवालों को गैर-कानूनी तौर पर बेची न जा सकें। पशुओं के अधिकारों की वकालत करने वाले सैकड़ों गुट विरोध कर रहे हैं। उनका विरोध कत्ल की बजाय, इन्हें दागे जाने की ‘बहशियाना निर्ममता’ के खिलाफ है।

इस कार्यक्रम से अगले १८ महीनों में उत्पादन १२ अरब ३० करोड़ पाउण्ड कम होगा। इससे अमेरिकी सरकार को २३ अरब डालर की बचत होगी, जो उसे अगले तीन साल में यह दूध खरीदने व स्टोर करने पर खर्च करनी पड़ती।

अमेरिका में हर साल ४० लाख गायें कत्ल की जाती हैं। इस बार संख्या में ९ लाख ५१ हजार और बढ़ोतरी होने की है।

(३७९)

पिछले साल सरकार ने किसानों से १६ अरब पाउण्ड से ज्यादा का फालतू दूध खरीदा था । फिर उससे इतना पनीर और मक्खन बना, जिसे १२ अरब डालर खर्च कर देश भर के भंडागारों में रखना पड़ा । अमेरिका से इतना दूसरे देशों को निर्यात होने की संभावनाएँ भी खत्म हो चुकी हैं ।

उधर देश में एक करोड़ बारह लाख गायों की संख्या तेजी से बढ़ रही है । इन्हें अच्छा चारा मिलने से दूध बढ़ता जा रहा है । व्यापारिक डेरी फार्मों की संख्या १९६१ में छह लाख थी, जो घट कर १९८१ में दो लाख रह गई ।”

समाचार पत्र में अन्त में लिखा है—“ गायों के मांस का निर्यात किया जाएगा अथवा देश में ही मुफ्त बाँटा जाएगा ।”

अमेरिका अरबों-खरबों डालर संहारक शस्त्रों के रूप में खर्च कर रहा है । खेद है, वहाँ उसे अपने आर्थिक प्रश्न ध्यान में नहीं आते । निर्दोष मूक गायों के वध में ही आर्थिक समस्या का समाधान उसे दिखाई दे रहा है । यह कैसी विचित्र स्थिति है कि हानि के क्षुद्र छेद तो बन्द किए जा रहे हैं, किन्तु बड़े-बड़े भीमकाय द्वार खोले जा रहे हैं । क्या ही अच्छा हो, विश्व संहारक परमाणु शस्त्रास्त्रों की ओर से अपनी दुर्वृत्ति को हटाकर मानव एवं अन्य जीवन की रक्षा की दिशा में अपनी प्राप्त शक्ति का सदुपयोग किया जाए ।

अमेरिका अनुदान आदि के रूप में भी अपनी एक ख्याति अर्जन कर रहा है, किन्तु अविकसित एवं अर्ध-विकसित देशों में मानव इतने अभावग्रस्त हैं कि कुछ पूछो नहीं । अभी-अभी इथोपिया में भूख से पीड़ित दस लाख से भी अधिक मानव तड़फतड़फ कर मौत के शिकार हो गए हैं । वर्तमान में भी अनेक देश सूखे से पीड़ित हैं । अतः अन्नोत्पादन के अभाव में परिवार-के परिवार आत्म-हत्या के द्वारा मर रहे हैं और कुछ घास की बनी रोटी खाकर जीवन के इने-गिने दिन गिन रहे हैं । अनेक हजार ग्रामीण क्षेत्र ऐसे भी हैं, जहाँ मनुष्य ने माता के स्तन के दूध के सिवा जीवन भर अन्य दूध का रसास्वादन तक नहीं किया है । क्या अमेरिका अपने यहाँ के दुग्ध का प्रवाह इस ओर नहीं बहा सकता । यह भी तो मानव-सेवा का पुण्य-कर्म है । गायों को काटने की अपेक्षा यह पथ इतना अधिक प्रशस्त है कि वह विश्व जगत् में पुण्यार्जन के साथ-साथ महान यशस्वी हो सकता है ।

एक बात और है, जिसकी चर्चा किए बिना रहा नहीं जाता है । भारत से अनेक अहिंसा के देवदूत संन्यासी, योगी और धर्मप्रचारक कब से अमेरिका जा रहे हैं । अनेक गो-भक्त वैष्णव सन्त हैं और साथ ही अहिंसा के महान् पक्षधर जैन सन्त भी । अहिंसा प्रचार के बड़े-बड़े विज्ञापन भी तथाकथित संस्थानों की ओर से प्रचारित किए जा रहे हैं । मेरी समझ में नहीं आता कि वे यथार्थ में क्या कर रहे हैं ? वे और कुछ नहीं तो कम-से-कम इस प्रकार के सामूहिक गो-वध के हिंसा-काण्डों के विरोध में तो कुछ कर ही सकते हैं । केवल कर सकने की बात नहीं, उन्हें करना ही चाहिए । यह अनिवार्य दायित्व है, इन यशस्वी धर्मयात्रियों पर ।

इधर भारत की स्थिति भी नाजुक है उक्त प्रसंग में । भारत धर्म-प्रधान देश कहा जाता है । यहाँ चिर-काल से अहिंसा की धर्म दुन्दुभि बजती आ रही है और वह अब भी बज रही है या बजाई जा रही है, किन्तु खेद है, यहाँ भी गो-वध बन्दी के हेतु अभी कोई उल्लेखनीय प्रयत्न हो नहीं पाए हैं । कुछ अपवादों को छोड़कर एक तरह से नागार्जुन का शून्यवाद ही है । अन्य वैष्णव आदि परम्परा की बात एक ओर छोड़ देता हूँ । मैं अपनी ही परम्परा की बात कर रहा हूँ, जो एकमात्र पाद-विहार के द्वारा धर्म प्रचार का दावा करते आ रहे हैं । मैं पूछना चाहता हूँ इन अभिवन्दनीय अहिंसा के देवदूतों ने क्या किया है ? अहिंसा की सूक्ष्म चर्चा अपनी ही मान्यता के परम्परागत क्षेत्रों में एवं जनता में की जाती है, जो मूलतः ही अहिंसा का पक्षधर है । यह प्रचार कार्य तो हिंसा के क्षेत्र में होना चाहिए था । दीपक वहाँ जलाना चाहिए, जहाँ सघन अंधकार हो । सूर्य के दिव्य प्रकाश में, पूर्णिमा की स्वच्छ चन्द्रिका में दीपक जलाने का कुछ अर्थ है ? बड़ी लज्जा की बात है, भारत जैसे आर्य देश में और अहिंसावादी धर्म-धुरन्धर सन्तों की विद्यमानता में भी गो-रक्षा जैसा पुण्य-कार्य सामूहिक अभियान के रूप में यथोचित पद्धति से नहीं हो पा रहा है । भारत के अहिंसावादी धर्म सभी प्राणियों की रक्षा के उपदेष्टा एवं अनुमन्ता हैं । मैं पंथों की नहीं, धर्म की बात कह रहा हूँ । पथ-भ्रष्ट पंथ क्या करते हैं ? वह तो एक प्रकार का ग्लानि मूलक अधर्म ही है । उन्हें धर्म कहना ही पाप है । धर्म तो वह है, जो 'सर्व जगजीवरक्षण दयट्ठयाए' के प्रकाश में होता है । अतएव शुद्ध धर्म के उपासक प्रातः-सायं अपने आराध्य देव से प्रार्थना करते हैं—“भूतदया विस्तारय, तारय संसार सागरतः ।”

कितने महान उदात्त एवं सर्व मंगल विचार हैं, परन्तु अभी इतनी दिव्य-शक्ति नहीं है, तो कम-से-कम गो-रक्षा से तो भूतदया की यात्रा प्रारम्भ होनी ही चाहिए । मैं सभी प्राणियों के कल्याणमंगल की कामना करता हूँ । एक की अहिंसा और दूसरे की हिंसा में मेरा विश्वास नहीं है । फिर भी साधारण मानव के प्रयत्न की एवं शक्ति की एक सीमा है । हमें ईमानदारी से उस सीमित शक्ति का प्रयत्न एवं उपयोग तो करना ही चाहिए । प्राप्त शक्ति का समयोचित शुद्ध प्रयोग न करना भी अधर्म की कोटि में आता है ।

मैं आशा करता हूँ, प्रबुद्ध अहिंसावादी महानुभाव प्रस्तुत चिन्तन पर अवश्य ही मुक्त मन से विचार करेंगे और अपने सीमित दायरों में से निकल कर मुक्त मन से अहिंसा के उपयोगी व्यापक क्षेत्र में अपना समुचित योग-दान देंगे ।

मई १९८६

अरहंताणं अथवा अरिहंताणं

भाषा कोई भी हो, वह एक बहता प्रवाह है । उक्त प्रवाह में मूल शब्द शब्दान्तर में परिणत हो जाते हैं, साथ ही अर्थान्तर में भी । जनता की जिह्वा पर शब्द फिसलते जाते हैं और वे नया नया रूप ग्रहण करते जाते हैं । कालान्तर में उन शब्दों के अर्थ भी उसी अनुरूप में बदलते जाते हैं । भाषा-विज्ञान के अभ्यासियों के लिए यह कोई नई बात नहीं है । वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के शब्दान्तर और तदनुरूप अर्थान्तर के हजारों उदाहरण यत्र-तत्र तत्तत्-साहित्य में आज भी देखे जा सकते हैं । जैन-परम्परा के णमोक्कार सुत अर्थात् नमस्कार सूत्र महामन्त्र नमोक्कार (नवकार) के प्रथम शब्द के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ है । प्रथम पद के तीन रूप मिलते हैं—नमो अरहंताणं, नमो अरिहंताणं और नमो अरुहंताणं ।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह मात्र उच्चारण की भिन्नता है । किन्तु, इस उच्चारण भिन्नता के कारण रूपान्तरित हुए शब्दों के अर्थ भी भिन्न-भिन्न रूप से किए गए हैं ।

१. “ अरहंताणं—अर्ह पूजायाम् ” धातु से निष्पन्न है । जिसका अर्थ है—पूज्य, वन्दनीय एवं अभिनन्दनीय अरहंत त्रिलोक पूजित हैं । इसलिए अरहंत हैं ।

२. अरिहंताणं का अर्थ किया गया है—अरि अर्थात् शत्रु, उनका हनन करनेवाला अरिहन्त होता है । ‘अरि’ कौन ? यह प्रश्न उपस्थित होने पर ऊपर से व्याख्या की गई कि कर्म रूपी अरि अर्थात् शत्रुओं का हनन करनेवाला ।

३. अरुहंत तीसरा रूप है । उसका अर्थ किया जाता है — ‘अ’ अर्थात् नहीं । रुह अर्थात् जन्म । जो कर्म-बन्धन से मुक्त होने के बाद पुर्नजन्म नहीं लेते, वे अरुहन्त कहलाते हैं ।

यहाँ मैं विस्तार में न जा कर संक्षेप में यही चर्चा कर लेना चाहता हूँ, कि मूल शब्द क्या है ? प्राचीन आगम-साहित्य एवं तदुत्तर साहित्य में अधिकतर प्रयोग किस शब्द का है ?

आजकल नमो अरिहंताणं अधिक प्रचलित है । मैंने भी पहले अपने लेखों में एवं ग्रन्थों में इसी अरिहन्त शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु मेरे अन्तर्-मन में यह बात खटकती रही कि महामन्त्र में यह अघूरे अर्थ का वाचक शब्द क्यों है ? विशेष शब्द के स्थान में सामान्य शब्द का प्रयोग चिन्तनीय है । दूसरी बात यह है कि नमस्कार सूत्र मंगल सूत्र है । उसमें पहले ही अरि-हनन अर्थात् शत्रुओं की हत्या जैसा अमंगल शब्द क्यों प्रयुक्त हुआ ? नमस्कार सूत्र पद्य नहीं, गद्य है और गद्य में अक्षरों की, मात्राओं की गणना की व्यवस्था नहीं है । अतः टीकाकारों ने प्रारंभ में कर्म शब्द का प्रयोग कर, जो कर्मरूपी अरि अर्थात् शत्रुओं को हनन करनेवाले अर्थ की उपपत्ति दी है, उसकी अपेक्षा मूल में ही यदि 'नमो कम्मरिहंताणं' स्पष्ट पाठ रहता, तो क्या हानि थी ? जब कि 'नमो लोए सव्व साहूणं' जैसा पंचम दीर्घ सूत्र है ही । फिर यहाँ 'अरिहंताणं' में भी कम्मरिहंताणं, न करके संक्षेप में 'अरिहंताणं' कहना विचारणीय बन जाता है । संक्षेप का तो कुछ अर्थ ही नहीं है, जबकि पंचम पद काफी दीर्घ सूत्र है ।

काफी दिनों से विचार-मंथन होता रहा और प्राचीन आगम आदि शास्त्रों एवं ग्रन्थों का अध्ययन भी चलता रहा । मैं यहाँ संक्षेप में कुछ उद्धरण देकर यह बताना चाहूँगा कि प्राचीन काल में मूल शब्द 'अरहंत' था और वही उच्चारण-भेद से त्रिरूप हो गया ।

सर्व प्रथम अंग-साहित्य का प्रथम अंग सूत्र आचारांग है, जो भाषा आदि की दृष्टि से विद्वत् जगत् में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है । देखिए आचारांग का मूल पाठ—

“अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति।”

—आचारांग, १, ४, १, १३२

“ से भगवं अरहं जिण केवली ”

— आचारांग, २, १५.

(३८४)

दूसरा अंग सूत्र सूत्रकृतांग है । उसका वीरत्थुई नामक छद्म अध्ययन देखिए—

“ एताणि वंता अरहा महेसी ” सूत्रकृतांग, १, ६, २६
“सोच्चा य धम्मं अरहंत भासियं ” वही, १, ६, २९

प्रस्तुत वीर स्तुति में ‘अरहा’ है, ‘अरिहा’ नहीं । साथ ही ‘अरहंत’ है, ‘अरिहन्त’ नहीं । सूत्रकृतांग के ही अध्ययन २, सूत्र १६४ में भी भगवान महावीर के लिए ‘अरहा’ शब्द का ही प्रयोग किया है तथाहि—

“ अरहा गायपुत्ते भगवं, वेसालीए वियाहिए”
सूत्रकृतांग १, २, १६४

उत्तराध्ययन सूत्र के छद्मे अध्ययन की १८ वी गाथा में भी यही पाठ ज्यों-का-त्यों उल्लिखित है ।

तृतीय अंग स्थानांग सूत्र में भी अनेकत्र ‘अरहंत’ शब्द का ही प्रयोग है—

“खीणमोहस्स णं अरहओ तओ कम्मसा जुगवं खिज्जंति”

—स्थानांग, ३, ४, ५२७

“ धम्माओ णं अरहाओ संती अरहा तिहि सागरोवमेहिं तिच उब्भागपल्लिओवमऊणएहिं वीत्तिकतेहिं समुप्पण्णे ”

—स्थानांग ३, ४, ५३०

“ मल्ली णं अरहा तिहिं पुरिससएहिं सद्धि मुण्डे भविता”

—स्थानांग ३, ४, ५३२

“ पासे णं अरहा तिहिं पुरिससएहिं सद्धि मुण्डे भविता”

—स्थानांग ३, ४, ५३३

समवयांग सूत्र में तो ‘अरहंत’ शब्द सर्वत्र व्याप्त है । जहाँ कहीं तीर्थकरों के नामों का उल्लेख किया गया है, वहाँ ‘अरहंत’ शब्द ही प्रयुक्त हुआ है । विस्तार में न जाकर यहाँ उदाहरण के रूप में कुछ पाठ उपस्थित किए जाते हैं—

“ पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणिअस्स ”

८,८

“ अरहा णं अरिट्ठनेमि ” १०,४

“ णमी णं अरहा ” १५,२

“ अरहतो णं अरिट्ठनेमिस्स ” १८,२

“ अरे णं अरहा ” ३०,४

“ अरहओ पायमूले पसंतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति ” ३४, २४

नमस्कार महामन्त्र का मंगलाचरण के रूप में पूर्ण पाठ सर्व प्रथम पुंचमांग भगवती सूत्र के प्रारम्भ में मिलता है । भगवती सूत्र पर महान् वृत्तिकार अभयदेवसूरि की महत्त्वपूर्ण वृत्तिटीका है । उक्त वृत्तिवाले भगवतीसूत्र में नमो अरहंताणं पाठ मूल रूप से स्वीकृत किया है और उसका संस्कृत रूप 'नमो अर्हभ्यः' करके निम्नांकित शब्दों में पूजातिशय का वर्णन है—

“अर्हभ्यः—अमरवर-विनिर्मिताशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपान्
पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः । ”

“यदाह — अरिहंति वंदण-नमंसणाणि, अरिहंति पूयसक्कारं, सिद्धिगमणं
च अरहा अरहंता तेण वुच्चंति ।”

अपनी टीका में आचार्य देव ' अरिहंताणं ' और ' अरुहंताणं ' को पाठान्तर के रूप में स्थान देते हैं । उन्हीं के शब्दों में—

“ अरिहन्ताणं इति पाठान्तरम् । ” “अरुहन्ताणं इत्यपि पाठान्तरम् ।”

उक्त उल्लेख पर से स्पष्ट है कि ' अरहंताणं ' पाठ मुख्य है एवं अन्य दोनों पाठ गौण हैं । अतः साधक को प्रबुद्धता की दृष्टि से मुख्य पाठ ही स्वीकार करना चाहिए ।

दशवैकालिक सूत्र पर छठी शताब्दी के महान् श्रुतधर आचार्य अगस्तसिंह सूरि ने प्राकृत में चूर्णि की रचना की है । उसके मंगलाचरण के रूप में उन्होंने जो गाथा प्रस्तुत की है, उसमें 'अरहन्त' शब्द ही प्रयुक्त है । देखिए, गाथा का पूर्वार्द्ध—

“ अरहन्त-सिद्ध-विदु-वायाणारिए णमिय सब्बसाधू य । ”

(३८६)

विद्वानों की दृष्टि में 'भगवती आराधना' जो कि यापनीय संघ के महान आचार्य शिवार्य की रचना है । काल-गणना में विक्रम की प्रारम्भिक शताब्दी के आस-पास की रचना स्वीकार की गई है । इतने प्राचीन ग्रन्थ में भी आचार्यश्री ने मंगलाचरण के रूप में जो प्रथम गाथा उपस्थित की है, उसमें 'अरहन्त' शब्द ही प्रयुक्त है तथाहि—

“वंदिता अरहंते वोच्छं आराहणं कमसो ”

भगवती आराधना के सुप्रसिद्ध प्राचीन टीकाकार अरहन्त शब्द का अर्थ पूजातिशय करते हैं । जैसा कि उन्होंने लिखा है—

“ अतिशयितपूजाभाज इत्ययमर्थोज्जेन अरहंते इत्यनेनोक्तः ”

नमोत्थुणं (शक्रस्तव) पर महान श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्र सूरीश्वर की ललित—विस्तरा एक महती टीका है । उसमें भी ' अरहंताणं' ही उपन्यस्त किया गया है, ' अरिहंताणं' नहीं—

“अरहंताणं १ अरूहन्त एते चार्हन्तो नामाद्यनेकभेदाः”

श्री कल्पसूत्र, चतुर्दश पूर्वविद् श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु की महन्त्वपूर्ण रचना है । कल्पसूत्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण रूप पूर्ण नमस्कार मन्त्र सूत्र उल्लिखित है । उसमें भी 'नमो अरहंताणं' पाठ ही निर्दिष्ट है । आगे चलकर जहाँ देवेन्द्र गर्भ संहरण के प्रसंग पर भगवान महावीर को देवेन्द्र शक्रस्तव—नमोत्थुणं से वन्दन करता है, वहाँ भी “नमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं” पाठ है । अन्यत्र भी अन्य तीर्थकरों के जहाँ नामोल्लेख किए हैं, वहाँ सर्वत्र 'अरहन्त एवं अरहा' पाठ ही अंकित हैं ।

प्राकृत व्याकरण के रचयिता कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य मूल अर्हद् शब्द से ही अन्य अरूहन्त, अरिहन्त शब्दों का उच्चारण भेद से निर्देश करते हैं—

“उच्चारति”—२, १११

१ (क) लोकोत्तर मानवतां, (ख) अद्यालापकद्वयेन स्तोतव्यसम्पदुक्ता, यतोऽर्हतामेव भगवतां स्तोतव्ये समग्रं निबन्धनम्

— ललित विस्तरा

—“अर्हत्-शब्दे संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वो उत् अदितौच भवतः।
अरूहो, अरहो, अरिहो । अरूहन्तो, अरहन्तो, अरिहन्तो ।”

प्राकृत में इस प्रकार के प्रयोग बहुलता से मिलते हैं, जहाँ अर्हति धातु का प्राकृत रूप ‘अरिहइ’ बन गया है । किन्तु अर्थ अर्हति का ही है—योग्यता आदि । इसके लिए आचारांग, उत्तराध्ययन सूत्र आदि अंग एवं अंग-बाह्य सूत्र दृष्टव्य है । यह सब उच्चारण भेद का खेल है । प्राचीन ग्रन्थों के अन्य भी सहस्राधिक प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं, किन्तु पाठों के विस्तार में पाठकों का समय लेना अपेक्षित नहीं है । प्रबुद्ध पाठकों के लिए इतना ही पर्याप्त है, वस्तु-स्थिति समझने के लिए । अन्त में एक प्राचीन ऐतिहासिक प्रस्तर लेख को उद्धृत करके मैं लेख का उपसंहार कर रहा हूँ ।

लगभग २२०० वर्ष पूर्व का एक प्राचीनतम शिलालेख भुवनेश्वर के पास एक पर्वत पर महान जैन सम्राट खारवेल का ‘हाथी गुम्फा’ में अंकित है । उसमें नमस्कार महामन्त्र के प्रथम दो पद ही अंकित हैं—“नमो अरहंतान नमो सवसिधानं।” उसी लेख में एक और प्रसंग पर पाठ है, उसमें भी अरहंत शब्द अंकित है—

“कायनिसीदिया.....अरहतनिसीदिया.....”

—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन
द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २७-२८.

श्वेताम्बर परंपरा में ज्ञाचार्य सिद्धसेनकृत महामंत्र नवकार का एक संस्कृत रूपान्तर सुप्रचलित है । उसमें भी अर्हद् शब्द का ही प्रयोग किया गया है—

“नमोऽर्हद्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः”

अजैन परंपरा में भी अनेकत्र अर्हद् शब्द ही प्रयुक्त है । “यं शैवाः
समुपास्यते शिव इति...” यह अजैन परम्परा का सुप्रसिद्ध एवं सर्वमान्य मंगलाचरण रूप श्लोक है । इसमें भी जैनों के उपास्य देव के लिए अर्हद् शब्द ही उल्लिखित है—

“अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः ।”

प्रबुद्ध पाठकों एवं साधकों को वस्तुस्थिति की यथार्थता का परिचय कराने के लिए ही यह मेरा रुग्णावस्था में भी संक्षिप्त किन्तु यथार्थ समुद्दिम है । आशा है मेरे अभिप्राय पर अनाग्रह बुद्धि से चिन्तन किया जाएगा ।

“बुद्धे फलं तत्त्व-विचारणं च”

यह महान सूक्ति किसी भी दृष्टि से उपेक्षित नहीं की जा सकती ।

जुलाई १९८६

(३८९)

आचार्य कौन ?

खण्ड १

आज के युग का मानव महत्त्वाकांक्षा के भीषण रोग से इतना ग्रस्त है, कि उसके सम्बन्ध में क्या कहा जाए और क्या नहीं ? विचित्र स्थिति है मानव की । यह रोग राजनीतिक एवं अन्य सामाजिक क्षेत्रों में तो फैला हुआ था ही, दुर्भाग्य है कि विशुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्र के रूप में प्रख्यापित धर्म-परम्पराओं में भी अबोध गति से फैल रहा है और तो क्या, जैन-धर्म जैसे निर्ग्रथ कोटि के धर्म में भी उक्त रोग की ग्रन्थियाँ उद्भूत हो रही हैं जिन्हें धार्मिक जीवन का कैंसर कहा जाए, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

आजकल जो भी समाचार इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने-सुनने को मिलते हैं, सब ओर पद-महोत्सवों की धूम-धाम है । पद की गरिमा क्या है, विशेषतः धार्मिक पदों की, इस ओर कम ध्यान दिया जा रहा है । अधिकतर राजनीतिक क्षेत्र में पनप रही तुष्टीकरण की नीति ही अपनाई जा रही है । यह व्यक्ति विशेष की आलोचना नहीं है और न किसी विशेष परम्परा की । यह तो एक मात्र पदों की गरिमा का ही उद्बोधन है ।

और सब पदों को एक ओर छोड़ देता हूँ । प्रस्तुत में आचार्य पद की महत्ता का ही उत्तंकन है । भारतीय-संस्कृति में आचार्य का बहुत बड़ा महत्त्व है । जैन, बौद्ध, वैदिक-तीनों ही परम्पराओं के पदों की शृंखला में आचार्य का पद सर्वाधिक महत्त्व का है । संघ का नेतृत्व आचार्य करता है । यदि पद के अनुरूप कुशल नेतृत्व है, तो संघ गरिमा के उत्तरोत्तर शिखरों पर आरोहण करता जाता है । यदि यह कुशलता नहीं है, तो प्राचीन आचार्यों के शब्दों में वह केवल "अत्थि संग्गाहो" अर्थात् केवल निर्जीव हड्डियों का ढांचा बन जाता है । यही हेतु है कि प्राचीन काल से ही आचार्य के सद्गुणों का मुक्त-गान होता आ रहा है ।

तीर्थकर तीर्थ की स्थापना अवश्य करते हैं, किन्तु उसका संचालन स्वयं नहीं करते । तीर्थ अर्थात् संघ का संचालन तीर्थकरों के गणघर अर्थात् आचार्य करते हैं । इतना बड़ा दायित्व दुर्बल व्यक्तित्व के आचार्य वहन नहीं कर सकते। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने आचार्य पद की व्याख्या करते हुए उसके मूल छत्तीस गुणों का उल्लेख किया है । पाठक देखेंगे कि परम्परा से उल्लिखित होते आए ये छत्तीस गुण कितने महत्त्वपूर्ण हैं । एकएक गुण इतना ज्योतिर्मय है कि उसके दिव्य प्रकाश में आज के ये संघों पर छाये अन्धेरे एक क्षण भी नहीं रह सकते हैं।

१. देशयुत : आचार्य आर्य देशों में जन्म लेने वाला होना चाहिए । आर्य देश का अर्थ है—पवित्र आचार-विचार वाला देश । जिस देश में प्रारंभ से ही स्व-पर जीवन के कल्याणकारी आचार-विचार सहज ही प्राप्त होते हैं, उस देश में जन्म लेने वाला व्यक्ति प्रायः जन्म-जात सदाचारी एवं पवित्र जीवन वाला होता है। अतः आर्य देशोत्पन्न आचार्य के मन-मस्तिष्क में सद्गुणों का सौरभ संस्कारगत हो जाता है । अतः उसके शासन में शिष्य परंपरा सहज ही सदाचार-पथ पर अग्रसर होती रहती है ।

२. कुलयुत : कुल का अर्थ पितृ-पक्ष है । पितृ-परम्परा के सदाचारी उत्तम कुल में कुलीन व्यक्ति स्वयं साधना-पथ पर निर्बाध-गति से चलता है और दूसरों को भी निर्धारित सदाचार पथ पर अपने जीवन-पथ से सहज प्रेरणा देता है। नेता का अपना स्वयं का जीवन ही अपने अनुयायियों के लिए आदर्श रूप होता है ।

३. जातियुत : जाति का अर्थ मातृ-पक्ष है । जिस व्यक्ति का मातृ-पक्ष विनम्रता, उदारता एवं सहनशीलता आदि गुणों से उज्ज्वल होता है, वह व्यक्ति बिना किसी हठात आरोपण के प्रायः सहज ही उक्त गुणों से समन्वित होता है । बालक पर सर्व-प्रथम माता के ही गुण या अवगुण अवतरित होते हैं । इतिहास के अनेक उदाहरण हैं, उच्च जाति-सम्पन्न माताओं ने अपनी सन्तानों को प्रारम्भ से ही उच्चतर संस्कार दिये हैं, जिनके फल-स्वरूप वे इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित किये जा रहे हैं ।

४. रूपयुत : प्रभावशाली व्यक्तित्व के लिए रूप का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है । यह प्राचीन लोकोक्ति प्रायः सत्य की कसौटी पर खरी

उतरती आ रही है—

“यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ”

जहाँ प्रभावशाली एवं मनोहारी सुन्दर रूप है, वहाँ गुणों का निवास होता है । यही हेतु है कि सूत्र सिद्ध भक्तामर आदि स्तोत्रों में तथा प्राचीन आगमों में तीर्थकरों, गणधरों एवं अन्य विराट पुरुषों के दिव्य रूप का वर्णन किया गया है । सर्व साधारण व्यक्ति ऐसे महापुरुष के दर्शन से सहज ही उनके प्रति आकृष्ट होते हैं, उनका मन, वाणी, कर्म से बहुमान करते हैं एवं उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर प्रसन्नता के साथ अग्रसर होते रहते हैं । यदि संघ का नेता लूला, लँगड़ा, काना एवं कुरूप हो तो वह स्वयं भी परिहास का पात्र होता है और उसका संघ भी । स्पष्ट है, ऐसे कुरूप व्यक्ति के प्रति समादर की भावना नहीं हो पाती ।

५. संहननयुत : संहनन का अर्थ है—एक विशिष्ट शारीरिक गठन एवं शक्ति । जिसका शरीर सक्षम होता है, वह इधर-उधर के उपद्रवों से विचलित नहीं होता । कष्ट के क्षणों में उसे खेदानुभूति नहीं होती । दृढ़ संहनन का नेता उपद्रव-काल में स्वयं सहर्ष आगे बढ़कर अपने अनुयायी जनों का यथोचित संरक्षण कर सकता है । जो स्वयं ही मरधीला है एवं अपने जीवन को ही निर्जीव शव की तरह ढो रहा है, वह दूसरों की रक्षा क्या खाक करेगा ?

६. धृतियुत : धृति का अर्थ है—धैर्य, शक्ति । एक उच्चस्तरीय दृढ़ता एवं स्थिरता । दृढ़ मनोबल का नेता विपत्ति के क्षणों में दिग्भ्रान्त नहीं होता । वह सिंह पुरुष अपने असाधारण मनोबल के द्वारा तत्काल यथोचित निर्णय लेता है और अपने संघ को पवनाहत घास-पात की तरह इधर-उधर दिशाहीन स्थिति में भटकने नहीं देता । कायर व्यक्ति, जबकि स्वयं दिशाहीन हो जाता है, तो वह दूसरों का क्या दिशा निर्देशन करेगा ?

७. अनाशंसि : आचार्य को अनाशंसि अर्थात् निस्पृह होना चाहिए । कामनाग्रस्त आचार्य इच्छाओं का दास होता है, अतः वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कुछ भी कर सकता है। निस्पृह व्यक्ति ही मुक्त-भाव से स्पष्ट सत्य का प्रतिपादन कर सकता है, अन्यथा वह लोगों के दबाव में आकर अर्थ का अनर्थ भी कर डालता है, जिसके फल-स्वरूप संघ में दरारें पड़ जाती हैं ! सही नेता वह

होता है, जो जनता को अपने पीछे चलाता है, न कि स्वयं पीछे लगू बन कर जनता के पीछे चलता है। आज के नेताओं को—वे चाहे किसी भी क्षेत्र के हों, कोई भी हों, उन्हें उक्त गुण की महत्ती आवश्यकता है। अनाशंसि नेता ही निर्भय एवं निष्कपट होता है। वह सत्य के प्रति समर्पित होता है। मुँह देखकर तिलक लगाने की बुरी आदत उसमें नहीं होती।

८. अविकथन : अविकथन का अर्थ है—विकथन रहित होना। विकथन के अनेक अर्थ किए जाते हैं। विकथन का एक अर्थ है—बात-बात पर अपनी बड़ाई हांकना, अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरों को निकृष्ट बताना। आचार्य को उक्त दोष से मुक्त रहना चाहिए। अपने मुँह मियामिठ्ठु बनने से कोई लाभ नहीं है। यदि पुष्प में सुगन्ध है, तो वह अपने आप आस-पास के वातावरण को महका देता है। लाख रुपये मूल्य के हीरे को स्वयं अपना मूल्य नहीं बताना पड़ता है। परखने वाली आँखें स्वयं परख लेती हैं कि वह क्या है, और कैसा है?

विकथन का दूसरा अर्थ है—बहुभाषी होना। प्रसंग एवं अप्रसंग का ख्याल न कर, यों ही बातों के घोड़े दौड़ाते जाना क्षुद्र व्यक्तित्व का द्योतक है। अतः आचार्य को उक्त दोष से भी बचना चाहिए।

विकथन का तीसरा अर्थ है—किसी के द्वारा थोड़ा-सा भी क्षुद्र अपराध हो जाए, तो नेता बेलगाम हो जाता है और निन्दा के रूप में इधर-उधर बेतुकेपन में लोगों से बार-बार कहता फिरता है। वह 'सागरवरगंभीरा' नेता नहीं होता। एक क्षुद्र तलैया की तरह यह उसका तुच्छ व्यवहार संघ में विच्छेद की भावना ही पैदा करता है।

अतः स्पष्ट है कि उक्त विकथन दोष से जागृति पूर्वक दूर रहना ही अविकथन है। पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं—उक्त अविकथन सदगुण की कितनी अधिक गरिमा एवं महत्ता है।

९. अमाइ : आचार्य का आचार-व्यवहार मूलतः माया रहित होना चाहिए। अन्दर में कुछ, और बाहर में कुछ और ही—यह माया-शल्य है। उक्त शल्य का व्यक्ति आचार्य तो क्या, एक अच्छा व्रती भी नहीं हो पाता। इसी सन्दर्भ में आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—“निःशल्योव्रती”

७-१३ । यह सरलता निष्कपटता नाटकीय रूप से दिखाऊ नहीं होनी चाहिए । अन्तरहृदय से सहज भाव से उद्भूत सरलता ही साधना का प्राण है । ऐसे निष्कपट आचार्य के संघ में ही साधकों का जीवन छल-छद्म मुक्त हो सकता है। जो स्वयं मायावी है, उसका संघ मायावी होगा ही । जहाँ गुरु और शिष्य लोभी एवं लालची बनकर छलकपट के दाव खेल रहे हों, उन दुर्योधनों से भला किसका मंगल एवं कल्याण हो सकता है?

१०. स्थिर परिपाटी : आचार्य को निरन्तर शास्त्राभ्यास में संलग्न रहना चाहिए । स्पष्ट एवं गहन चिन्तन से ही अनुयोग की परिपाटी स्थिर हो पाती है । ऐसा महान् अभ्यासी आचार्य सूत्र एवं अर्थ की परूपणा में कहीं खलित नहीं होता । जो आचार्य शास्त्राभ्यास छोड़ कर इधर-उधर की अडंगेबाजी में लगा रहता है, वह समय पर सूत्रार्थ के स्पष्ट व्याख्यान में दिङ्मूढ हो जाता है । समयोचित निर्णय करने की क्षमता इस प्रकार के अनाभ्यासी आचार्य से कैसे सम्भव हो सकती है?

११. गृहीत-वाक्य : हर व्यक्ति के लिए, खासकर नेता पद के लिए वचन-लब्धि आवश्यक है । उपादेय वचन वाले महान व्यक्तित्व के थोड़े-से शब्दों में भी वह शक्ति होती है, कि श्रोता श्रद्धा-भाव से तत्काल उन्हें ग्रहण कर लेता है । गृहीत-वाक्य गुणवाले व्यक्ति के वचन सारगर्भित होते हैं, निस्सार नहीं ।

१२. जित परिषद् : नेतृत्व के लिए यह महत्त्वपूर्ण गुण है । कितनी ही बड़ी सभा हो एवं सभा में उपस्थित जनता किसी भी मनःस्थिति में हो, कुशल नेतृत्व का धनी नेता सभा पर यथोचित नियंत्रण रख सकता है । विक्षोभ की स्थिति में भी घबराता नहीं ।

१३. जित-निद्रा : आचार्य को जित-निद्रा अर्थात् निद्रा का विजेता होना चाहिए । अल्प-काल की निद्रा से ही जो पर्याप्त स्वस्थता प्राप्त कर लेता है, वह रात्रि के एकान्त क्षणों में ध्यान, सूत्रार्थ-चिन्तन ठीक तरह कर सकता है तथा अपने संघ के संरक्षण की भी उचित विचारणा करके संघ को व्यवस्थित बनाए रख सकता है ।

१४. मध्यस्थ : आचार्य को पक्ष-पात मुक्त रहने के लिए मध्यस्थ भाव की अतीव आवश्यकता है । पक्ष-पात में किसी के प्रति राग होगा और किसी के प्रति द्वेष । फलतः शिष्यों में विद्रोह की भावना पैदा हो सकती है । समभावी आचार्य ही संघ में सभी के लिए समान रूप से पूज्य होता है। वस्तुतः यह समत्व-भाव ही जीवन का महत्त्वपूर्ण योग है । जिसने इसे साध लिया, बस उसने एक प्रकार से सब-कुछ साध लिया है—“समत्वं योग उच्यते ।”

१५. देशज्ञः आचार्य को देश विशेष के आचार-व्यवहार का ज्ञाता होना चाहिए । एक ही भाव से सर्वत्र आँख बन्द कर चलना और रहना उचित नहीं है। बनवासी जीवन-चर्या, ग्रामों में नहीं चल सकती और ग्रामों की चर्या, नगरों एवं महानगरों में समादृत नहीं हो सकती । आज के युग में मल-मूत्र आदि की परिस्थापन से सम्बन्धित चर्या जो आलोचना का पात्र हो रही है, उसके मूल में देशज्ञता का ही अभाव है । नागरिक सभ्यता प्रधान क्षेत्रों में सड़कों पर यों ही चोरी-छिपे इधर-उधर मल-मूत्र विसर्जन की क्रिया एक ओर हास्यास्पद है, दूसरी ओर राजकीय प्रशासन विरुद्ध है तथा तीसरी ओर जिन-शासन की अवहेलना का कारण है ।

१६. कालज्ञ : सुदक्ष आचार्य को परिवर्तित समय का ध्यान रखना आवश्यक है । इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में काल प्रतिलेखना के महत्त्व का वर्णन है । समयोचित जीवन-व्यवस्था के अभाव में संघ छिन्न-भिन्न होने की स्थिति में पहुँच जाता है । शीत ऋतु में ग्रीष्म का और ग्रीष्म ऋतु में वसन्त एवं वर्षा का राग अलापना अनुचित नहीं, तो क्या है? खेद है, आज के संघ नेता भगवान् महावीर के ‘काले कालं समायरे’ जैसे उदात्त एवं उपयोगी काल-सूत्र की उपेक्षा करके जिन-शासन की महत्ता को क्षति पहुँचा रहे हैं ।

१७. भावज्ञः भावज्ञ शासक ही अपने अनुगामी जनों की भावना एवं परिस्थिति विशेष को यथोचित रूप से समझ सकता है । कौन साधक, किस भूमिकापर है, उसकी बौद्धिक एवं कार्य-शक्ति कितनी है—यह न जान कर, सबको एक ही ढंडे से हांकना कथमपि उचित नहीं है । इसीलिए शास्त्रों में वृद्ध, बाल और रोगी आदि के सम्बन्ध में अपवाद स्वरूप विशेष सूचनाएँ दी गई हैं । प्रायश्चित्त के क्षेत्र में भी इसी दृष्टि से एक अपराध में भी न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देने का मौलिक विधान है ।

देह-बल और दृष्टि बल आदि को ध्यान में रख कर ही साधना का पथ प्रशस्त हो सकता है । मक्खी, मच्छर, गरुड़ के पंख लगा कर एक इंच भी इधर-उधर उड़ नहीं सकते और इसी प्रकार गरुड़ भी मक्खी-मच्छर के पंख लगा कर हिमगिरि के उच्च शिखरों तक उड़ान नहीं भर सकता । इसीलिए जैन-शासन में यथाशक्ति का मंगलमय उद्घोष है । आचार्य उमास्वाति का “शक्तिस्त्यागतपसी”—वचन इसी उद्घोष को सहस्राधिक वर्षों से प्रमाणित करता आ रहा है ।

१८. आसन्नलब्ध प्रतिभ : यह महान ज्ञान-गुण ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से प्राप्त होता है । इसका अर्थ है— तत्काल समयानुकूल निर्णायक बुद्धि का जागृत होना । कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि उस समय यथोचित समाधान के लिए न शास्त्र देखे जा सकते हैं, न किसी अन्य से परामर्श किया जा सकता है । विचार कीजिए, किसी सिद्धान्त विशेष पर वाद अर्थात् शास्त्रार्थ हो रहा है । वादी-प्रतिवादी दोनों ही ओर से अपने-अपने तर्कों की अबाध गति से बाण-वर्षा कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में वाद-लब्धि का धनी प्रतिभाशाली एवं प्रत्युत्पन्नमति महान ज्ञानी ही विजय प्राप्त कर सकता है और शासन की महत्ती प्रभावना को गौरवशाली बना सकता है । हमारे महान दार्शनिक आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी, उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, वादिदेवसूरि, श्री समन्तभद्र, श्री अकलंक एवं वादिराज आदि इसी महत्तम कोटि के शासन प्रभावक वाद-कुशल आचार्य थे ।

जुलाई १९८६

आचार्य कौन ?

खण्ड २

आचार्य का पद साधना-क्षेत्र में एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण पद है । यह अणिमा-लघिमा की तुच्छ सीमाओं से परे अद्भुत महिमा एवं गरिमा का सर्वोपरि पद है । अतएव अनेकत्र लिखा मिलता है—“ तित्थयर समोसूरी” अर्थात् तीर्थंकर के समान शासन की महत्ता का आचार्य भी एक गौरवशाली प्रतीक है । शासन का नेतृत्व कोई यों ही ऐरा-गेरा व्यक्ति नहीं कर सकता । जिसका व्यक्तित्व एवं कृतित्व दीप्तिमान होता है, वही आचार्य पद का प्रामाणिक पात्र होता है । “अरहंतो भगवंत.....” नामक मंगल श्लोक में इसी दृष्टि से आचार्यों को स्मरण करते हुए उन्हें “आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः” कहा है ।

आचार्य को मातृ-हृदय के समान कोमल, साथ ही पितृ हृदय के समान कठोर होना चाहिए । यह कोमलता और कठोरता का सममिश्रित व्यक्तित्व ही स्नेहसिक्त अनुशासन संघ में सहज ही ग्राह्य एवं आदरास्पद होता है। इसी सम्बन्ध में आवश्यक चूर्णिकार ने लिखा है—“ चन्दमिव सोमं, सूरमिव दित्तेयं ” अर्थात् आचार्य को सूर्य के समान दीप्त तेजवाला और चन्द्रमा के समान सौम्य, शान्त एवं शीतल होना चाहिए ।

आचार्य कल्याण एवं मंगल स्वरूप होता है । अतएव कल्याण एवं मंगल की इच्छा से जिसकी उपासना की जाती है, वही आचार्य शब्द वाच्य है । अतः आचार्य शब्द की निरूक्ति यही है—

“ आचर्यते—सेव्यते कल्याणकामैरित्याचार्यः ”

—प्रवचनसारोद्धार टीका २४

आचार्य का लक्षण करते हुए आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है— जो सम्यक्-आचार का स्वयं आचरण करके उसे प्रभाषित करते हैं, अन्य शिष्यों से यथायोग्य पद्धति से आचरण कराते हैं एवं उत्सर्गअपवाद से सम्बन्धित विधि-निषेधों की समुचित परूपणा करते हैं वे आचार्य हैं—

(३९७)

“ आचारं आचारमाणा तहा पभासंता ।
आचारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति ॥”- ९९४

केवल जैन-परम्परा में ही नहीं, वैदिक परम्परा में भी आचार्य की महत्ता सर्वोपरि विराजित है । महर्षि मनु ने अपने महान स्मृति ग्रन्थ मनुस्मृति में आचार्य को ब्रह्मलोक का महाप्रभु बताया है- “ आचार्यो ब्रह्मलोकेः ।” ४-१८२ इस पर से स्पष्ट है कि आचार्य की सर्वविदित गरिमा है । वैदिक-परम्परा में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मलोक माना गया है । ब्रह्म का अर्थ-निर्मल आत्मा एवं निर्मल ज्ञान ही होता है । आचार्य इसी लोक का ईश है ।

आचार्य पद की अर्थवत्ता गुणवत्ता पर निर्भर है । जो अपने महान् गुणों से अन्तरंग और बहिरंग-दोनों रूपों में एक समान अलंकृत है, वही आचार्य संघ द्वारा पूज्यता को प्राप्त करता है । जो आचार्यत्व के सदगुणों से हीन है उसके लिए एक प्राचीन सदुक्ति है- वह सोने के गुणों से विकल छोटे सोने के समान है- “ सुवर्णगुणविकलं सुवर्णमिव ” पाठक जानते हैं कि पारखी की नजरों में छोटे सोने का क्या अर्थ एवं महत्त्व रह जाता है ।

आचार्य के गुणों का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है । संक्षेप दृष्टि से आचार्य के छत्तीस गुण माने गए हैं । छत्तीस गुणों का संकलन अनेक दृष्टियों से हुआ है । मैंने प्रस्तुत लेख के पूर्वांश में प्रवचन सारोद्धार के आधार पर ही आचार्य के गुणों का निर्देश करते हुए अठारह गुणों का वर्णन किया है । प्रस्तुत में शेष अठारह गुणों का वर्णन किया जा रहा है । मेरे विचार में दशाश्रुत स्कन्ध में वर्णित आचार्य की आठ सम्पदा तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में वर्णित आचार्य के महत्त्वपूर्ण गुण, उक्त छत्तीस गुणों में प्रायः समाहित हो जाते हैं।

१९. नानाविध देश-भाषज्ञ : आचार्य को नानाविध देशों की भाषा का भली-भाँति ज्ञाता होना चाहिए । भाषा जन-सम्पर्क का सबसे बड़ा माध्यम है । आचार्य को किसी एक देश में सीमित न रह कर जिन शासन के प्रचार हेतु नाना देशों में भ्रमण करना होता है । यदि आचार्य बहुभाषा विज्ञ नहीं है, तो तत्-तद्देशीय जनों को कैसे जैन-दर्शन एवं धर्म का बोध कराएगा ? आचार्य कुछ और कहेगा और लोग कुछ और ही समझेंगे । समझेंगे क्या खाक ? यूँ ही

दिङ्मूढ बने बैठे रहेंगे और अन्ततः निराश होकर आचार्य को उपाहासास्यद स्थिति में छोड़कर चले जाएँगे ।

आचार्य के लिए प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं का सम्यक् परिज्ञान भी आवश्यक है । हमारे प्राचीन संस्कृति, धर्म, दर्शन, इतिहास आदि की उदात्त गाथाएँ इन्हीं प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध हैं । यदि आचार्य को तथाकथित प्राचीन भाषाओं का परिज्ञान नहीं है, तो वह अपने पूर्वजों के जन-कल्याणकारी महान संदेशों को सर्वसाधारण जनता तक कैसे पहुँचा सकेगा ?

सुविज्ञ पाठकों को आचार्य कालक का इतिहास परिज्ञात होगा । उज्जैन के नरेश द्वारा साध्वी सरस्वती का जब अपहरण किया गया, तब आचार्य देव कालक ने कितना महान कार्य किया था, इस पर हमें आज भी गौरव है । आचार्यश्री भारत के विभिन्न देशों के राजाओं और जनता के पास गए थे और उन्हें इस अन्याय एवं अत्याचार के विरोध में संगठित होकर संघर्ष करने का आह्वान किया था । अन्ततः आचार्य तत्कालीन पारस देश (ईरान आदि) में भी गए थे और वहाँ उन्होंने अनेक राजकुमारों को धनुर्विद्या में शिक्षित कर द्रोणाचार्य की भाँति गुरु ऋण की अदायगी के रूप में साध्वी सरस्वती को मुक्त कराने का प्रभावशाली संदेश दिया । इतिहास साक्षी है—इन सबके सहयोग से अन्ततः उज्जैन नरेश का पतन हुआ और साध्वी सरस्वती मुक्त करा ली गई । यदि आचार्य कालक बहु भाषा-विज्ञ न होते, तो ऐसा हो सकता था क्या ? भारत का, विशेषतः जैन इतिहास का यह अध्याय तो कलंकित ही रह जाता । यह कलंक धुल सका आचार्यश्री की बहु-भाषाविज्ञता के आधार पर, साथ ही उनके प्रचण्ड साहस और धर्म-रक्षा के महत्त्वपूर्ण सदाग्रह पर ।

२०. ज्ञानाचार-युत : साधना का मूल ज्ञान है । इस संबंध में दशवैकालिक सूत्र चतुर्थ अध्यायन का ज्ञान-सूत्र ध्यान में रखने योग्य है— “ पढमं नाणं तओ दया ” — ज्ञानाभ्यास प्रथम है, तदनन्तर चारित्र की आराधना । “अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं—४.१०” अज्ञानी क्या धर्म-साधना करेगा? ज्ञान के अभाव में वह श्रेय एवं अश्रेय, पुण्य एवं पाप आदि का बोध कैसे प्राप्त कर सकेगा ? अतः देवेन्द्रसूरि ने “ नमो नमो नाण दिवायरस्स ” ज्ञान को नमस्कार करते हुए-ज्ञान को दिवाकर कहा है । अतः आचार्य को ज्ञानाचार का पूर्ण अभ्यासी होना चाहिए । यदि वह स्वयं ज्ञानी नहीं है, तो अपने साधकों

को ज्ञान का समुचित प्रकाश कैसे दे सकेगा ? इस स्थिति में तो अज्ञानी आचार्य पर सूत्रकृतांग सूत्र का यह कथन चरितार्थ होता है— “ अंधो अंधं पहंगितो, दूरमन्दाणुगच्छइ ” — १.१.२.१९ अर्थात् अंधा अंधों का पथ-प्रदर्शक बनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है ।

२१. दर्शनाचार युतः आचार्य के लिए दर्शन-विशुद्धि अति आवश्यक है। दर्शन धर्म-कल्पवृक्ष का मूल है— “ दंसण मूलो धम्मो । ” यदि आचार्य स्वयं तत्त्व-निष्ठा के प्रति सजग नहीं है, स्वयं यथार्थ तत्त्व रुचि के प्रति डांवाडोल है, तो वह साधकों को कैसे तत्त्व-निष्ठावान बनाएगा ? कैसे यथार्थ सत्य के प्रति उनमें समर्पित भावना उत्पन्न कर सकेगा ? साधना के लिए शंका, कांक्षा आदि दोषों से विमुक्ति आवश्यक है और यह सब होता है—दर्शन-विशुद्धि के आलोक में ।

२२. चारित्राचार : मोह और क्षोभ अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त होना चारित्र है । बाह्य चारित्र शरीर है और यह पूर्व परिभाषित चारित्र अन्तरात्मा है । आत्मा के अभाव में शरीर का क्या अस्तित्व रहता है और उसकी क्या परिणति होती है—यह सब कोई जानते हैं । चारित्र का उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार अर्थ है— “ चयरित करं चारित्तं । ”— २८, ३३ । जो आत्मा पर जमे हुए कर्म मल के समूह को रिक्त अर्थात् दूर करता है, वह चारित्र है । चारित्र ही साधक को नए कर्म-बन्धन के हेतु आश्रव से मुक्त कर संवर-भाव में भी स्थिर करता है । इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र का ही अमृत-वचन है—
“ चरितेन निगिण्हाइ । ” — २८, ३५

अस्तु विशुद्ध आचारवान आचार्य ही साधकों को विशुद्ध चारित्र-निष्ठ होने के लिए प्रेरणा का अखण्ड स्रोत होता है । स्वयं विशुद्धाचारी आचार्य को देखकर शिष्य बिना किसी दबाव के सहज ही चारित्र-पथ पर अग्रसर होने लगते हैं ।

२३. तपाचार-युत : तप, संवर एवं निर्जरा का हेतु है । आचार्य उमास्वाति का सूत्र साक्षी है इस सम्बन्ध में — “ तपसा निर्जरा च ”—९, ३ । तप के दो भेद हैं— बहिरंग और अन्तरंग । अनशन आदि छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य आदि छह अन्तरंग तप हैं । अन्तरंग तप मुक्ति

का साक्षात् हेतु है और बाह्य तप परम्परा हेतु । बाह्य तप यदि अन्तरंग तप की प्रगति में सहायक होता है, तो वह तप है, अन्यथा मात्र देह-दण्ड है । आचार्य स्वयं तप का और उसकी विशुद्धि का आचरण करने वाला होना चाहिए । ऐसे तपोधन आचार्य से ही साधक यथायोग्य विशुद्ध तप की प्रेरणा ले सकते हैं ।

२४. वीर्याचार-युत : वीर्य शब्द पुरुषार्थ, पराक्रम, उद्यम एवं उत्साह आदि का द्योतक है । इसके द्वारा ही व्यक्ति विघ्नबाधाओं को एवं कार्य-रोधक आक्रमणों को दृढ़ता के साथ सहन कर सकता है । और, आपत्तियों का निराकरण भी वीर्य के द्वारा ही हो सकता है । नीतिविद् आचार्य भट्टहरि ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है -

“ विघ्नै पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।
प्रारब्धय चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥”

अर्थात् वीर्यशाली धीर उत्तम पुरुष अभीष्ट कार्य को प्रारम्भ कर के बीच में नहीं छोड़ते हैं । भले ही वे कितने ही प्रत्याघातों से पीड़ित किए जाएँ । वीर्यशाली कभी निराश होकर कायर पुरुषों की श्रेणी में नहीं जाता है । अतः वीर्य वह महाशक्ति है, जो व्यक्ति को निरन्तर दीप्तिमान, रखती है । आचार्य जिनदास महत्तर की वीर्य शब्द की निरुक्ति इसी उदात्त भाव को प्रमाणित करती है -

“ विराजयत्यननैव इति वीरियं ” उ.चू. पृष्ठ ९६

“ विशेषेण ईर्यते चेष्ट्यतेऽनेनेति वीर्यः” उ.शा.टी. ६४५

उपर्युक्त वीर्याचार के वर्णन से स्पष्ट है कि आचार्य को विशिष्ट रूप से अप्रतिहत वीर्यशाली होना चाहिए । यदि वह साहसहीन होता है, तो निन्दा-स्तुति के चक्रव्यूह में पड़ कर यथार्थ सत्य की किसी भी भाँति सुरक्षा नहीं कर सकता । वीर्य के अभाव में न वह स्वयं समस्याओं के सागर को पार कर सकता है और न साधकों को ही पार करा सकता है । पंक-निमज्जित हाथियों का गंध हस्ती जैसा महान गजराज ही उद्धार कर सकता है । वीर्याचारशाली आचार्य सत्य के पालन में एवं सत्य को यथार्थ रूप से उद्घोषित करने में कभी हतोत्साह एवं भयाकुल नहीं होता ।

“ संगमसीसे इव नागराया ”

अर्थात् जैसे गजराज संग्राम में शस्त्रों के घात-प्रतिघात को सहता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता जाता है, पीछे नहीं हटता है इसी प्रकार आचार्य भी दुराग्रही अज्ञानी लोगों की ओर से होने वाली आलोचना-प्रत्यालोचना, निन्दा एवं अपमान आदि को सहन करता हुआ विजेता के रूप में सत्य के अग्नि-पथ पर निरन्तर आगे ही बढ़ता जाता है । न कायर बन कर पीछे लौटता है और न सियार की भाँति इधर-उधर संरक्षण की झाड़ियों में छिप कर बैठ जाता है । वीर्यशाली महान आचार्य ही संकट काल में यथायोग्य निर्णय लेते हैं और संघ का यथोचित संरक्षण करते हैं ।

२५. सूत्रार्थ तदुभय विधिज्ञः सूत्र का अभिप्राय है- शब्द पाठ और अर्थ का अभिप्राय है— सूत्र का भाव एवं अभिप्राय अर्थात् तात्पर्य । सूत्र और अर्थ-दोनों से सम्बन्धित चतुर्भंगी सिद्ध होती है— १. सूत्र का ज्ञाता है, अर्थ का ज्ञाता नहीं, २. अर्थ का ज्ञाता है, सूत्र का ज्ञाता नहीं, ३. सूत्र और अर्थ दोनों का ज्ञाता है और ४. सूत्र और अर्थ दोनों का ही ज्ञाता नहीं । चतुर्थ भंग शून्य है । प्रस्तुत में इसका कोई प्रयोजन नहीं है । यहाँ प्रस्तुत में सूत्र-अर्थ तदुभय का प्रयोजन है । आचार्य को सूत्र और अर्थ दोनों का ही सम्यक्तया परिज्ञान होना चाहिए । केवल सूत्र का पाठी शब्द प्रधान होता है । बिना अर्थ अर्थात् तात्पर्य के उसका विशिष्ट तत्त्व बोध रूप कार्य अर्थात् विशिष्ट तत्त्व-ज्ञान कैसे सिद्ध हो सकता है ? और सूत्र के बिना केवल अर्थ मूलहीन वृक्ष के समान होता है, साधक के लिए । अतः सूत्र और अर्थ दोनों का यथार्थ परिज्ञान आवश्यक है । आचार्य सूत्र और अर्थ दोनों का सम्यक्-ज्ञाता होता है, तभी वह शिष्यों को सिद्धान्त का यथार्थ रहस्य समझा सकता है । सूत्र और अर्थ दोनों के यथार्थ बोध में ही ज्ञान की पूर्णता है । इसी सन्दर्भ में आचार्य जिनदास महत्तर ने आचार्य के असीम ज्ञानी होने का वर्णन किया है— ‘गगनमिव अपरिमित णाणं ।’ इधर-उधर से एकत्रित किए गए सीमित ज्ञान से आचार्य की महत्ता नहीं है । सीमित ज्ञान के द्वारा न शिष्यों को परिबोध दिया जा सकता है और न यथावसर वाद-विद्या अर्थात् परवादियों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर अपने दर्शन का गौरव ही बढ़ा सकता है ।

२६. आहरण निपुण : आहरण का अर्थ उदाहरण अर्थात् दृष्टान्त है । आचार्य जिनदास ने दशवैकालिक चूर्णि में आहरण की व्युत्पत्ति की है— 'आहरति तमत्थे विण्णाणमिति आहरणं' अर्थात् जो प्रतिपाद्य विषय का अर्थ में आहरण करता है, वह आहरण है । आचार्यश्री हरिभद्र ने दशवैकालिक टीका के प्रथम अध्ययन में आहरण के लिए उदाहरण शब्द का प्रयोग करते हुए व्युत्पत्ति की है— 'उदाहृत्यते प्राबल्येन गृहयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम्' — जिसके द्वारा प्राबल्य रूप से दृष्टान्तिक अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह उदाहरण है ।

उदाहरण के दो रूप हैं— साधर्म्य और वैधर्म्य । साधना अर्थात् हेतु की जहाँ साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित की जाती है, वह साधर्म्य दृष्टान्त है । जैसे कि जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है । यथा-रसोई घर । वैधर्म्य दृष्टान्त का उदाहरण है साध्याभाव पूर्वक साधनाभाव अर्थात् हेतु का अभाव प्रदर्शित करना । जैसे कि जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धूम भी नहीं होता ? यथा जलहृद ।

न्याय-शास्त्र-विद् आचार्य उदाहरण के प्रयोग में निपुण होता है । उदाहरण के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का जिज्ञासु को ठीक तरह बोध कराया जा सकता है । आगम एवं आगमोत्तर साहित्य में इसीलिए उदाहरणों की एक महत्ती शृंखला निबद्ध है ।

२७. हेतु निपुण: हेतु की व्युत्पत्ति, आचार्य जिनदास की चूर्णि को लक्ष्य में रखते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने दशवैकालिक टीका प्रथम अध्ययन में इस प्रकार की है — " हिनोति-गमयति जिज्ञासित धर्म विशिष्टानर्थानिति हेतुः" अर्थात् जो जिज्ञासित धर्म से विशिष्ट अर्थों का परिबोध कराता है, वह हेतु है । हेतु साध्य की सिद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण है । आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने विधि एवं निषेध रूप में हेतु के दो रूप बतलाए हैं —

तत्थोप्पत्ति एवं अन्यथोप्पत्ति हेतु का रूप इस प्रकार है — पर्वत अग्निवाला होना चाहिए क्योंकि जहाँ अग्नि होती है, वही धूम का अस्तित्व होता है । इसके विपरीत निषेध रूप अन्यथोप्पत्ति हेतु इस प्रकार है— पर्वत अग्निवाला होना चाहिए क्योंकि अग्नि न हो तो धूम का अस्तित्व भी नहीं हो सकता । दोनों की रूपों से साध्य की सिद्धि होती है—

“ हेतोस्तथोपपत्त्या च स्यात् प्रयोगोऽन्यथापि वा ।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥ १७ ॥ ”

आचार्य को हेतु का परिज्ञान पूर्णरीति से होना चाहिए । हेतु के परिज्ञान के अभाव में अपने द्वारा प्रतिपाद्य साध्य की सिद्धि कथमपि संभव नहीं है। इसलिए न्याय शास्त्र में हेतु का महत्त्वपूर्ण स्थान है । शास्त्रार्थों में तो हेतु के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता ।

२८. कारण-निपुण : जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो सके और जो निश्चित रूप से कार्य का पूर्ववर्ती हो, उसे ‘कारण’ कहा जाता है — ‘कार्यनियतपूर्व वृत्ति कारणम् ।’

घट की निष्पत्ति से पूर्व मृत्तिका, कुंभकार, दण्ड, चक्र आदि अपेक्षित कारण हैं । इनके अभाव में घट रूप कार्य की निष्पत्ति नहीं हो सकती । अतः प्रत्येक मनीषी को कारण-कार्य का परिज्ञान होना अतीव आवश्यक है । लौकिक और लोकोत्तर— दोनों ही क्षेत्रों में कार्य-कारण की भीमांसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

२९. नय-निपुणः नय का एक अर्थ उपनय किया जाता है, जिसका अर्थ है— प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार करना । कहीं ऐसा न हो कि प्रतिपाद्य विषय का समर्थन किसी और रूप में किया जाए और उपसंहार में कोई अन्यरूप ही उपस्थित हो जाए । यह तो ऐसा ही होगा कि अश्व का वर्णन करते-करते अन्त में गधे का वर्णन करने लगना । अश्व सिद्धि के बदले गर्दभ सिद्धि का हो जाना विमूढ़ता का परिचायक है ।

नय का अर्थ विचार-दृष्टि भी है । नैगमादि सात नयों का वर्णन आगम एवं आगमोत्तर साहित्य में उपलब्ध है । कहाँ किस नय का प्रयोग करना चाहिए, यह तत्वोपदेशक आचार्य के लिए आवश्यक है । निश्चय और व्यवहार नयों के विपर्यय से अर्थ का अनर्थ ही होता है । अनेक मत-मतान्तरों का जन्म एकान्तवादी दृष्टिकोण से होता है । जो आचार्य नयों का मर्मज्ञ होता है, वह ऊपर से विसंगत दिखने वाली दृष्टियों में भी तर्क-संगत संगति उपस्थित कर विवाद को संवाद में बदल देता है ।

उपर्युक्त उदाहरण एवं हेतु आदि चतुष्टयी का परिज्ञान तत्त्वोपदेशक आचार्य के लिए महत्त्वपूर्ण है । केवल आगम के शब्दों का उल्लेख करने मात्र से प्रतिपाद्य की सिद्धि नहीं हो सकती । तर्क से ही धर्म की और कर्म की साधना को सिद्ध किया जा सकता है । यदि केवल आगम को ही महत्ता दी जाए, तो प्रत्येक धर्म-परम्परा के पास अपने-अपने आगम हैं । अतः किसी एक परम्परा के आगम को ही शब्द मात्र से मान्य किया जा सकता है ? आगम को भी अन्ततः तर्क की कसौटी पर परखना ही होगा । इस सन्दर्भ में आचार्य हरीभद्र ने उक्त चतुष्टयी का उल्लेख करते हुए दशवैकालिक टीका के प्रथम अध्ययन में स्पष्ट उद्घोषित किया है—

“उदाहरणहेतुकारणनयनिपुणस्तद् गम्यान् भावान्
सम्यक् परूपयति नागम — मात्रमेव । ”

आचार्यश्री हरीभद्र का ललित विस्तरा ग्रन्थ जैन-दार्शनिक परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । उसमें आचार्यश्री ने सदोष एवं निर्दोष के सम्यक् परिबोध के लिए विचार-चर्चा को महत्त्वपूर्ण माना है और सही विचार वही होता है, जो पूर्णतया युक्तिसंगत हो —

“ न च दुष्टेतरावगमो विचारमन्तरेण,
विचारश्च युक्तिगर्भ इत्यालोचनीयमेतत् । ”

३०. ग्राहणा-कुशल : आचार्य प्रवचन का मुख्य व्याख्याता होता है । व्याख्याता का आवश्यक गुण है, वह ग्राहणा-कुशल हो । अपने प्रतिपाद्य विषय को जो श्रोताओं के मन-मस्तिष्क में ठीक तरह उतार सके, अपने विषय को युक्ति-युक्त रूप से ग्रहण करा सके, वह व्याख्याता ग्राहणा-कुशल होता है । भाषण, भाषण है, भषण नहीं । यों ही इधर-उधर की विसंगतियों में उलझते हुए बोलना व्याख्याता का एक महान दोष है । अतः व्याख्याता को उक्त दोष से मुक्त रहना चाहिए ।

३१. स्व-समयविद् : समय का अर्थ सिद्धान्त है । आचार्य को स्व-समय का अर्थात् अपने सिद्धान्त का परिज्ञाता होना आवश्यक है । जिसे अपने

सिद्धान्त का सम्यक् परिबोध न हो, वह जिज्ञासु श्रोताओं तथा पर-पक्ष के वादियों के सम्मुख अपने प्रतिपाद्य पक्ष का कैसे समर्थन कर सकता है? स्व-समय के सम्यक् परिज्ञान के अभाव में गरिमा के स्थान में लघुता ही प्रतिफलित होगी ।

३२. पर-समय विद् : आचार्य को पर-मत का भी प्रामाणिक ज्ञान अपेक्षित है । पर-पक्ष का बोध न रखने वाला विद्वान खण्डन-मण्डन के चक्रव्यूह में बुरी तरह फंसा रह जाता है । उसमें से निकलना सर्वथा असंभव है । वाद-विद्या के लिए पर-समय का ज्ञान आवश्यक है । उक्त पर-समय-विद् मनीषी को ही वाद में विजयश्री हस्तगत होती है ।

३३. गम्भीर : आचार्य यदि गम्भीर नहीं है, इधर-उधर की समस्याओं में यदि वह विक्षुब्ध हो जाता है, तो संघ का संचालन कैसे कर सकता है ? उसे तो प्रशान्त महासागर के समान क्षोभ रहित होना चाहिए । गंभीर न रहनेवाला व्यक्ति क्षोभ के वातावरण में जल्दी उखड़ जाता है । फल-स्वरूप स्वयं को और संघ को जनता में उपहासास्पद बना देता है ।

३४ दीप्तिमान : आचार्य को दीप्तिमान होना आवश्यक है । दीप्तिमान तेजस्वी आचार्य का व्यक्तित्व ऐसा होता है कि उसके दर्शन मात्र से विरोधि-से-विरोधि व्यक्ति भी सहसा हतप्रभ हो जाता है और अन्ततः आचार्यश्री के चरणों में श्रद्धावनत हो जाता है । भगवान महावीर के प्रथम दर्शन में ही गौतम उनके दीप्तिमान व्यक्तित्व से सहसा विस्मय विमुग्ध हो गए थे । इसी प्रसंग में आचार्यश्री जिनदास ने “ ओयंसि तेयंसि वच्चंसि ” कहा है और कहा है “ सूरमिव दित्ततेयं । ”

३५. शिव : सन्त-जन शिवत्व भावना के केन्द्र होते हैं । आचार्य को तो विशेष रूप से ही शिव अर्थात् जन-कल्याणकारी होना चाहिए । वह जहाँ भी, जिस प्रदेश में भी जाए, सहज-भाव से आनन्द-मंगल की अमृत-वर्षा करता जाए । जहाँ भी कलह और विग्रह की स्थिति हो, उसे शान्त करे और सबको परस्पर स्नेह सूत्र में आबद्ध करे । आचार्य का काम जोड़ने का है, तोड़ने का नहीं । वह आग को बुझाने वाला है, आग को लगाने वाला नहीं । बिना किसी भेद-भाव के उक्त सर्व मंगलकारी शिवत्व भाव को एक राजस्थानी मनीषी ने अपनी कविता में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है —

“ सन्त रु सरिता, बादली, चले भुजंग की चाल ।
जे - जे सेरी निकसे, ते - ते करत निहाल ॥”

३६. सौम्य : सौम्य का अर्थ है शान्त मन, वाणी और दृष्टिवाला सुन्दर मनोहारी व्यक्तित्व । जिसके दर्शन मात्र से उद्विग्न एवं खिन्न मन सहसा शान्त एवं प्रसन्न होता चला जाए, यथार्थ में वही सौम्य पुरुष है । इस प्रकार सौम्य व्यक्तित्व के मूर्धन्य आचार्य ही जिन-शासन के शृंगार होते हैं ।

मेरा यह लेख आलोचना के मूड में किसी विपरीत भावना से नहीं लिखा गया है । यह मात्र आदर्श आचार्य का आदर्श व्यक्तित्व द्योतित करने के लिए है । प्रस्तुत लेख पर से आज के आचार्य पद वाच्य महानुभाव सोचें, समझे और विचार करें कि वे कहाँ हैं, किस भूमिका में हैं । आचार्य पद के भावी भावना रखने वाले मनीषी भी विचार लें कि उन्हें क्या होना है, क्या करना है ? मैं मानता हूँ कि आचार्य के उक्त सभी गुण संभवतः उपलब्ध न हो, फिर भी अधिक-से-अधिक जितने हो सकें, उतने गुण तो होने ही चाहिए ।

अगस्त १९८६

जरा अपने को तौल तो लीजिए

भू-मण्डल पर मानव एक महान सर्वोत्तम प्राणी है । पुरातन काल से उसकी महत्ता के गीत गाए गए हैं, जो आज भी सभी धर्म-शास्त्रों एवं ग्रन्थों में अनुगुंजित हैं —

“नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ”

किन्तु, उसकी एक बहुत बड़ी दुर्बलता भी है, वह अपने यथार्थ की सीमा से बहुत आगे बढ़कर अपने को प्रदर्शित करता है । कभी-कभी तो छोटे मुँह इतनी बड़ी-बड़ी बातें करता है कि हँसी आने लगती है । क्षुद्र से महान होना अच्छा है, किन्तु वह महान बने तो सही । आश्चर्य तो तब होता है, जब एक बूँद सागर होने का अहंकार करने लगती है, एक नन्हा सा अग्नि-स्फुलिंग सूर्य होने का दावा करने लगता है, और एक मशक गरुड होने का दंभ भरने लगता है । कितनी हास्यास्पद स्थिति है यह ।

आज के युग की यही बड़ी समस्या है कि मनुष्य अपनी शक्ति की दृष्टि से बहुत क्षुद्र है, फिर भी वह व्यर्थ के अहंकार से ग्रस्त होकर इतना लम्बा-चौड़ा बनकर चलता है कि सड़क सँकरी होने लगती है । अपने को गजराज समझता है और दूसरों को मक्खी-मच्छर, कीड़े-मकोड़े । हमारे प्राचीन आचार्यों ने उसे शिक्षा दी थी — मानव को निरन्तर सोच-विचार करने की, कि मैं क्या हूँ और मेरी क्या शक्ति है ? मैं उस शक्ति से क्या-कुछ कर सकता हूँ ? शक्ति से बढ़ कर आगे कदम बढ़ाना अपने को विनष्ट करने के सिवा और कुछ नहीं है ।

मनुष्य के पास धन, एक अल्प सीमा में है । किन्तु, विवाह आदि प्रसंगों पर आप देखते हैं कि कुछ लोग कितना भीषण प्रदर्शन करते हैं । इधर-उधर से कर्ज लेकर भी अपनी अहंता का टूटा ढोल पीटते हैं । परिणाम

यह होता है कि ये दिखावे के घन्ना सेठ कर्ज चुकाते-चुकाते एक दिन सड़क पर आ खड़े होते हैं, दीन-हीन दरिद्र दशा में । कुछ लोग तो अपने को संभाल नहीं पाते हैं, तो अन्त में धैर्य खोकर आत्म-हत्या तक की स्थिति में भी पहुँच जाते हैं ।

कुछ महानुभाव नर और नारी, रूप के अहं से ग्रस्त हैं । अपने सौंदर्य के प्रदर्शन के लिए अनेक प्रकार के धर्म-भावना से वर्जित शृंगार प्रसाधनों का प्रयोग करते हैं । और, वस्त्रालंकार की बेतुकी सजावटों से दूसरे के मन में ईर्ष्या का भाव जगाते हुए अकड़ खों बन कर घूमते हैं कि हम भी कुछ हैं ! उन्हें पता नहीं, एक दिन वह भी स्थिति आ सकती है कि रोग का एक नगण्य कीटाणु भी उनके सौन्दर्य की चमक को चकनाचूर कर उन्हें घृणित एवं अदर्शनीय स्थिति में पहुँचा सकता है । जैन-इतिहास का सनतकुमार चक्रवर्ती स्वर्ग के देवों से भी अधिक सौन्दर्य के शिखर पर पहुँचा हुआ था, परन्तु कुछ ही क्षणों में कुष्ठरोगों से ग्रस्त होकर क्या से, क्या हो गया था ? और, भी अनेक उदाहरण हैं । अधिक गणना से क्या है ? एक उदाहरण भी पर्याप्त है, यदि कोई समयोचित बोध ले सके तो ।

बचपन से निकल कर मनुष्य जब यौवन की दहलीज पर पहुँचता है, तो अपने शारीरिक बल का नशा इतना चढ़ जाता है कि कुछ पूछो नहीं । अपने को भीम और अर्जुन से कहीं अधिक ही समझने लगता है । शक्ति से बढ़कर इतना भार उठा लेता है कि कभी-कभी जीवन भर के लिए अपंग हो जाता है । मैं एक बार एक साधारण-से छोटे गाँव में ठहरा हुआ था । सामने एक छोटा-सा अखाड़ा था, जिसमें एक बहुत बड़ा भारी पत्थर का मुगदर पड़ा हुआ था । युवक आते और अपना बल तौलने के लिए उसे उठाने का प्रयत्न करते और कुछ उठा भी लेते थे । इतने में एक कमजोर-सा युवक आया और बोला कि लो, इसे तो मैं मिनटों में उठा लेता हूँ । मना करने पर भी न माना और परिणाम यह हुआ कि रीढ़ की हड्डी चटक गई । अब चला रुदन का चक्र । मैं देखता रहा, यह कितना अज्ञान है । इसे अपनी सीमा का कुछ होश नहीं है ।

जैन-दर्शन में तो त्याग और तप के लिए भी कहा गया है— अपनी शक्ति से अधिक कुछ न करो । आचार्य उमास्वाति का सूत्र है “शक्तितस्त्यागतपसी ।” किन्तु कुछ विवेकहीन व्यक्ति अपनी शक्ति से अधिक

मासखमण जैसे लम्बे-लम्बे तप करने पर उतारू हो जाते हैं । खेद है, कुछ धर्म-गुरु और अन्य साथी भी इसके लिए उन्हें उकसाते हैं । अनेक बार ऐसा होता है कि स्वास्थ्य क्षीण हो जाता है, शरीर जवाब दे देता है और तप के निर्धारित दिन काटने मुश्किल हो जाते हैं । धर्म की प्रभावना का तो सिर्फ नाम होता है, किन्तु होता है अपनी प्रभावना का अहं । समाचार-पत्रों में पढ़ा होगा— अनेक बार ये दीर्घ तपस्वी अन्ततः अपने प्राण भी गँवा देते हैं, जिससे प्रभावना के बदले सर्व साधारण में अप्रभावना ही हो जाती है ।

समाज में विद्या और बुद्धि का अहंकार भी कम नहीं है । आजकल यह रोग साधु-समाज में अधिक तीव्र गति से फैला हुआ है, जिन्होंने धर्म एवं दर्शन के वाङ्मय का ठीक तरह स्पर्श भी नहीं किया है, वे अपने को मनीषि-पुंगव एवं पण्डितराज समझते हैं । आए दिन अपने नाम के आगे-पीछे बड़े-बड़े पदों की लम्बी सूची लटकाए फिरते हैं । इधर-उधर से अखबारों की कतरनें समेट कर यों ही कुछ लिख लेते हैं और एक ही वह क्षुद्र लेख अनेक अखबारों में प्रकाशित करते रहते हैं । सिद्धान्त का तो क्या, साधारण भाषा का भी उन्हें परिज्ञान नहीं होता है । बड़बोले बन जाते हैं । उन्हें वह प्राचीन मनीषियों की वाणी ध्यान में नहीं रहती है — “ अर्घोघटा घोषमुपैतीनूनं” आधा घड़ा अधिक छलकता है । इसी अर्थ में लोकोक्ति है— “ अघजल गगरी छलकत जाय । ”

प्राचीन संस्कृत - साहित्य में एक बोध कथा है, कि एक शेरनी ने मृत सियारनी के नवजात शिशु को सहज दया भाव से उठा कर अपनी गुफा में लाकर पालना शुरू कर दिया । कुछ समय बाद शेरनी के भी एक बच्चा हो गया । दोनों बन्धु के रूप में परस्पर प्रेम से रहने लगे । कालान्तर में कुछ बड़े भी हो गए । एक दिन सामने से एक हाथी गुजर रहा था, तो सिंह शिशु ने उसपर झपटा मारा और कुछ ही क्षणों में उसे घराशायी कर डाला । शेरनी ने इस पर अपने पुत्र को पुचकारा और शाबाशी दी । इस पर शृगाल शिशु को ईर्ष्या हुई और वह बड़े भाई के स्वर में अहं ग्रस्त होकर बोला— कौन सा बड़ा कद्दू में तीर मारा है, जिसपर यह भी फूला नहीं समा रहा है और साथ ही मम्मी भी । मैं इससे भी बड़े भयंकर एवं भीमकाय हाथी को कुछ ही क्षणों में मार कर खण्ड-खण्ड कर सकता हूँ । शेरनी हँसी और बड़े प्यार से बोली — वत्स, तू अपने को नहीं पहचानता है कि तू यथार्थ में क्या है ? तू कितना ही बलवान

और शूरवीर हो, किन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है, उसमें हाथी नहीं मारे जाते हैं । मारना तो दूर, हाथी के पास जाने तक का भी साहस नहीं होता है—

“ शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनियोसि पुत्रक ।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ”

उक्त कथासूत्र की नजरों से देखा जाए, तो मानवजाति में भी कितने ही ऐसे शृगाल-शिशु हैं, जिन्हे अपनी योग्यता, शक्ति, बल और बुद्धि आदि का कुछ भी परिबोध नहीं है । वे अपनी सीमाओं से व्यर्थ ही आगे बढ़ते हैं, और अपने को सर्वनाश के गर्त में डाल देते हैं । भारत के मनीषियों ने तथाकथित अहंकार ग्रस्त में डाल देते हैं । भारत के मनीषियों ने तथाकथित अहंकार ग्रस्त मानव को सावधान करते हुए सूचित किया था— मानव तुझे निरन्तर विचार करते रहना चाहिए कि मैं कौन हूँ और मेरी क्या शक्ति है— “ कश्चाहं काच मे शक्तिरीति चिन्तित्मु मुहुर्महुः । ”

यदि हम अपने महान पूर्वजों की शिक्षाओं पर उचित रूप से ध्यान दें, तो आज के पारिवारिक एवं सामाजिक द्वन्द्व काफी हद तक समाप्त हो सकते हैं । त्यागी-वर्ग में एक-दूसरे के प्रति आदर-भाव एवं सद्भाव स्थापित हो सकता है । व्यक्तिगत तथा साम्प्रदायिक कलुषित मनोवृत्ति धुलकर साफ हो सकती है । जो भी, जहाँ भी, जिस किसी भी रूप में द्वन्द्व, संघर्ष, कलह एवं विग्रह हैं, वे सब ठीक तरह से अपने को परखने-तौलने के अभाव से हैं । अतः अपने को एकान्त क्षणों में कार्य-क्षेत्र में उतरने से पहले यथार्थता की तुला पर ठीक तरह तौल लेना चाहिए ।

सितम्बर १९८६

विश्व शान्ति का एक मात्र मार्ग : अहिंसा

अहिंसा, आध्यात्मिक-चेतना का वह अमोघ अमृत-स्रोत है, जिसकी तुलना या उपमा न कहीं धरती पर है ओर न कहीं अम्बर पर है। आदमी, तभी आदमी बनता है सही अर्थ में, जब कि उसके हृदय-हिमगिरि से अहिंसा-गंगा की कोई-न-कोई धारा फूट पड़ती है।

तन का क्या है ? वह सुन्दर या असुन्दर जैसा भी है, चमड़े की आँखें ही उसका मूल्यांकन करती हैं। किन्तु, असली इन्सान तन में नहीं, मन में रहता है। अतः उसके सुन्दर और असुन्दर रूप का मूल्यांकन विवेक एवं विचार की दिव्य आँखें ही कर सकती हैं।

मनुष्य बाहर में मनुष्य का रूप-आकार धारण कर के अन्दर में दैत्य भी हो सकता है, और देव भी। पशु भी हो सकता है और मनुष्य भी। इतना ही नहीं, विश्व-चेतना के उच्चतम शिखर पर पहुँच कर वह परमात्मा एवं ईश्वर भी हो सकता है। और यह तभी हो सकता है, जब उसका हृदय हिंसा की विषाक्त-चेतना से मुक्त होकर अहिंसा की जन-कल्याणी अमृत-चेतना से सर्वतोमुखी रूप में आप्लावित होता है।

मानव और पशु के जीवन की भेदक-रेखा बाह्य दृष्टि के क्षेत्र में एक-दो क्या, अनेक हो सकती हैं। किन्तु, अन्तर्-दृष्टि से देखा जाए, तो मात्र एक ही रेखा है। और, वह है अहिंसा। अहिंसा के अभाव में मनुष्य और हिंसक वन्य-जन्तुओं में देहवृत्ति के अतिरिक्त, अन्य कोई भेदक-रेखा न कभी थी और न कभी होगी। अतः मैं अहिंसा और मानवता को पर्यायवाची शब्द मानता हूँ। अहिंसा ही वास्तव में मानवता है।

मनुष्य कभी अपने पिण्ड में ही सीमित था। उसके सुख-दुःख की अनुभूतियाँ केवल उसके पिण्ड तक ही परिच्छिन्न थीं। कितना भव्य एवं

मंगलमय मानवीय इतिहास का वह क्षण हो गया, जब मानव सुख-दुःख की अनुभूति के रूप में आस-पास में इधर-उधर दूसरों को भी देखने लगा होगा ? पिण्ड की क्षुद्र परिधि से निकल कर प्रेम और स्नेह से द्रवित मन जब दूसरों से जुड़ा, तब उसने परिवार के रूप में एक विराट अँगड़ाई ली । और जब परिवार की सीमाओं से भी आगे फैलने लगा, तो परिवार से परिवार जुड़े और मानव ने समाज एवं राष्ट्र के रूप में एक और नया विराट रूप धारण किया । कुछ दिव्य आत्माएँ समाज एवं राष्ट्र से भी आगे फैलने लगी और फैलते-फैलते समग्र विश्व की चेतना के साथ एकाकार हो गई । इस प्रकार वे विश्वात्मा एवं परमात्मा के रूप में विराट-चेतना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई । फलतः समग्र विश्व के लिए अभिनन्दनीय-अभिवन्दनीय बन गई ।

यों तो अहिंसा तीन अक्षरों का एक छोटा-सा शब्द है । किन्तु, भावात्मक दृष्टि से देखें, तो उसमें असंख्य एवं अनन्त पवित्र भावनाएँ समाहित हैं। यह मानव-हृदय की वह अन्तरंग गंगा है, जिसकी धाराओं की कोई गणना नहीं है । मैत्री, करुणा, दया, क्षमा, उदारता आदि एक-से-एक बढ़कर अनेक पवित्र एवं दिव्य नामों से अहिंसा को अभिहित किया है, हमारे तत्त्वदर्शी प्रबुद्ध पूर्वजों ने । इसी विराट भावना को लक्ष्य में रख कर महाश्रमण भगवान महावीर ने प्रश्नव्याकरण सूत्र में अहिंसा को 'भगवती' कहा है । और, उत्तरकालीन महान् दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र ने इसे 'पर-ब्रह्म' के रूप में स्मरण किया है । स्वयंभूस्तोत्र में अहिंसा के श्रीचरणों में श्रद्धा-सुमन अर्पण करते हुए आचार्य श्री समन्तभद्र कहते हैं—

“अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ”

भारतीय-संस्कृति में, जो धर्म-परम्पराएँ हैं, उनमें साधना के अनेक रूप वर्णित किए गए हैं । बाहर में देखते हैं, तो वे रूप परस्पर एक-दूसरे से मिलते नहीं दिखाई देते हैं । और, कुछ ऐसे अज्ञान-ग्रस्त लोग भी हैं, जो इन्हीं बाह्य रूपों में अटक कर रह गए हैं और परस्पर पाशविक द्वन्द्वों में लड़ते-झगड़ते धर्म को अधर्म का भी रूप दे रहे हैं । उन्हें धर्म के मूल स्वरूप का पता ही नहीं, कि वस्तुतः धर्म है क्या? धर्म, अहिंसा के अतिरिक्त कुछ नहीं है । अतः महर्षि व्यास ने कहा है— “धर्म का लक्षण अहिंसा है और अधर्म का लक्षण हिंसा ।”

अतः जो यथार्थ में धर्मार्थी-जन हैं, उन्हें प्राणि-मात्र के प्रति अहिंसा अर्थात् दया और प्रेम का मानवोचित व्यवहार करना चाहिए । मूल पाठ है, महर्षि व्यास के शब्दों में—

“ अहिंसा लक्षणो धर्मः, अधर्मः प्राणिणां वधः ।
तस्मात् धर्मार्थीभिलोकैः कर्तव्या प्राणिणां दया ॥ ”

प्रश्न है, यदि अहिंसा ही धर्म है, तो सत्य, अस्तेय आदि क्या हैं ?

समाधान के लिए कहीं दूर जाने की अपेक्षा नहीं है । असत्य क्यों नहीं बोला जाए ? इसलिए कि असत्य-वचन से दूसरों के मन को पीड़ा होती है । इसी प्रकार चोरी, व्यभिचार तथा लोभान्वित परिग्रह भी पर-पीड़ाकारी होने से त्याज्य हैं । इस से अन्य प्राणियों को हानि पहुँचती है तथा सामाजिक हितकर व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है । इसलिए श्रमण भगवान महावीर ने ज्ञान का सार-तत्त्व अहिंसा को बताया है । सूत्रकृतांग सूत्र में भगवान के अमृत-वचन हैं—

“ एवं खु नाणीणो सारं, जं न हिसइ किंचनं ”

भगवान महावीर के महान उत्तराधिकारी अनेक आचार्यों में आचार्य श्री जिनदासगणि का अतीव गौरवास्पद स्थान है । उन्होंने अहिंसा के सर्वव्यापी महत्ता के सम्बन्ध में कहा है— “ अहिंसा ही एक मूल महाव्रत है, जिसमें अन्य सत्य आदि सभी महाव्रत समाहित हो जाते हैं । ”

सम्पूर्ण जैन-वाङ्मय अहिंसा से पूर्णतः ओत-प्रोत है । अतः इसी दृष्टि से जैन-धर्म और अहिंसा पर्यायवाची शब्द बन गए हैं । जैन-धर्म का नाम लेते ही प्रबुद्ध विचारकों के मन में अहिंसा धिरकने लगती है ।

तथागत बुद्ध करुणा के दिव्य अवतार पुरुष हैं । उनकी अमृतमयी -वाणी में यत्र-तत्र मैत्री, करुणा आदि नामों के रूप में अहिंसा का दिव्य स्वर अनुगुंजित है । अहिंसा के प्रतिपक्ष हिंसा को धिक्कारते हुए उन्होंने कहा है— “भय और हिंसा पाप का मूल है” — “ अधमूलं भयं वधो । ”

उत्तरकालीन भारत की समग्र सन्त-परम्परा अहिंसा, करुणा, दया की इतनी पक्षधर है कि यदि उनके प्रमाण-वचनों का संकलन किया जाए, तो एक विराट-काय ग्रन्थ ही बन जाए। फिर भी, उसमें सबको संग्रहित नहीं किया जा सकेगा।

किन्तु, आज खेद है कि अहिंसा के पुजारी भारत का ही नहीं, समग्र विश्व का मानव अहिंसा भगवती को भूलता जा रहा है। आज का मानव अपने क्षुद्र स्वार्थों में इतना अधिक लिप्त हो गया है, कि उसे अपने जीवन के अतिरिक्त दूसरा कोई जीवन, जीवन ही नहीं दिखाई देता है। यही कारण है कि आज नाना रूपों में हिंसा-राक्षसी अपना खुला नग्न नृत्य कर रही है। मानव का हृदय, हृदय न रहकर मात्र एक मांस का पिण्ड रह गया है। यदि उसे मांस-पिण्ड ही नहीं, सीधे-सपाट शब्दों में अनगढ़ पत्थर ही कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिस हृदय में किसी के सुख में हर्ष की और दुःख में पीड़ा की अनुभूति न हो, तो वह पत्थर नहीं, तो फिर क्या है? एक पत्थर के समक्ष दूसरे पत्थर को तोड़ा जाता है, तो उसमें अनुकम्पन की कोई हल-चल होती है क्या? आज का मनुष्य इसी स्थिति में पहुँचता जा रहा है। प्रातःकाल उठते ही मनुष्य अखबार पढ़ता है, तो मुख पृष्ठ पर कोई-न-कोई रक्त-रंजित घटना की खबर पढ़ने को मिलती है। और, उसे पढ़ कर, वह झटपट आगे चल पड़ता है। जैसे यह कोई खास बात नहीं हुई। सुबह, मध्याह्न और सायं, जब भी कभी कहीं से भी रेडियो स्विच आन करें, तो कहीं-न-कहीं घरती पर निरीह मानव के रक्त बहने की क्रूर-ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह रक्त बहाया जा रहा है, कहीं जाति के नाम पर, कहीं राष्ट्र के नाम पर और कहीं पवित्र धर्म के नाम पर। एक प्रकार का उन्माद, बेतुका पागलपन छाया हुआ है, मानव के मन, वाणी और कर्म पर। कोई उस पागल बने मानव से पूछे-यदि घरती के अन्य सब मनुष्य नष्ट हो जाएँ, तो तू घरती पर नंगे भूत की तरह भटकता फिरेगा, तब तेरा क्या होगा?

आज पर्यावरण एवं प्रदूषण के रूप में न अन्न शुद्ध रहा है, न जल और न हवा। हर साँस के साथ मनुष्य एवं मनुष्येतर प्राणियों के अन्दर एक भयंकर प्राण-लेवा विष निरन्तर व्याप्त होता जा रहा है।

(४१५)

हिंसा, शुद्ध वस्तुओं में अशुद्ध वस्तु के मिलावट के रूप में भी अपना भयंकर रूप छिपाये बैठी है। और बात छोड़िये, खाद्य और पेय के रूप में जो जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं, वे भी मिलावट से खाली नहीं रही हैं। मनुष्य रोग-मुक्ति के लिए जीवन-रक्षा के रूप में औषधी लेता है। किन्तु, उसे पता नहीं, जिसे वह अमृत समझे हुए है, वह अमृत नहीं, प्रत्युत उसमें भी प्राण-घातक भयंकर विष भी मिला है।

मनुष्य अपने आपको सुन्दर प्रदर्शित करने के लिए आदिकाल से शृंगार का पुजारी रहा है। प्राचीन-काल के शृंगार प्रसाधन पुष्प, स्वर्णालंकार आदि के रूप में मनुष्य को सुसज्जित करते थे। किन्तु आज ? आज की स्थिति क्या है? यह सब के समक्ष है। शृंगार-प्रसाधनों के लिए प्रतिदिन सहस्राधिक मूक प्राणियों की इतनी क्रूरतापूर्वक हत्या की जाती है, कि एक बार तो किसी दानव का दिल भी दहल जाए। किन्तु, मनुष्य यह सब-कुछ जानते हुए भी आँख-मूंद कर तथाकथित रक्त-रंजित सौन्दर्य प्रसाधनों का अन्धाधुन्ध प्रयोग किए जा रहा है। मानव, मन्दिरों, उपाश्रयों, गुरुद्वारों आदि धर्म-स्थानों में दया-धर्म की लम्बी-चौड़ी बातें सुनता है, उन्हें सुनकर स्वीकृति में मस्तक हिलाता है, किन्तु बाहर आ कर करता वही है, जो करता आ रहा है। लगता है, धर्म केवल सुनने मात्र के लिए रह गया है, करने के लिए नहीं।

काफी लम्बे समय से हिंसा के नग्न-ताण्डव की एक और चर्चा सुन रहे हैं। वह अणु-युद्ध की। युद्ध वैसे भी एक भयंकर अभिशाप है, मानव-जाति के लिए। और, अणु-युद्ध तो इतना भीषण है कि उसकी बात चलते ही सहृदय मानव का जर्जर-जर्जर कांप उठता है। ६ और ९ अगस्त १९४५ को जापान में अमेरिका द्वारा अणुबम से ध्वस्त किए गए हिरोशिमा-नागासाकी की वर्षगाँठ इन्हीं दिनों मनाई गई है। उस अणुबम के गिराने से तत्काल ही दो लाख व्यक्ति काल के गाल में पहुँच गए थे। बाद में अनेक व्यक्ति मरते रहे और अब तक उनकी संख्या पाँच लाख से कहीं अधिक हो गई है। इतने वर्षों के बाद भी वहाँ जो बच्चे आज जन्म ले रहे हैं, उनमें अधिकतर अपंग होते हैं। कई ऐसे अपंग होते हैं कि उनके लिए जीना-मरना बराबर है। वैज्ञानिकों का कहना है— तत्कालीन अणुबम की अपेक्षा, आज के अणु-आयुध हजारों गुना अधिक शक्तिशाली हैं। इनके समक्ष वह बम तो केवल पटाखे जैसा लगता है। और, अब तो आकाश में नक्षत्र-युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। ये ऐसी तैयारियाँ हैं कि किसी राष्ट्र के

नेता का घृणा एवं विद्वेष से मन पागल हो जाए, और इस राक्षसी अणुबम का नभ से ही प्रयोग कर दे, तो वह समग्र पृथ्वी को निर्जीव शून्य मरघट में बदल डाले । यह बदलना ऐसा होगा, कि वह अपनी रक्षा के कितने ही उपाय करे, फिर भी वह स्वयं और उसका राष्ट्र भी भस्म हुए विना नहीं रहेगा । प्रभु कृपा करें कि आज के ये राष्ट्र नेता हिंसा की भयंकरता को समझें और उसे ठुकरा कर भगवती अहिंसा की सच्चे दिल से उपासना करें । इस रूप में ही उनकी मानवता, मानवता रह सकती है । मानवता की अर्थवत्ता और गुणवत्ता अहिंसा और अहिंसा के मैत्री, करुणा, सद्भावना एवं बंधुता आदि के पवित्र रूपों में सुरक्षित रह सकती है ।

दानवी हिंसा का एक रूप, रूप क्या कुरूप, आज धर्म-रक्षा के नाम पर फैल रहा है । कुछ लोग हैं, जो आँखों के होते हुए भी अन्धे हैं । अधर्म के पथ पर चल रहे हैं और समझ रहे हैं कि हम धर्म-पथ के यात्री प्रभु-चरणों में पहुंच रहे हैं । कलम भी काँपती है, उनके धर्म के पवित्र नाम पर किए जाने वाले कुकृत्यों को अंकित करने में । धर्म के नाम पर पशु-बलि तो चिर-काल से दी जाती है, इतना ही नहीं नर-बलि तक दी जाती रही है, मन्त्रों द्वारा देवी-देवताओं के चरणों में । हृदय पीड़ा से भर जाता है कि नर-बलि ने आज एक नया रूप भी ले लिया है, अपने धर्म की रक्षा एवं पहचान बनाने का । अपने से भिन्न धर्म के लोगों की सामूहिक हत्याएँ की जा रही हैं । बालक, युवा, वृद्ध सभी को अवसर मिलते ही गोलियों से भुन दिया जाता है । इन निर्दोष लोगों की ये हत्याएँ ऐसी दानवी हत्याएँ हैं, जिस पर भी हत्यारे खिल-खिला कर हंसते हैं और अपने को बलिदानी शहीदों की श्रेणी में गिनते हैं । इन लोगों से भी अधिक भयंकर हत्यारे वे हैं जो इन नर-पिशाचों को धर्म पर मर मिटने वाले शहीद मानते हैं और यथाप्रसंग उनके सत्कार-सम्मान के समारोह आयोजित करते हैं । प्रभु, मनुष्य के हृदय का यह घिनौना रूप कब समाप्त होगा ? और, कब उसकी मूर्च्छित और मृत होती हुई मानवता फिर से जीवित होगी ?

यह लेख काफी लम्बा हो रहा है, फिर भी हिंसा-वृत्ति के उद्भव की संक्षेप में चर्चा कर ही लूँ । मनुष्य अन्दर से तो क्या, बाहर की आकृति से भी मांसाहारी नहीं है । उसके शरीर की रचना और प्रहारक नख आदि हिंसक पशुओं जैसे नहीं हैं । फिर भी वह कौन-सा दुर्दिन था, जब उसने मांस का, आहार के रूपमें उपयोग करना शुरु किया । दीन-हीन मूक पशु-पक्षियों को

छटपटाते हुए मारना, उनका अंग-अंग काटना अपने में कितना भयावह दृश्य है? फिर भी मानव, अपनी मानवता को भूल कर यह सब करने लगा। निर्दयता ने हृदय मन्दिर में प्रवेश किया, तो धीरे-धीरे मनुष्य, मनुष्य न रह कर भयंकर पिशाच ही बन गया है। बान्ध में कहीं दराद पड़ जाती है, तो एक दिन वह टूट कर ही रहता है और चारों ओर सर्वनाश का दृश्य उपस्थित कर देता है। यही दशा मांसाहार ने की है। निर्दयता और क्रूरता ने बढ़ते-बढ़ते मानव मन के आकाश को सघन काली घटाओं से इतना आच्छन्न कर लिया है, कि विवेक-ज्योति की एक हल्की-सी किरण भी उसके हृदय में कहीं दिखाई नहीं देती है। जलचर, भूचर, नभचर कोई भी प्राणि इसकी उदराग्नि से बच नहीं पा रहा है। भगवान महावीर ने कहा था - “अग्गीविवा सव्व भक्खी भविता।” अर्थात् मनुष्य दावानल की तरह सर्वभक्षी हो गया है। - आहार शुद्धि से ही सत्त्व-शुद्धि अर्थात् मन और बुद्धि की शुद्धि होती है और सत्त्व-शुद्धि होने पर कर्तव्य की शुद्ध-स्मृति होती है-

“आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धि, सत्त्व शुद्धौ ध्रुवात् स्मृतिः ”

प्रस्तुत लेख में अहिंसा के विघातक हिंसा के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है। यह उल्लेख समुद्र में बून्द के समान है। फिर भी भगवती अहिंसा के लिए हिंसा से मुक्त होने की दिशा के रूप में ये कुछ संकेत हैं। आशा है, जिनमें कुछ मानवता शेष रह गई है, वे इस पर गंभीरता से विचार-चिंतन करेंगे।

अक्टूबर १९८६

राष्ट्रीय अखण्डता - एकता

अखण्डता एवं एकता, मानव अस्तित्व का मूलाधार है। मानव चाहे, व्यक्ति के रूप में हो, चाहे परिवार, समाज एवं राष्ट्र के रूप में हो, सर्वत्र अखण्डता एवं एकता अपेक्षित है। हमारा शरीर विभिन्न अंग-प्रत्यंगों से मिलकर एक अखण्ड इकाई के रूप में उपस्थित है। हाथ, पैर, वक्ष, मस्तक आदि आकृति एवं कार्य कर्तृत्व आदि के रूप में भले ही विभिन्न प्रतीत होते हों, किन्तु सबका परस्पर में संयुक्त रूप ही एक शरीर है। यदि ये सब अंग छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखर जाएँ, तो फिर न तो इन निष्प्राण अंगों का कोई अर्थ रहता है और न शरीर का ही।

पुष्प-माला के सैकड़ों ही पुष्प आकृति, रंग एवं गंध आदि के रूप में विभिन्न होकर भी माला के रूप में यदि परस्पर संयुक्त हैं, तो कितनी अद्भुत शोभा है उनकी और वे माला के रूप में किसी आराध्य देवता तथा किसी मान्य महापुरुष के सुकण्ठ में कितने अधिक शोभायमान एवं आदरास्पद होते हैं। यदि ये सब पुष्प माला से बिखर कर इधर-उधर भूमि पर गिर जाएँ, तो धूल में मिल जाने के सिवा इनका और क्या भविष्य रहता है? और, उधर माला भी माला के रूप में अपना क्या मूल्य रख पाती?

उपर्युक्त उदाहरणों के रूप में हम परिवार, समाज एवं राष्ट्र के रूप में संयुक्त मानवीय इकाइयों के अस्तित्व को भी देख सकते हैं।

मैं यहाँ प्रसंगतः राष्ट्र की इकाई की चर्चा कर रहा हूँ। राष्ट्र मानव की विभिन्न इकाइयों का एक विराट एवं विशाल रूप है। यह मानवीय चेतना का भूमा रूप है। वस्तुतः भूमा में ही अमृत तत्त्व रहता है। भूमा से ज्यों ही मानवीय चेतना हटकर क्षुद्र इकाइयों के रूप में बिखरती है, वह अमृत-तत्त्व से मृत्यु के भीषण गर्त की ओर लुढ़कती चली जाती है। क्षुद्रता एक प्रकार से मृत्यु का ही रूप है।

हमारा भारत, एक महान राष्ट्र है । इसकी गरिमा एवं महिमा सीमा से परे रही है । भारत की महिमा के स्वर साधारण जनता के मुख से मुखरित नहीं हुए हैं । अपितु आध्यात्मिक चेतना के भगवत् स्वरूप महर्षियों के मुख से भी ध्वनित हुए हैं । महर्षि व्यास विष्णु पुराण में उद्घोषणा कर रहे हैं, कि स्वर्ग के देव भी भारत की पवित्र भूमि में रहने वाले मानव को धन्य कहते हैं—

“गायन्तिदेवाः किल् गीतकानि,
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे । ”

तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर आध्यात्मिक अनन्त चेतना के विराट पुरुष हैं । उन्होंने भी ग्राम-धर्म , नगर-धर्म आदि धर्मों की चर्चा करते हुए, राष्ट्र-धर्म की भी चर्चा की है । अपने अनेक प्रवचनों में भारतीय गरिमा का उदात्त वर्णन किया है । भारत को कर्म और धर्म दोनों का केन्द्र बताया है और यहाँ से मानव अपनी आन्तरिक चेतना का अनन्त विकास करके आत्मा से परमात्मा भी हो सकता है । ये गौरव भारत भूमि को ही दिया है । इसके लिए स्थानांग एवं भगवती आदि अनेक आगम अवलोकित किए जा सकते हैं । मैं विचार करता हूँ और साथ ही आश्चर्यान्वित होता हूँ कि भारत दीर्घाति-दीर्घ काल से कितना अधिक महिमान्वित होता आ रहा है ।

भारत भौगोलिक दृष्टि से प्रकृति का विराट रूप है । एक ओर देवतात्मा हिमालय जैसे गगनचुम्बी सहस्राधिक पर्वत हैं, तो दूसरी ओर हजारों ही गंगा, सिन्धु, यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि पुण्य-सलिला मातृ देवी स्वरूपा पवित्र नदियाँ भारत भूमि पर प्रवाहित हैं । भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण में महासागर अहर्निश हरक्षण गर्जन करता रहता है । विभिन्न ऋतुओं का कालक्रम से ही नहीं, एक साथ ही यहाँ दिव्य संगम देखा जा सकता है । ऐसा अद्भुत संगम एक साथ अन्यत्र प्रायः दुर्लभ ही है । प्राकृतिक छटा इतनी अधिक मनोहारिणी है, कि स्वर्ग के देव भी आकाश-यात्रा करते हुए इस पुण्य भूमि पर अवतरित होने की इच्छा का संवरण नहीं कर सकते । सुप्रसिद्ध जैन आगम भगवती सूत्र उक्त दिव्य-वार्ता का आज भी साक्षी है ।

भारत की मानव-जाति एक विराट जाति है । इसमें विभिन्न रंगों एवं रूपों के मानव समूह समाहित हैं । विभिन्न वर्ण एवं वंशपम्पाएँ हैं जिनके भवन, वसन, भोजन आदि के विभिन्न रीतिरिवाजों की विचित्र शैलियाँ हैं । धर्म

और दर्शनों की परम्पराएँ भी सहस्राधिक जल-स्रोतों की तरह विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हैं । यहाँ अनेक धर्म-परम्पराएँ, वेश-भूषा, पूजा-अर्चना, मान्यता आदि के रूप में बाहर में एक-दूसरे से बिल्कुल मेल नहीं खाती हैं । कितनी विचित्र बात है कि कुछ परम्पराएँ कर्म-काण्ड की घोर पक्षपाती हैं, तो दूसरी ओर उसकी कट्टर विरोधी भी हैं । यहाँ तक कि आस्तिकों के साथ नास्तिक, और नास्तिकों के साथ आस्तिक, यहाँ एक वंश परम्परा में ही नहीं, एक घर में भी परस्पर बन्धु के रूप में मिल सकते हैं । यह वैविध्य भारतीय चिन्तन का वह सौन्दर्य है, जो अन्यत्र प्रायः अदृष्ट है । यह हमारे उस महान दार्शनिक चिन्तन का सुपरिणाम है, जिसने अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का साक्षात्कार किया था । और कहा था—हम एक महान वृक्ष के रूप में मूलतः एक हैं, साथ ही शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि के रूप में अनेक भी हैं । किन्तु, इन अनेक रूपों में हम अपना मूल एकत्व सुरक्षित रखे हुए हैं । वृक्ष अंगी है और शाखा-प्रशाखा आदि उसके अंग हैं । उक्त अंगों में अंगी सर्वत्र निहित है । कोई भी अंग वृक्ष से कट कर अपना अलग अस्तित्व नहीं रख सकता । यदि रखेगा, तो उसका ऊर्ध्वता से अधःपतन होगा ही । और, अधःपतन के साथ उसे अन्ततः शुष्क, रसहीन, जीर्ण-शीर्ण होकर मिट्टी में मिल जाना ही होगा । अतः सुनिश्चित है कि अंग-प्रत्यंग अंगी के साथ ही अपना अस्तित्व एवं उपयोगित्व बनाए रख सकते हैं ।

भारत की महत्ता विभिन्नताओं एवं अनेकान्ताओं में भी एकत्व-भाव में ही है । हम कितने ही विभिन्नताओं में रहें, किन्तु मूल में हमारी भारतीयता अखण्ड एवं अक्षुण्ण रहनी चाहिए । जैनाचार्य उमास्वाति का 'परस्परपग्रहत्व' का महान सह अस्तित्व का सिद्धान्त किसी रूप में खण्डित न होना चाहिए । अनेकान्त का यह अर्थ नहीं कि हम खण्ड-खण्ड होकर इधर-उधर व्यर्थ बिखर जाएँ । अनेकान्त हमारा सौन्दर्य है ! और यह सौन्दर्य तभी है, जबकि हम अनेकता में मूलभूत एकता के अस्तित्व से जुड़े रहें ।

एकत्व एवं अखण्डत्व की भावना वैसे तो चिर-काल से अपेक्षित रही है, किन्तु आज तो उसकी सर्वाधिक अपेक्षा है । क्योंकि आज कुछ विदेशी तत्वों के बहकावे में आकर कुछ विचार दुर्बल लोग भारत से अलग होकर अपने अस्तित्व का दुःस्वप्न देखने लगे हैं । खेद है, वे अपने पुरातन गौरव एवं महत्त्व पर अपनी शुद्ध दृष्टि नहीं डाल रहे हैं । क्या बात हो गई है ऐसी कि उन्हें

अपना स्वर्णिम अस्तित्व ही दिखाई नहीं दे रहा है । अपनी जन्म भूमि स्वर्गादिपि गरियसि है अर्थात् स्वर्ग से भी बढ़कर है— यह चिरंतन दिव्य वचन उन्हें सुनाई नहीं दे रहा है । मातृभूमि श्री माँ है । कौन ऐसा है, जो अपनी माँ को खण्ड-खण्ड करना चाहेगा, जिसके अंक में सुपोषित होकर जिसे अपने अस्तित्व का जीवन दान मिला है ।

इतिहास साक्षी है, जब कभी इस प्रकार विखण्डित होने का कुछ लोगों ने स्वप्न देखा, तो उनका सुख, उनकी शान्ति, उनकी स्वतन्त्रता सर्वथा मिथ्या स्वप्न होकर रह गई । पाकिस्तान का उदाहरण ही हमारे समक्ष है । विदेशी षड्यन्त्र के कारण धर्म और जातीयता के अन्ध दुराग्रह में उलझ कर भारत माँ के ही सुपुत्रों द्वारा भारत माँ को खण्डित करके पाकिस्तान बनाने का अविचारित कर्म कर लिया गया । और, आप देख रहे हैं पाकिस्तान की जनता सैनिक शासन के कठोर एवं भीषण चक्र में आज भी पिस रही है । प्रजातन्त्र के लिए आन्दोलन चल रहे हैं एक ओर, तो दूसरी ओर उसके दमन के लिए निर्दोष प्रजा का खून बहाया जा रहा है । क्या यही सब-कुछ पाने के लिए हमारे कुछ विचार मूढ़ बन्धु, भारत से अलग होना चाहते हैं । वे किसी भी नाम से अलग हों, उसका क्या दुष्परिणाम हो सकता है, यह पाकिस्तान के रूप में प्रत्यक्षतः देख सकते हैं । मैं अधिक कुछ नहीं लिखना चाहता । मेरा केवल एक ही उद्बोधन एवं निवेदन है कि कुछ भी हो, कैसी भी स्थिति हो, हम सब भारत माँ के सुपुत्र हैं, हम सब में एक ही माँ का रक्त है । अतः हम किसी भी सूरत में विखण्डित नहीं होंगे । एक रहे हैं और एक रहेंगे । मातृभूमि भारत के महान गौरव की रक्षा का दायित्व हम सब का है । अतः उस गौरव की हम सब मिलकर प्राण-प्रण से रक्षा करेंगे । हमारा महान जीवन मन्त्र है— “ संगच्छ्वं, संवदध्वं ”

कदम से कदम मिलाकर एक साथ चलें, और एक वाणी बोलें ।

जीवन की प्रिय मधुशाला में,
मधु-रस की कुछ कमी नहीं हैं ।
पीओ और पिलाओ जी भर,
लघु मन करना ठीक नहीं है ।

(४२२)

मन की लघुता जैसा कोई,
जग में दूजा पाप नहीं है ।
और महत्ता जैसा कोई,
अन्य सुपावन पुण्य नहीं है ।

नवम्बर १९८६

(४२३)

नूतन वर्षाभिनन्दन

नूतन वर्ष आ गया है! १९८७ स्वागत कीजिए । श्रद्धा और सम्मान के साथ । नूतन, जीवन की नई दिशा का, नए निर्माण का प्रतीक है, अतः सभी भाँति स्वागतार्ह है यह ।

वर्ष की परिकल्पना एक मात्र मानव जाति में ही है, अन्यत्र कहीं भी नहीं है । यहाँ तक कि देव जाति में भी नहीं है । मनुष्य ही है, जो एक-से-एक भव्य और उदात्त कल्पनाओं का सृष्टा देवता है । काल-खण्ड के साथ अपने जीवन को जोड़ा है उसने । वह अतीत के काल-खण्ड को पीछे छोड़ देता है, उस बीते अतीत में से जो प्रेरणाप्रद जीवित अंश बच रहता है और वर्तमान के नव-निर्माण में सहायक होने जैसा होता है, उसे ग्रहण कर लेता है, और शेष मृतांश को पीछे की ओर फेंक देता है । यह है, उसके नए-पुराने वर्षों की परिकल्पना का गणित ।

अतीत का वर्ष जैसा भी था, गुजर गया है । उसका अधिक भाग किसी का सुख में गुजरा होगा और किसी का दुःख में । किसी का फूलों में गुजरा होगा, किसी का काँटों में । किसी का हँसने में गुजरा होगा, तो किसी का रोने में । कुछ भी हो, जो भी जैसा भी था, अब चला गया है वह । अब पुरानी स्मृतियों में अपने मन को उलझाए रखने में, और पुराने विकल्पों के जंगल में अपने मन को खोये रखना, कोई अच्छी बात नहीं है । तुम्हें अपने जीवन-पथ पर सीधे पैरों से चलना है, उल्टे पैरों से नहीं ।

आप पुण्यशाली हैं, इसलिए कि पुराने वर्ष में से गुजर कर आपने नए वर्ष का नवप्रभात देखा है । नूतन सूर्योदय का दर्शन किया है । अन्यथा, कुछ आपके ही ज्ञात या अज्ञात ऐसे अनेक साथी रहे हैं, जो अब इस नव वर्ष के नव

सुप्रभात में आपके साथ नहीं हैं । किसी अज्ञात नई दुनिया में चले गए हैं । उनका कुछ अता पता नहीं कि वे अब कहाँ हैं? कैसे हैं? किस स्थिति में हैं?

आपने अपने जीवन में मृत अतीत में से जीवित वर्तमान में संक्रमण किया है, अतः सावधान रहिए । प्रस्तुत जीवित वर्तमान का यथोचित उपयोग करने के सम्बन्ध में प्राप्त स्थिति का सही, शुद्ध एवं मंगलमय उपयोग करना ही तुम्हारी अन्तर्-मानवता की श्रेष्ठता का द्योतक है । माना कि नई स्थिति का प्राप्त होने का योग दुर्लभ है, किन्तु प्राप्त स्थिति का संरक्षण एवं सही उपयोग क्षेम है, जो कि योग से भी दुर्लभतम है । नव-वर्ष का योग तो तुम्हें प्राप्त हो गया है । अब अपनी और अपने सहयोगियों की समग्र बौद्धिक चेतना एवं कर्म-शक्ति उसके क्षेम के लिए नियोजित करनी है । देखना है, तुम इसमें कितने सफल होते हो । तुम नहीं देखोगे, तो समाज तो देखेगा ही, कि तुम सही आदमी हो, या गलत । समाज तुम्हारी बौद्धिक एवं कर्म दोनों ही शक्तियों का मूल्यांकन करेगा ही ।

अतीत में तुम कैसे थे, वह भुला दिया जा सकता है, किन्तु वर्तमान की तुम्हारी यात्रा का एक-एक कदम समाज के समक्ष है । अतः समाज की आँखों से वह ओझल नहीं होगा । संभव है, आपका अतीत कुछ अनेक दुःखद घटनाओं में से गुजरा हो, तुम्हें रोना ही अधिक पड़ा हो, हँसने के कुछ ही क्षण मिले हों, वे कुछ क्षण भी संभवतः नहीं मिले हों, परन्तु अब वर्तमान आपके अपने हाथों में हैं । अतीत के अच्छे-बुरे परिबोध को एवं अनुभूतियों को ध्यान में रख कर वर्तमान का ऐसा निर्माण करना है, जो आपके लिए भी ज्योतिर्मय हो, तथा आपके अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्र के लिए भी ज्योति-पुंज हो । अब अँधेरे में नहीं, प्रकाश में यात्रा करनी है । उत्साह हीनता से परे होकर, साहस के साथ उत्साह से जगमगाते परिबोध में यात्रा प्रारम्भ करनी है ।

मनुष्य का भाग्य उसके अपने हाथों में है । भाग्य कोई आकाश से नहीं उतरता, वह किसी से भिक्षा में भी नहीं मिलता । वह तो अपने ही पुरुषार्थ से निर्मित किया जाता है । हर स्थिति पर भाग्य की मोहर लगाते रहना, कायर व्यक्तियों का काम होता है । “क्या करना है, जो होना होगा, वही होगा? भाग्य की रेखा को कभी किसी ने बदला है? नहीं, नहीं । वह कभी बदली नहीं जा सकती ।” इस तरह की बातें कौन करते हैं । वे करते हैं, जिनका मन मर चुका

हैं। जिनके मन के-प्राणों की ऊर्जा शक्ति क्षीण हो चुकी है। ऐसे लोग शरीर से जीवित परिलक्षित होते हुए भी, अन्तर्-आत्मा से मृत ही हैं और आप जानते ही हैं कि मृत का स्थान कहाँ होता है? यह तो आपको ज्ञात ही है, वह मैं नहीं बताऊँगा। मैं मान लेता हूँ, कि आप मृत नहीं जीवित हैं। जीवित व्यक्ति अपने भाग्य की नई रेखाओं के निर्माण के लिए कर्म-पथ पर साहस के साथ आगे बढ़ता जाता है। वह पुरुष-सिंह होता है। वह विघ्न-बाधाओं को तोड़ता हुआ, चूर-चूर करता हुआ, निरन्तर एक मंजिल-से-दूसरी मंजिल की ओर बढ़ता चलता रहता है और अन्ततः अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है—“पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी।” उसकी ज्योतिर्मय चेतना में असम्भव जैसा, कुछ भी तमस् नहीं रहता। तमस् पुरुषार्थ हीन, खिन्न मनवाले व्यक्ति के जीवन में ही होता है।

आलस्य कहाँ करना है? अच्छे भविष्य के निर्माण के हेतु अच्छे कर्म में नहीं, प्रत्युत आलस्य का उपयोग दुष्कर्म की स्थिति में ही करना चाहिए। अच्छे कर्म के लिए जब उसके करने का संकलन जगे, तभी उसे रूपायित कर लेना है। याद रखिए, अच्छे कर्म के लिए आज नहीं, कल-इतना सोचना भी पाप है। यह एक ऐसा पाप है, जो अपने ही हाथों अपने जीवन को ध्वस्त कर देना है। प्रस्तुत प्रसंग में एक महान अनुभवी मनीषी के एक छोटे-से दोहे की अर्घाली है, जिसे अपने मन और मस्तिष्क में सतत ज्योतिर्मय रखना है—

“काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ”

विघ्न-बाधाओं की आशंका से हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना उपयुक्त नहीं है। अनेक विघ्न-बाधाएँ तो कल्पित ही होती हैं, यथार्थ में उनकी कोई स्थिति ही नहीं होती। इस तरह के भविष्य सम्बन्धी विघ्न-बाधाओं के भय के अंधेरे में दिखने वाले भूत, जो होते हैं, वे इधर-उधर चुपचाप खड़े हुए ठूँठ वृक्ष होते हैं, परन्तु भयाकुल व्यक्ति को लगते हैं वे संहार करने वाले भूत-प्रेत। अस्तु कर्म-क्षेत्र में उतरते समय अन्तर्मन को विघ्न-बाधाओं के भय से आच्छन्न रखना ठीक नहीं है। विघ्न-बाधाओं का अधिक चिन्तन मनुष्य के साहस-शक्ति को वैसे ही आच्छन्न कर देता है, जैसे काले बादल ज्योतिर्मय सूर्य को। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि आप अपने कर्म-पथ में आने वाले विघ्नों तथा अवरोधक तत्वों के सम्बन्ध में कुछ सोचें ही नहीं, यों ही आँख बन्धकर चल पड़ें। विघ्न-बाधाओं पर एक नजर अवश्य डालें तथा उनके निराकरण की प्रक्रिया

को भी ध्यान में रख लें और फिर चल पड़ें, मत्त गंधहस्ती के समान अपने अभीष्ट पथ पर । बहुत अधिक काल तक विघ्न-बाधाओं की उधेड़ बुन में पड़े रहना, अपनी कर्म-शक्ति को, साहस को, उत्साह को क्षीण करना है । वस्तुतः ऐश्वर्य का निवास साहस में है—भले ही वह भौतिक हो या आध्यात्मिक । एक मनीषी का कथन है—“साहसे वसते लक्ष्मी”—अतः भय मुक्त मन ही उज्ज्वल भविष्य के निर्धारित पथ को प्रशस्त करता है ।

आज राष्ट्र में सब ओर अनेक तरह के द्वन्द्व चल रहे हैं । कहीं जाति के नाम पर, कहीं क्षेत्रवाद के नाम पर, कहीं भाषा के नाम पर, कहीं राष्ट्र विघातक अलगाव के नाम पर और कहीं धर्म के नाम पर । बेतुके संघर्षों का ऐसा सिलसिला चल पड़ा है, कि मानव, मानव न रहकर पशु से भी बदतर निम्न स्तरीय दानव का रूप लेता जा रहा है । आपको अपने व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का ही हल नहीं करना है, अपितु समाज एवं राष्ट्र की समस्याओं का भी आगे बढ़कर समाधान तलाशना है । एक क्षण के लिए भी ऐसा मत सोचिए की मुझे क्या पड़ा है, परिवार, समाज एवं राष्ट्र से? मुझे तो अपने काम-से काम है । राष्ट्र जाए भाड़ में । यह चिन्तन, जघन्य अपराध है । तुम अपने समाज और राष्ट्र के अभिन्न अंग हो । तुम्हारा दायित्व है, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सर्व प्रथम समाज और राष्ट्र की रक्षा का प्रयत्न करना । समाज और राष्ट्र की रक्षा में ही तुम्हारे अपने अस्तित्व की सुरक्षा है । बूँद के अस्तित्व की रक्षा अपने जलाशय में ही है । जलाशय से अलग होने में नहीं है । बूँद अपने जलाशय से अलग हुई नहीं कि मिट्टी में मिलकर समाप्त । सावधान रहिए, आप जलाशय से अलग होने वाली बूँद की स्थिति में अपने को न ले जाएँ । मानव का सुख और आनन्द उसकी मनोभूमिका के भूमा और विराट होने में ही है, क्षुद्र होने में नहीं ।

यह ज्योतिर्मय अमृत उद्घोष है, हमारे महान पूर्वजों का । यदि यथार्थ में सुख-शान्ति और आनन्द पाना है, तो अपने मन को विराट बनाइए । अपने चिन्तन और तदनु रूप कर्म को अधिकाधिक जन-मंगल के लिए विस्तृत बनाते रहिए । जितना आपका बौद्धिक एवं कर्म जीवन जन-मंगल की दिशा में विराट् होगा, उतना ही आप में ईश्वरीय ज्योतिर्मय प्रकाश जगमगाएगा । ईश्वरत्व का अर्थ ही है विराट होना । हमारी दार्शनिक भाषा में—जो विभु है, सर्व व्यापक है ।

वही ईश्वर है । यह ईश्वरीय ज्योति ही है, जो नर को नारायण की विश्व-वंदनीय महत्ता प्रदान करती है ।

प्रस्तुत नूतन वर्ष की यात्रा आपके इसी विराट रूप को, रूपायित करे।
यही नूतन वर्ष के उपलक्ष्य में आप सबके प्रति हार्दिक मंगल-कामना है ।

जनवरी १९८७

(४२८)

भगवान महावीर की दृष्टि में जीवन-विकास का मार्ग

श्रमण भगवान महावीर ने अपने महान अरहन्त-काल में तीस वर्ष तक ज्ञान की गंगा बहाई । उनके निर्वाण के पश्चात् काल का विशाल प्रवाह बहता रहा और काल के उस महाप्रवाह में क्या-क्या बह गया, जिसके अस्तित्व का कोई पता नहीं है । किन्तु, वह दिव्य वाणी, वह शब्द-गंगा एवं भाव-गंगा निरन्तर बहती आ रही है । काल का प्रवाह उसके अस्तित्व को पूर्णरूप से बहा नहीं सका। यदि हम उसमें चिन्तन की गहरी डुबकी लगाएँ, तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसमें कितनी विराटता है, कितनी शीतलता है, कितनी पवित्रता है । उसकी एक-एक बून्द अमृत की बून्द है । पर, वह पीयूष तब मिलेगा, जब उसकी गहराई में उतरेंगे । सिर्फ ऊपर की सतह पर तैरने से नहीं । गहरी डुबकी लगानी होगी । तभी हमारे ये द्वन्द्व, संघर्ष, विग्रह, मतभेद समाप्त होंगे । उस महान अभेदवादी के अभेद के उद्घोष की दिव्य-ध्वनि, जो देवतात्मा वैभारगिरि के उत्तुंग शिखरों से गूँजती रही है, आज भी उसे सुना जा सकता है। आज जाति के नाम पर, धर्म के पवित्र नाम पर, सम्प्रदाय एवं पंथों के नाम पर जन-मन में कितनी घृणा, कितना द्वेष फैलाया जा रहा है । जिसके विरोध में वह ज्योति-पुरुष निरन्तर उद्घोषणा करता रहा है —

“न दीसइ जाइ विसैस कोई ”

—जाति की, जन्म की कोई विशेषता नहीं है ।

उसने दृढ़ स्वर में कहा-जन्म तो पूर्व कर्म के अनुसार किसी भी कुल में हो गया । उससे क्या है? मैं तुम्हारा जन्म नहीं पूछता, तुम्हारी जाति नहीं पूछता, मैं तो सिर्फ तुम्हारा कर्म पूछता हूँ, तुम्हारा कर्म देखता हूँ । महत्त्व जाति का नहीं, कर्म का है ।

(४२९)

अनेक प्रकार के जाति, पंथ एवं मत के भेदों की शृंखला में जकड़ी समाज की बेडियों को उसने तोड़ा था। जन-जन को उस बन्धन से उन्मुक्त किया था। दुर्भाग्य से आज हम पुनः उन्हीं शृंखलाओं में जकड़ गए हैं, गतिहीन हो गए हैं। अतः अपेक्षा है, महाप्रभु के दिव्य-संदेश को जन-जन तक पहुँचाने की। जो अभी तक उस दिव्य-देशना को सुन नहीं पाए हैं, उन्हें सुनाएँ। जो अभी तक व्यामोह की गाढ़ निद्रा में सोए पड़े हैं, अभी तक जागे नहीं हैं, उन्हें जगाएँ। जो अभी तक उठे नहीं हैं, उन्हें उठाएँ। जिन्हें किसी का सहारा नहीं मिला है, उन्हें सहारा दें, सहयोग दें। यह दिव्य ध्वनि है, ज्योति पुरुष महाप्रभु महावीर की।

दिव्य-ध्वनि का अर्थ इतना ही नहीं है कि वह चार-चार योजन तक सुनाई देती थी। यह तो केवल शब्दों के सुनाई देने की सीमा है। उस दिव्य ध्वनि की, उस ज्योतिर्मय देशना की कोई सीमा नहीं है। वह तो देश काल की सीमाओं को लांघती रही है—‘दिक्-कालाद्यनवच्छिन्ना’ वह तो अनन्त है। उसे हम आज भी सुन रहे हैं, पर सुनकर भी अनसुनी कर रहे हैं। उस दिव्य छवि को देखते हुए भी अनदेखा कर रहे हैं। अपेक्षा है, उस दिव्य-ध्वनि को सुनने की, उस ज्योतिर्मय छवि को देखने की, जो उसकी अन्तरात्मा है। विश्व-आत्मा शरीर की सीमाओं से परे होता है। जिसकी भाव-चेतना, जिसकी ज्ञान-चेतना, जिसकी कर्म चेतना विश्व को स्पर्श करती जाए, वह विश्व-आत्मा है। जो निरन्तर विराट बनती जाए और एक दिन विश्व-मंगल एवं विश्व-कल्याण का केन्द्र बन जाए, वही भगवद्-आत्मा होती है। उस दिव्य-ध्वनि का एक मात्र यही स्वर है—बेसहारा को सहारा दें, गिरे हुए को ऊपर उठाएँ।

इसका अर्थ है—अभाव-ग्रस्त जन-क्षेत्र में जन-कल्याण के संस्थान खड़े किए जाएँ। जहाँ पहले से ही सब-कुछ प्राप्त हो, वहाँ इस तरह के प्रयोजन अर्थहीन ही होते हैं। जैसे गंगा के तट पर कुँआ खोद रहे हैं और आवाज लगाते हैं कि हम प्यासों को पानी पिलाने के लिए कुँआ खोद रहे हैं। गंगा की पवित्र धारा जहाँ प्रवाहमान है, वहाँ कुँए की क्या महत्ता है? कुँए की महत्ता तो रेगिस्तान में है, जहाँ एक-एक बूँद के अभाव में प्राण पंखेरु उड़ रहे हैं। एक-एक बूँद के लिए प्राणी छटपटा रहे हैं, तड़प रहे हैं। वहाँ कुँआ खोदना महत्त्वपूर्ण है। तात्पर्य है, जो यथार्थता का परिज्ञान रखते हैं, समय को समझते हैं, उन्होंने ही महावीर को समझा है, उन्होंने ही उस विराट विश्व-आत्मा के दर्शन किए हैं।

महाश्रमण भगवान महावीर का यह उद्घोष रहा है कि विश्व की समस्त आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से एक जैसी हैं—“एगे आया” सबमें परमात्म-ज्योति निहित है । इसलिए विश्व में सब प्राणी मेरे अपने हैं । न कोई पराया है, न कोई शत्रु है । “मिच्ची मे सव्व भूएसु” —समस्त प्राणी-जगत् मेरा मित्र है । अपेक्षा है, कर्म-क्षेत्र में खड़े होने की । आप भव्य आत्मा हैं । श्रमण भगवान महावीर आपको भव्य कहते हैं । जो उस दिव्य-वाणी को सुनकर ग्रहण करने की, उसे मूर्त रूप देने की भूमिका रखते हैं, वे भव्य हैं । आप जो अभी यहाँ उपस्थित हैं और अन्य भी अनेक भाई-बहन, जो अभी यहाँ उपस्थित नहीं भी हैं, जिन्होंने इस शून्य-वीरान जंगल में काम किया है और आज भी सत्कर्म में संलग्न हैं । महाप्रभु की यह समवसरण भूमि दिव्य देशनाभूमि, जो एक तरह से शून्य जंगल के रूप में परिवर्तित हो गई थी, अन्धकाराच्छन्न हो गई थी, उस अंधकार में आप सत्कर्म के दीप जला रहे हैं । जहाँ हजारों-हजार बल्ब जल रहे हैं, वहाँ दीपक जलाएँ तो क्या मूल्य है उसका? दीपक का महत्त्व है अंधकार में । जहाँ सघन अन्धेरा है, वहाँ दीप जलाएँ, तब पता चलता है ज्योति का कितना मूल्य है । अतः अपेक्षा है, हम अपनी क्षेत्रीय-प्रान्तीय सीमाओं के घरौदों से, जातीय एवं साम्प्रदायिक परम्पराओं के घेरों से बाहर आएँ और जो महावीर की दिव्य-देशनाओं को भूल गए हैं, उन्हें दिव्य देशना सुनाएँ, उन्हें दिव्य-कर्म की ओर प्रेरित करें, उनके जीवन में ज्योतिर्मय दीप जलाएँ । महाप्रभु की इस पावन भूमि में पुनः उस दिव्य-देशना को साकार रूप देना है, जन-जन के जीवन में उस धारा को बहाना है । अतः महत्त्व है इस मरुभूमि में सत्कर्म की, सद्धर्म की पवित्र गंगा की धारा को प्रवाहित करते रहना ।

आपने पढ़ा है, सुना है भगीरथ चल पड़े गंगा को लाने के लिए । उनके प्रयत्न की एक लम्बी कथा है । कथा के शब्दों को नहीं, उसके भाव को समझें, उसे जीवन में उतारें । वह किसी बनी-बनाई लकीर पर नहीं चला । उसने साधना की और निरन्तर तेज कदमों से चलता रहा । आगे-आगे भगीरथ दौड़ता है और उसके चरण-चिह्नों पर गंगा की धारा बहती आती है, उसी तेज गति से । भगीरथ के कदम बराबर बढ़ते रहे । वे न कहीं रुके, न कहीं विश्राम या विराम लिया । उसी का परिणाम है कि गंगा भी निरन्तर बहती रही ।

आप भगीरथों ने इस पावन तीर्थ भूमि में गंगा को प्रवहमान करने का जो महान उपक्रम किया, उसका भी एक इतिहास है । आप बैँधी-बैँघाई लकीरों

से बाहर निकल कर आए हैं । 'लकीर के फकीर' कभी आगे बढ़ नहीं पाते । इस उक्ति के पीछे एक चोट है । याद रखिए आँख बन्द करके चलते रहने में कोई गौरव नहीं है । विचारों की, चिन्तन की, प्रज्ञा की आँख बंद करके चलने वाले अंधे इधर-उधर परस्पर टकराते, भटकते फिरेंगे । महान वे ही हैं, जो लकीर से हट कर अपनी प्रज्ञा से चलते जाते हैं । और, रही बात राह की? राह तो स्वतः बनती जाती है । इसलिए महापुरुषों का एक ही स्वर सदा गूंजता रहा है—तू ऊपर चढ़ने के लिए है, एक शिखर से दूसरे, तीसरे शिखरों को पार करने के लिए है । तू वह पत्थर नहीं है, जो जहाँ पड़ा है वहीं पड़ा है और कभी तूफान, मूसलाधार वर्षा या भूकम्प का धक्का लगा और लुढ़क गया, तो पता नहीं लुढ़कता-लुढ़कता कहाँ अँधेरे में जा गिरेगा । तू तो मृत्युंजय का अमृत पुत्र है—'अमृतस्य पुत्राः' अतः तेरा कर्म दिव्य हो तेरी वाणी दिव्य हो, तेरा मन विशाल एवं उदात्त हो । ऐसा नहीं कि तेरे जीवन के कर्म के पद-चिह्न यों ही धूल-कर्णों की तरह हवा में उड़कर समाप्त हो जाएँ । तेरा एक-एक कदम वज्र-सा हो । जो इस प्रकार वृद्ध संकल्प के साथ गतिशील होते हैं, वे ही कुछ कर जाते हैं—'उद्यानं ते नावयानं ।'

कुछ लोग सिद्धान्त की बात करते हैं, परन्तु आज विचरण कहाँ कर रहे हैं? एक आवाज लगाई गई थी मध्य-काल में कि अनार्य भूमि में नहीं जाना । परन्तु, जरा गहराई से विचार करें— आर्य भूमि कितनी-सी है? उस युग में साढ़े पच्चीस देश आर्य भूमि में गिने गए हैं । पूरा भारत भी आर्य भूमि में नहीं आता। आर्य भूमि में अंग है, बंग है, मगध है, आज के उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल एवं बिहार का कुछ हिस्सा है । दक्षिण कहाँ है आर्य भूमि? वह न जैन-परम्परा में आर्य माना गया है और न वैदिक परम्परा में ! तमिल, आन्ध्र, बम्बई, जहाँ साधु-साध्वी बड़ी तेजी से भागे-भागे जा रहे हैं, वे तो आपके सिद्धान्त की भाषा में अनार्य देश हैं । कहाँ गए शास्त्र, कहाँ गया सिद्धान्त? जब समस्याएँ तथा अपेक्षाएँ आती हैं, तब गड़बड़ा जाते हैं । चिन्तन के अभाव में हमने भारत को खण्ड-खण्ड में बाँट दिया । परन्तु, ज्ञात है आपको भरत क्षेत्र किसका है? आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर भारत बना है । सिर्फ हम ही नहीं, महर्षि शुक्रदेव श्रीमद् भागवत में कहते हैं—'येषां खलु महायोगी भरते ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्, येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति' सम्पूर्ण भारत सम्राट् भरत के शासन में था । हमने उसे भी आर्य और अनार्य के खण्डों में बाँट दिया ।

समवसरण में, प्रवचन सभा में बहनों को—भले ही वे साध्वी भी क्यों न हों, पुरुषों के समान बैठने का अधिकार नहीं है। वे सभा में खड़ी ही रहेंगी। औपपत्तिक सूत्र में यह उल्लेख विद्यमान है। और भी अनेक बातें हैं, जिनकी सीमाओं का हमने उल्लंघन किया है। एक ओर आप जिसे भगवद्-वाणी कहते हैं और साथ-ही-साथ उसका उल्लंघन भी कर रहे हैं। क्योंकि आप में साहस का अभाव है। मेरे अन्तर्मन में सत्साहस है सत्य को सत्य के रूप में उद्धोषित करने का। मैं समयोचित जन-मंगल से शून्य मात्र शब्दों को भगवद्-वाणी नहीं कहता। कितनी भगवद्वाणी है और कितनी भगवद्-वाणी के नाम पर पीछे से आचार्यों द्वारा जोड़ी गई वाणी है—इसका निर्णय प्रज्ञा से करना होगा। हमें मृत परम्पराओं की सीमाओं को, रूढ़ियों को तोड़ना ही होगा।

जो आगे बढ़ते नहीं, वे कभी विकास नहीं कर सकते। दुनिया में कोई भी व्यक्ति, कोई भी समाज एवं कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं है, जो सदा एक ही स्थिति में स्थित रहा हो। या तो वह पीछे हटेगा या आगे बढ़ेगा। इसके सिवा तीसरा कोई रास्ता नहीं है। मैंने राजस्थान की विहार-यात्रा में कुछ बच्चों को एकतारा बजाते और गीत गाते हुए देखा।

मैंने उनसे पूछा—“तुम कौन हो।”

उन्होंने कहा—हम भर्तरी हैं।

तुम क्या काम करते हो।

उत्तर था उनका कि गा-बजाकर भीख माँगते हैं।

मुझे आश्चर्य हुआ कि भर्तृहरि जैसा महान गुरु, महान विरक्त पुरुष, जिसके नीति-शतक, वैराग्य-शतक आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिसकी परम्परा महान गौरवशाली रही है, उसी के शिष्य, वंशज आज भीख माँग रहे हैं।

कण्पा (कृष्णपाद) जैसे सिद्ध योगी—चोरासी सिद्धों में से एक महान योगी। उसका तो यह एक खेल था कि सांप उसके शरीर पर इधर-उधर पड़े हैं, घूम-फिर रहे हैं। शिव की तरह सांप उसके आभूषण थे। विषघरों को शरीर पर धारण कर के भी वह निर्विष था। आज उसी सिद्ध योगी के चले सपेरे सांपों को पकड़ कर उनका खेल दिखाकर आजीविका चला रहे हैं, इधर उधर भीख मांगते फिरते हैं। क्या का, क्या हो गया यह। जब अपने गरिमामय

इतिहास को भूल जाते हैं, साधना को भूल जाते हैं, तो पतन की गर्त में गिरते जाते हैं । अपने पूर्वजों की साधना को भूल जाते हैं और उनके दो-चार बाह्य शब्दों को पकड़ कर आगे पूर्ण विराम लगा देते हैं, तब यही स्थिति होती है । साधना के क्षेत्र में निरन्तर गति करते रहो, जीवन के उत्तुंग-से-उत्तुंग शिखरों पर आरोहण करते रहो । वस्तुतः जीवन-यात्रा में पूर्ण विराम है ही नहीं । साधना की सिद्धि महान अर्हन्त स्वरूप और उससे भी आगे सिद्ध स्वरूप तक पहुंच जाएँगे, तभी पूर्ण विराम लगेगा । साधना के यथार्थ स्वरूप को भूलकर उसके बाह्य क्रिया-काण्ड रूप स्थूल शरीर को पकड़कर पूर्ण विराम लगा देना कि यह क्रिया-काण्ड ही धर्म है, अज्ञान है । उन्हें सम्यक्-बोध नहीं है, जो ऐसे गलत पूर्ण विराम लगाते हैं । पूफ रीडिंग ठीक करना होगा । बाह्य दृष्टि में उलझे तथाकथित धर्म गुरुओं को सम्यक् प्रुफ देखना नहीं आता । इसलिए धर्म को, साधना के सही रूप को भूल कर गलत पूर्ण विराम लगाया जा रहा है ।

ज्ञान से ज्योतित उस महान परम्परा की महत्ता रही है । उस युग में मात्र बाह्य परम्परा का ही नहीं, ज्ञान का महत्त्व रहा है । आचार्य अकलंक, जिन्हें आचार्य पद बाद में मिला, उस समय मुनि थे, सन्त थे । देखा उन्होंने बौद्ध-परम्परा के धर्म कीर्ति जैसे महान आचार्यों के तर्क की पैनी धार जैन-दर्शन को काटती जा रही है । उस महान सन्त ने सोचा - इस तरह तो सब समाप्त हो जाएगा । इनके दुर्ग का भेदन करने के लिए उनके तर्कों का भी बोध करना चाहिए । इसके लिए बाहर में बौद्ध भिक्षु का वेश धारण कर बौद्ध-विहार में रह कर बौद्ध-दर्शन का गहन अध्ययन किया । इसी का परिणाम है, आज जैन-दर्शन पर, सिर्फ जैन-दर्शन पर ही नहीं, पूरे भारतीय-दर्शन पर आचार्य अकलंक छाया हुआ है । जिसने उस पैनी धार का उत्तर उससे भी अधिक पैनी धार से दिया । यदि आज की तरह अकलंक ज्ञान पर, चिन्तन पर पूर्ण विराम लगा देते, तो वह लकीर का फकीर ही बना रहता । न तो स्वयं ऊपर उठता और न जैन - दर्शन के गौरव को बढ़ा सकता । वह केवल भीख मांगनेवाला भिक्षु नहीं था । भिक्षु का सम्यक् अर्थ है समदर्शी आचार्य हरीभद्र के शब्दों में - “भिनत्तीति भिक्षुः”- जो तोड़ता जाता है, वह भिक्षु है । जो अज्ञान के अंधेरे को भेदन करता है, अर्थात् रूढ़ परम्पराओं के अवरोधों को तोड़ता है, साम्प्रदायिक दीवारों को तोड़ता है, अपनी संकीर्ण मान्यताओं के एकान्त आग्रह और दुराग्रह को तोड़ता है, वह भिक्षु है । मात्र भीख माँगते रहने वाला भिक्षु नहीं, भिखारी है । वह कभी भी विकास

नहीं कर सकता । संस्कृत सूक्तियों में तो कहा ही है परन्तु एक हिन्दी के महान कवि ने भी कहा है -

“लीक-लीक गाड़ी चले, लीक ही चले कपूत ।
तीनों लीक पर न चले, शायर, सिंह, सपूत ॥”

गरुड़ आकाश में सब पक्षियों से अधिक ऊँचाई पर उड़ता है और हंस भी आकाश की ऊँचाई को स्पर्श करके उड़ता है । गरुड़ को तो हमने देखा नहीं, पर हंस की उड़ान तो हमारे सामने है । वह गरुड़ से भी अधिक ऊपर जाता है । क्या वह उड़ान भरता है, तब पहले से आकाश में उसका कोई मार्ग निश्चित है । क्या कोई राज-पथ आकाश में बना हुआ है । वह तो उड़ान भरता जाता है, पथ स्वतः बनता जाता है ।

आप लोग व्यापारी हैं । आपके दादा कुछ और काम कर रहे थे । आपके पिता ने और काम किया, व्यवसाय को आगे बढ़ाया । आप उससे भी आगे बढ़कर नए आयाम खोल रहे हैं । फैक्टरियाँ लगा रहे हैं, विदेशों से आयात-निर्यात का काम कर रहे हैं । कितना परिवर्तन आ गया है - व्यापारिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में और साथ में धार्मिक क्षेत्र में भी । भविष्य में आने वाली पीढ़ी स्वयं अपने मार्ग का निर्माण करेगी । तभी सही अर्थ में जीवन का विकास हो सकेगा । कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, बँधी-बँधाई कालापेक्ष्य लकीरों पर ही चलते रहेने से न कभी उन्नति हुई है और न कभी होगी ।

श्रमण भगवान महावीर एवं प्रबुद्ध विचारकों का एक ही स्वर रहा है- निरन्तर आगे बढ़ते जाओ, ऊपर उठते जाओ । एक शिखर से दूसरे उतुंग शिखर पर चढ़ते जाओ, नीचे की ओर मत लुढ़को । ऊर्ध्वमुखी बनकर गति करो। अघोमुखी दृष्टि मिथ्यात्व है और ऊर्ध्वमुखी-दृष्टि सम्यक्त्व है ।

याद रखिए, भीख माँगने वाले भिखारी को क्या स्वप्न आएँगे? भीख माँगने के ही स्वप्न देखता रहेगा वह, परन्तु जो तेजस्वी व्यक्ति दिव्य-कर्म के आधार पर आगे बढ़ते हैं, जिनका मन मस्तिष्क ज्योतिर्मय विचारों से प्रकाशमान है, जिनकी बुद्धि विद्युत्-सी चमकती-दमकती है और जिनके हाथ महान सत्कर्म

के लिए मचलते रहते हैं, वे चिदाकाश में भीख मांगने के स्वप्न नहीं देखेंगे, जब भी देखेंगे दिव्य ज्योतिर्मय महत्ता के स्वप्न देखेंगे ।

इस दृष्टि से अपेक्षा है, हम महान परम्पराओं को आगे बढ़ाएँ । स्थानकवासी समाज में सर्व प्रथम आचार्य श्री अमोलकऋषिजी म. ने शास्त्र छपवाये, तब समाज में हाय-तोबा मच गई । आज क्या हो रहा है? तथाकथित उत्कृष्टता की बात करने वाले वे ही साधु-साध्वी आगम, प्रवचन, निबन्ध एवं ग्रन्थ तो छपवा ही रहे हैं, परन्तु साधारण तुकबन्दियों एवं इधर-उधर की पुस्तकों से बटोरे विचारों को भी अपने नाम से छपवाते जा रहे हैं । कुछ साधु-साध्वी, जो स्वयं लिखना नहीं जानते, विद्वानों से लिखवा कर अपने नाम से छपवाते हैं । नाम की भूख अधिक बढ़ती जा रही है ।

इसी तरह ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने राजस्थान से महाराष्ट्र में जाकर अपने शिष्यों को संस्कृत के विद्वानों से संस्कृत का अध्ययन कराया, तब क्या कम आलोचना हुई थी उस महान आचार्य की? जो पहल करता है, उसे सुनना-सहना पड़ता ही है । पर, वह विकास करता है, ऊपर उठता है और समाज के लिए विकास के द्वार खोलता है । उसके लिए उसे लीक से हटकर चलना ही पड़ता है । बँधी-बँघाई अनुपयोगी एवं मृत हुई परम्पराओं को तोड़ना ही पड़ता है इसमें अपेक्षा है सत्-साहस की -

“साहसो हि श्रियो मूलम्”

सुविचारित साहस ही जब क्रियान्वित होता है, तो समाज, राष्ट्र एवं धर्म - परम्पराओं के लिए चमत्कारी ऐश्वर्य के द्वार खोल देता है ।

मार्च-अप्रैल १९८७

अतिवाद : अध्यात्म-साधना का विषय

मोक्ष मार्ग में प्रयुक्त मार्ग का अर्थ है - कारण एवं साधन । मोक्ष तो कार्य है और उसके कारण हैं - सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र । जो साधन है, वस्तुतः वही साध्य भी है, अन्तर इतना ही है कि अपूर्ण अवस्था में वे साधन हैं और पूर्ण अवस्था में वे ही साध्य बन जाते हैं । साध्य और साधन में अद्वैत दृष्टि से किसी प्रकार का मौलिक भेद नहीं होता है । मैं आपसे यह कह रहा था कि जब तक आत्म-गुणों का पूर्ण विकास नहीं होता है, तब तक वे साधन हैं और जब पूर्ण विकास हो जाता है तो वे ही गुण साध्य बन जाते हैं । दूसरी बात यह है कि गुण कभी अपने गुणी से भिन्न नहीं होता । इसका अर्थ यह हुआ कि जो दर्शन है, वही आत्मा है, जो ज्ञान है, वही आत्मा है और जो चारित्र है, वही आत्मा है, आत्मा, उसका साध्य और उसके साधन में अद्वैत दृष्टि है, किन्तु व्यवहार में हम भेद-दृष्टि को आधार बनाकर ही चलते हैं । जब साधक निश्चय दृष्टि में पहुँचता है, तब वहाँ पर उसे किसी प्रकार का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

मुक्ति क्या वस्तु है? मुक्ति का अर्थ है - बन्धनों से छुटकारा । जितने बन्धन हैं, उतना ही अधिक संसार होता है और जैसे-जैसे बन्धनों का अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे मुक्ति प्राप्त होती जाती है । बन्धनों का अभाव ही मोक्ष है । सम्यक्-दर्शन के होने से मिथ्यात्व का बन्धन टूट जाता है । सम्यक्-ज्ञान के आते ही अज्ञान का बन्धन टूट जाता है । सम्यक्-चारित्र के होते ही राग-द्वेष के बन्धन टूटने लगते हैं । साधक-जैसे-जैसे अपनी साधना में विकास करता है, वह बन्धनों से मुक्त होता जाता है ।

कल्पना कीजिए, एक बच्चा पढ़ने जाता है और वह पहली कक्षा पार करता है, फिर धीरे-धीरे वह दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं आदि कक्षाओं

को पार करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता जाता है । एक दिन वह अपनी कक्षाओं को पार करता हुआ ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने में सफल हो जाता है । उस समय वह विद्वान बन जाता है और दूसरों को पढ़ाने भी लगता है । जो व्यक्ति एक दिन स्वयं पढ़ने वाला था, तो एक दिन वह दूसरों को पढ़ाने भी लगता है । इसका अर्थ यह है कि जब तक वह अल्पज्ञ था वह स्वयं छात्र था और जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ता गया, वह अध्यापक हो गया । यही स्थिति साधना के संबंध में भी है । एक दिन स्वरूप की साधना प्रारम्भ करने वाला साधक साधना के पथ पर धीरे-धीरे कदम बढ़ाता है और फिर आगे चलकर वही व्यक्ति स्वरूप की पूर्ण साधना कर लेता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि यह साधक चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्दृष्टि बनता है, पंचम गुणस्थान में देशव्रती बनता है । षष्ठ गुणस्थान में सर्वव्रती बनता है, सप्तम गुणस्थान में अप्रमत्त होकर तेजी के साथ आगे बढ़ता हुआ तेरहवें गुणस्थान में पहुँच कर वह पूर्ण वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है । साधना का यही क्रम है । गृहस्थ धर्म और साधु धर्म की बाह्य मर्यादा का भेद केवल पंचम और षष्ठ गुणस्थान तक ही रहता है, आगे के सभी गुणस्थानों में फिर साधना अन्तः प्रवाहित रहती है, अतः उसका एक रूप ही रहता है । इसी दृष्टि से मैं आपसे कह रहा था कि हमारी साधना जब तक अपूर्ण है, तभी तक उसमें साध्य और साधन का भेद रहता है । साधना की परिपूर्णता होते ही साध्य और साधन का भेद भी मिट जाता है, फिर तो जो साध्य है वही साधन है और जो साधन है वही साध्य है । जैन-दर्शन की यही निश्चय दृष्टि है और यही अद्वैत दृष्टि है ।

अहिंसा, तो अहिंसा है । वह अनन्त भी है और सान्त भी है । साधना की अवस्था में वह सान्त है और साध्य की अवस्था में पहुँच कर वह अनन्त हो जाती है । जो बात अहिंसा के सम्बन्ध में है, वही बात आत्मा के अन्य गुणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । कल्पना कीजिए, आपके सामने विशाल जल राशि है । उस सागर की विशाल जलराशि को सम्पूर्ण रूप में पीने की शक्ति हर किसी में नहीं हो सकती । पौराणिक कथा के अनुसार यह शक्ति अगस्त्य ऋषि में थी । एक आदमी एक गिलास पानी पी सकता है, दूसरा व्यक्ति एक लोटा पी सकता है, सम्भवतः एक व्यक्ति वह भी हो, जो एक घड़ा पानी पी जाए, किन्तु समस्त जलराशि को पीने की शक्ति हर किसी व्यक्ति में नहीं हो सकती, वह शक्ति तो अगस्त्य ऋषि में ही हो सकती है । अगस्त्य ऋषि के सम्बन्ध में पुराणों में कहा गया है, कि उसने समस्त समुद्र को एक चुल्लू में ही पी लिया था ।

अगस्त्य ऋषि के जीवन की घटना जो कुछ पुराणों में उपलब्ध होती है, उसमें अलंकार हो सकता है, परन्तु मैं आपसे अध्यात्म साधना के क्षेत्र की बात कह रहा हूँ। अध्यात्मसाधना के क्षेत्र में कुछ साधक इस प्रकार के हो जाते हैं, जो एक मुहूर्त में पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। मैं साधना के क्षेत्र में इस प्रकार के साधकों को आध्यात्मिक अगस्त्य ऋषि कहता हूँ। साधना के क्षेत्र में जो अगस्त्य ऋषि बनकर के आते हैं, वे अपने जीवन का कल्याण इतनी शीघ्रता के साथ कर लेते हैं, कि आपको और हमको उनकी जीवन-गाथा पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है। हर कोई व्यक्ति इस प्रकार प्रारम्भ में ही अगस्त्य ऋषि नहीं बन सकता, फिर भी मैं कहूँगा कि आत्मा में अनन्त शक्ति है ही और एक न एक दिन साधक को अगस्त्य ऋषि बनना ही होता है। अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा क्या नहीं कर सकता? वह सब कुछ कर सकता है परन्तु कब कर सकता है, जब कि वह अपनी अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति कर ले। शक्ति होते हुए भी यदि उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है, तो कुछ नहीं हो सकता। अणु को विराट बनाने से ही उस अनन्त शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। जिस साधक ने अपनी आत्म शक्ति का जितना विकास कर लिया है, वह उतना ही अधिक अपने विकास मार्ग पर बढ़ सकता है।

कुछ साधक हैं, जो चलते तो बहुत हैं, किन्तु फिर भी कुछ प्रगति नहीं कर पाते। तेली के बैल की भाँति वे एक ही स्थान पर घूमते रहते हैं और दुर्भाग्य से उसे ही अपनी यात्रा समझ लेते हैं। आपने तेली के बैल को देखा होगा। प्रभात वेला में जब तेली अपने बैल को घानी में जोतता है, तब वह उसकी दोनों आँखों पर पट्टी बाँध देता है। तेली का वह बैल दिन भर घूमता है और दिन भर चलता रहता है, परन्तु कहावत है कि—“ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास।” तेली का बैल दिन भर चलता-चलता थक जाता है, परिश्रान्त हो जाता है। वह अपने मन में सोचता है, कि आज मैं बहुत चला हूँ, चलता-चलता थक गया हूँ, कम से कम चालीस-पचास कोस की यात्रा तो मैंने कर ही ली होगी। सायंकाल के समय जब तेली उसकी आँख पर से पट्टी हटाता है, तब वह देखता है कि मैं तो वहीं पर खड़ा हूँ, जहाँ से मैंने यात्रा प्रारम्भ की थी। दिन भर चला, फिर भी वहीं-का-वहीं पर हूँ। साधना के क्षेत्र में भी बहुत से साधकों की यही जीवन दशा रहती है। साधना करते-करते उन्हें पचास-साठ वर्ष हो जाते हैं, फिर भी वे किसी प्रकार की प्रगति नहीं कर पाते। साधक जीवन की यह एक विकट विडम्बना है। पचास-साठ वर्ष तक सिर

मुंडवाते रहे, संयम का पालन करते रहे, व्रत और नियमों का पालन करते रहे, किन्तु उसका परिणाम तेली के बैल के समान शून्यवत ही रहा । आखिर ऐसा क्यों होता है? इस प्रकार का प्रश्न उठना स्वाभाविक है । साधना हो और फिर भी प्रगति न हो, यह तो एक आश्चर्य ही होगा । थकावट हो, थक कर अंग चूर-चूर हो जाए, किन्तु फिर भी वहीं के वहीं, यह साधक जीवन की अच्छी स्थिति नहीं कही जा सकती । प्रश्न है, ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है, कि मन की गाँठें नहीं खुलने पातीं । जब तक मन की गाँठ नहीं खुलती है, तब तक साधना का कुछ भी लाभ नहीं मिलने पाता है । मन पर वासना की परत-पर-परत जमी है, उन्हें दूर करना आवश्यक है । एक आचार्य ने बड़ी सुन्दर बात कही है—

राग-द्वेषो यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ।

राग-द्वेषो च न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ।

यदि राग और द्वेष हैं, तो तपस्या करने से कुछ भी लाभ नहीं । यदि राग-द्वेष नहीं रहे हैं, तब भी तपस्या करने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि तप इसलिए किया जाता है, कि उससे राग-द्वेष क्षीण हो जाएँ । यदि तपस्या की साधना करने पर भी राग-द्वेष क्षीण नहीं होते हैं, तो फिर तपस्या की साधना फलवती नहीं हो सकती । इसके विपरीत यदि साधक का हृदय इतना निर्मल हो चुका है कि उसमें न राग रहा है और न द्वेष रहा है, तो उसके लिए भी तपस्या की साधना का कोई विशेष प्रयोजन शेष नहीं रहता । उन्हीं साधकों का जीवन तेली के बैल के समान रहता है, जिन्होंने अपनी मन की गाँठों की नहीं खोला है, राग और द्वेष की ग्रन्थि को नहीं तोड़ा है, वे कितनी भी तपस्या करें और कितने भी नियमों का पालन करें, किन्तु उनके जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आ सकता । जिसके मन में राग-द्वेष की गाँठ है, वह भले ही गृहस्थ हो अथवा साधू हो, वह अपनी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । पचास वर्ष के बाद भी वह वहीं-का वहीं खड़ा मिलता है, जहाँ से उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी । वे यात्रा नहीं करते, बल्कि तेली के बैल के समान घूमते हैं, चक्कर काटते हैं और इधर-से-उधर भटकते हैं ।

मोह और क्षोभ जब तक दूर नहीं होते हैं, तब तक साधना कैसे सफल हो सकती है? मोह-मदिरा का पान करके यह आत्मा अपने स्वरूप को

भूल जाता है । आत्मा का अपने स्वरूप को भूल जाना ही संसार है । मोह में एक ऐसी शक्ति है, जिससे आत्मा को यह परिबोध नहीं होने पाता, कि मैं कौन हूँ और मेरी शक्ति क्या है? मैं अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा हूँ अथवा उससे पीछे हट रहा हूँ? इस प्रकार की बोधदशा आत्मा की विलुप्त हो जाती है । कहा जाता है, कि एक बार बनारस के कुछ पण्डों ने विचार किया, कि आज आश्विन मास की पूर्णिमा है । अतः गंगा स्नान यहाँ पर नहीं, तीर्थराज प्रयाग पर करना चाहिए । उन्होंने अपने इस विचार के अनुसार कार्यक्रम बनाया और गंगा के घाट पर पहुँच कर भंग का घोंटा लगाकर सबने भंग पी और नाव पर सवार हो गए । नाव से यात्रा करके ही प्रयागराज पहुँचने का उनका विचार था । नाव पर सवार तो वे हो गए, किन्तु नाव का जो रस्सा तट पर के खूँटे से बँधा था, उसे खोलने का ध्यान किसी को न रहा । वे लोग नाव में बैठे थे और नाव चला रहे थे, किन्तु नाव आगे न बढ़कर वहीं पर इधर-उधर गंगा की चंचल तरंगों पर थिरकती रही । रात्रि को जब चन्द्रमा का उदय हुआ, तब उन्होंने सोचा, आज बड़ा निर्मल सूर्य का उदय हुआ है । सूर्य का प्रकाश अत्यन्त स्वच्छ और सुखद है । अब हम प्रयागराज आ पहुँचे हैं । इस तीर्थराज पर अब हम सब संगम में स्नान करेंगे और फिर वापिस अपने घर लौट चलेंगे । किन्तु वस्तुतः वे प्रयागराज नहीं पहुँचे थे, बल्कि बनारस में ही उसी गंगा घाट पर थे, जहाँ से उन्होंने अपनी तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की थी । सारी रात परिश्रम करने पर भी वे एक कदम आगे न बढ़ सके । प्रातःकाल नशा कम हुआ तो उन्होंने देखा कि यह क्या हुआ, वही काशी, वही उसका घाट और वही गंगा का प्रवाह, जहाँ प्रतिदिन वे स्नान करते थे । हम तो सब प्रयाग चले थे, फिर काशी में ही कैसे रह गए, इस पर सबको बड़ा आश्चर्य था । उनके दूसरे मित्रों ने, जो गंगा पर स्नान करने आए थे, पूछा—“आज क्या सोच रहे हो, नौका में बैठकर कहाँ जाने का विचार कर रहे हो!” वे सब एक दूसरे का मुख देखने लगे और विचार करने लगे, कि यह हो क्या गया? देख-भाल करने पर पता लगा, कि नाव का रस्सा नहीं खोला गया है । इसीलिए नाव यहाँ की यहाँ पर ही रही, आगे नहीं बढ़ सकी । एक रात तो क्या हजार रात तक भी अगर परिश्रम करते, तब भी नौका आगे नहीं बढ़ सकती थी। यह बोध उन्हें कब हुआ, जब कि उनका भंग का नशा दूर हो गया । नशे की दशा में न उन्हें अपना सम्यक्-बोध था न नौका की गति का बोध था और न यही परिज्ञान था कि हम काशी में हैं अथवा प्रयाग पहुँच रहे हैं । यह कहानी एक रूपक है । उसके मर्म को और उसके रहस्य को समझने का आपको प्रयत्न करना चाहिए ।

क्या आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में मोह मुग्ध आत्मा वैसा ही कार्य नहीं करता है, जैसा कि पण्डों ने किया था? साधक सामायिक करता है, पौषध करता है, उपवास करता है और विभिन्न नियमों का परिपालन भी करता है, किन्तु फिर भी वह पूर्व वासना में बँधा वहीं खड़ा रहता है। वह समझता है, कि मैं अध्यात्म साधना कर रहा हूँ, किन्तु मोह-भाव के कारण वह अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं समझ पाता। मोह के प्रभाव से वह स्थिति को ही गति अर्थात् यात्रा समझ लेता है। वह अपने हृदय में भले ही यह विचार करे, कि मैं अध्यात्म साधना कर रहा हूँ, पर मोह मुग्ध आत्मा में अध्यात्म-भाव तो लेश मात्र भी नहीं रहने पाता। दृष्टि में मोह भी रहे और अध्यात्म भाव भी रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्या कभी रजनी और दिवस दोनों एक काल में और एक देश में एक साथ खड़े रह सकते हैं?

जैन-धर्म साधना को महत्त्व अवश्य देता है, किन्तु अति साधना को नहीं। साधना जीवन के लिए होती है, साधना का लक्ष्य है जीवन को विमल और पवित्र बनाना और यह पवित्रता सहज भाव से होने वाली ज्ञान प्रधान अन्तर्मुख साधना से होती है। जो साधना अन्तर्मुख न होकर बहिर्मुख होती है, आत्माप्रधान न होकर देह-प्रधान होती है, अपनी सहज शक्ति से आगे बढ़कर अति के रूप में देह दण्ड एवं हठ योग का रूप ले लेती है, वह अति साधना है, और वह आध्यात्मिक पवित्रता का हेतु नहीं बनती है। प्राचीन साहित्य का जब हम अध्ययन करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है, कि भारत में किस प्रकार की हठवादी और अतिवादी साधना की जाती रही है। तापसों के जीवन का वर्णन जब हम पढ़ते हैं, तब हमें ज्ञात होता है, कि उस युग के तापस अपने आश्रमों में, जंगलों में और पर्वतों पर किस प्रकार की प्रचण्ड तपस्या करते थे। जहाँ एक ओर तापसों का प्रचण्ड तप प्रसिद्ध है, वहाँ दूसरी ओर तापसों का प्रचण्ड क्रोध भी प्रसिद्ध है। विश्वामित्र ने कितनी प्रचण्ड तपस्या की, किन्तु क्रोध भी उनका उतना ही भयंकर था। दुर्वासा ऋषि का क्रोध तो महाभारत में और प्राचीन साहित्य में प्रसिद्ध है। यदि तप का परिणाम क्रोध ही है, तो उस तप से आत्मा का हित-साधन नहीं हो सकता। तापसों की साधना का अतिवाद यह है, कि वे भयंकर-से-भयंकर देह-पीड़ा को एवं देह-दमन को ही धर्म समझते थे। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में और भगवान महावीर के युग में भी जिन तापसों का वर्णन उपलब्ध होता है, उससे ज्ञात होता है कि उनका तप तो उग्र होता था, किन्तु उन्हें आत्म-बोध नहीं होता था। वर्णन किया गया है कि कुछ तापस पानी

के ऊपर आने वाले शैवाल को खाकर ही गुजारा कर लेते थे कुछ तापस सूखे पत्ते और सूखी घास ही खाकर तपस्या करते थे । कुछ तापस मात्र हवा खाकर ही अपना जीवन यापन करते थे । यहाँ तक वर्णन आता है कि गाय का गोबर खाकर भी वे अपनी जीवन वृत्ति को धारण करते थे । इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के युग के तापस घोर क्रिया-काण्डी और अतिवादी साधक थे । एक बार भगवान् पार्श्वनाथ जब कि वे राजकुमार थे, वाराणसी में गंगा तट पर तप कर रहे कमठ तापस के पास पहुँचे । वह अपने युग का प्रसिद्ध तापस था । वह भयंकर ग्रीष्म काल में भी अपने चारों ओर दहकती धूनी जलाकर मस्तक पर सूर्य का प्रचण्ड ताप सहन करता था । उसके उक्त प्रचण्ड तप को देखकर उस समय पार्श्वनाथ के श्रीमुख से यह वाक्य निकला था—

“अहो कष्टं अहो कष्टं पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते ।”

तप साधना में कष्ट, देह दमन तो बहुत बड़ा है, किन्तु तत्त्वबोध अभी नहीं है ।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि एक दिन भारतवर्ष के विशाल जंगलों में तापसों का साम्राज्य था । उनके उग्र क्रिया-काण्ड को देखकर, भगवान् बुद्ध को भी बड़ा आश्चर्य हुआ था । मालूम होता है कि अधिक से अधिक देह को कष्ट देना ही तापस लोग अपनी साधना का लक्ष्य समझते थे । मैं समझता हूँ, इतनी उग्रवादी और अतिवादी साधना अन्यत्र दुर्लभ है । मात्र क्रियाकाण्ड पर ही इन लोगों का भार था । क्रिया के साथ विवेक का महत्त्व उन्होंने नहीं समझा था । विवेक तो साधना का प्राण है । किसी भी प्रकार की साधना में यदि विवेक का प्रकाश नहीं है, तो वहाँ कुछ भी नहीं है । मुझे विचार आता है कि जैन धर्म कठोर साधनाओं को महत्त्व देता है अथवा विचार और विवेक को महत्त्व देता है । भगवान् महावीर ने कहा है—“पढमं नाणं तओ दया।” पहले ज्ञान और विवेक है, फिर आचार और साधना है । तप की साधना करना अच्छा है, किन्तु मर्यादा-हीनता के रूप में अति तप और अति साधना करना अच्छा नहीं है । जैन धर्म और जैन संस्कृति में किसी भी प्रकार के अतिवाद को अवकाश नहीं है । क्योंकि अतिवाद एकान्तवाद पर आश्रित होता है और जो भी एकान्त है, वह सम्यक् नहीं हो सकता और जो सम्यक् नहीं है, वह जैन साधना का अंग नहीं बन सकता । जैन धर्म की साधना में न किसी बात का

एकान्त निषेध है और न किसी बात का एकान्त विधान ही है । जैन-दर्शन साधना के मूल भ्रोट अनेकांत दृष्टि को महत्त्व देता है । यदि दृष्टि सम्यक् नहीं है, तो फिर कितनी भी अतिवादी साधना क्यों न हो, उससे संसार की अभिवृद्धि ही होती है । वह साधना मोक्ष का अंग नहीं बनती है । जैन-धर्म की आचार-साधना में उत्कृष्ट, उग्र आदि शब्दों का प्रयोग तो किया गया है, किन्तु अतिवाद का प्रयोग नहीं किया है ।

मैं आपसे साधना के विषय में विचार कर रहा था । साधना, साधना है और उसका प्रयोजन है, जीवन की निर्मलता और पवित्रता । अतिवादी साधना से देह का पीड़न और मन की अशान्ति ही बढ़ती है । जब मन में समाधि भाव न हो, तब उस साधना को फिर भले ही वह कितनी भी उग्र, घोर और प्रचण्ड क्यों न हो, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता । मैं आपसे कह चुका हूँ, कि तापस-युग के तापस अतिवादी साधक थे । तापसों के अतिरिक्त अन्य कुछ साधकों में भी यह अतिवाद उपलब्ध होता है । बौद्ध दर्शन में धूतांग साधक का वर्णन एक अतिवादी वर्णन है, किन्तु वहाँ कहा गया है कि कितना भी घोर क्रिया-काण्ड क्यों न किया जाए, यदि मन में समाधि नहीं है, तो कुछ भी नहीं है । उग्र तप, घोर साधना और प्रचण्ड क्रियाकाण्ड का विधान केवल जैन धर्म में ही नहीं है, वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में भी कठोरतम साधनाओं का और उग्रतम तपों का विधान किया गया है । जैन धर्म की अपनी विशेषता यह है कि वह तप, साधना और क्रियाकाण्ड से पूर्व दृष्टि को महत्त्व देता है । सम्यक्-दृष्टि की अल्प साधना भी निर्जरा का हेतु होती है और मिथ्या-दृष्टि की घोर साधना भी बन्ध का हेतु ही होती है । भगवान् पार्श्वनाथ ने कमठ तापस को उसकी अज्ञानमूलक क्रिया को छोड़ने के लिए जो उपदेश दिया था, वह इस बात का सूचक है, कि तप और अन्य कठोर साधना से पहले दृष्टि सम्यक् बनाना परमावश्यक है । गणधर गौतम ने भी कैलाश-वासी तापसों को जो उपदेश दिया था, उसका सार भी यही है, कि तुम्हारा तप तो बहुत भयंकर है, किन्तु अभी तक, तुम्हें विवेक का प्रकाश नहीं मिला है । अतः जब तक विवेक प्राप्त न हो, सभी प्रकार की साधना व्यर्थ है ।

कल्पना कीजिए, जंगल में किसी बाँबी में साँप बैठा है । कुछ अज्ञान लोग साँप को मारने के लिए बाहर में बाँबी को पीटते हैं । उसी पर प्रहार कर रहे हैं, तो क्या बाँबी को पीटने मात्र से अन्दर बैठा भयंकर विषधर मर सकता है? बाँबी पर कितना भी प्रहार क्यों न किया जाए, उससे अन्दर बैठे सर्प का क्या

बिगड़ता है? लाठी के प्रहार बाँबी पर पड़ते हैं और अज्ञानी लोग यह समझते हैं कि हम साँप को मार रहे हैं। बाँबी को पीटने मात्र से साँप का कुछ नहीं बिगड़ सकता है, क्योंकि वह तो अन्दर सुरक्षित बैठा है। इसी प्रकार कुछ साधक इस शरीर से लड़ते हैं, हठ और आवेश में तपस्या कर-कर के इस शरीर को कृश और दुर्बल बना डालते हैं, लेकिन इस बेचारे शरीर का क्या दोष है? इस शरीर का पीड़न करने से क्या परिणाम निकला? इस शरीर को आग की जलती ज्वालाओं में भी डाल दिया, तो क्या उससे आत्म-कल्याण हो सकेगा? बात यह है कि जो वासना है, जो विकार है और जो विकल्प है, वह शरीर में नहीं है, वह शरीर के अन्दर रहने वाले मन में है। हम उस विकार रूपी सर्प को तो मारते नहीं, मारते हैं उसकी शरीर रूपी स्थूल बाँबी को, परन्तु, इतने मात्र से तो वासना, विकार और विकल्प का सर्प मारा नहीं जा सकता। वह एक गुप्त स्थान में बैठा हुआ है, उस पर तो आपकी साधना की एक भी चोट नहीं लगती है, चोट लगती है शरीर पर परन्तु याद रखिए, जब तक अन्तर्मन पर चोट नहीं लगेगी, तब तक उसके विकार और विकल्प दूर नहीं होंगे। मन के विकार और विकल्पों को दूर करना ही अध्यात्म-साधना का एक मात्र लक्ष्य है। उसका उपाय यही है, कि इस तन की बाँबी में बैठे मन के विषधर पर ही साधना का प्रहार किया जाए। भारतीय साधना का लक्ष्य आन्तरिक विकारों का प्रशमन है। यह तन की बाँबी और इन्द्रिय हमारी साधना के लक्ष्य नहीं हैं। शरीर को नष्ट करने से और शरीर को कष्ट देने मात्र से ही यदि आत्मा का कल्याण सम्भव होता, तो कैलाश पर्वत पर अतिवादी साधना करने वाले तापसों का कल्याण कभी का हो गया होता किन्तु उस अतिवादी साधना से उनके मन के विकार और विकल्प टूटे नहीं। तमसाच्छन्न मिथ्यात्व भूमिका से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाए। गणधर गौतम के उपदेश से जब उनकी दृष्टि बदली, तब ही उन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि हो सकी।

जैन धर्म यह कहता है कि किसी भी प्रकार की साधना करो, जप की, तप की, आचार की अथवा ध्यान की, परन्तु मुख्य रूप से अपने मन के विकार और विकल्पों को दूर करने का ही प्रयत्न होना चाहिए। जो तप हमारी मन की शान्ति को भंग करता है, अथवा मन के समाधिभाव को भंग करता है, वह तप, तप नहीं है, वह साधना, साधना नहीं है। प्राचीन साहित्य में एक कथा आती है, कि एक गुरु का एक शिष्य था। वह उग्र तपस्वी और घोर तपस्वी था, लेकिन जितना बड़ा वह तपस्वी था, उससे भी अधिक वह क्रोधी था। बड़ी उग्र और

घोर तपस्या कर-करके उसने अपने शरीर को तो कृश बना लिया था, किन्तु अपनी आत्मा के कषाय भाव को वह दूर न कर सका । एक दिन वह अपने गुरु के चरणों में आया और आकर विनम्र भाव से बोला—“गुरुदेव! उग्र और कठोर तपस्या करते-करते यह शरीर सूख गया है, अब इस शरीर में शक्ति और बल नहीं रहा । आप मुझे संधारा करने की आज्ञा दीजिए ।” गुरु ने कहा—“अभी से संधारा करने की आज्ञा कैसे दी जा सकती है? अरे वत्स!—“जुरेहि अप्पाणं” अभी अपने आपको और कृश करो । वह शिष्य फिर तपस्या करने चला गया । अब तक वह एक दिन उपवास और एक दिन पारणा करता था, अब वह दो दिन उपवास कर के पारणा करने लगा । कुछ समय बाद फिर गुरु के पास आया और बोला—“मुझे संधारा करने की आज्ञा दीजिए ।” गुरु ने फिर वही बात कही—“अपने आपको और कृश करो ।” शिष्य पुनः तप-साधना के लिए लौट गया । अब की बार उसने और अधिक कठोर साधना की । तीन दिन उपवास करता और एक दिन पारणा करता । कुछ काल तक यह कठोर साधना करके वह फिर गुरु के समीप आया और बोला—“गुरुदेव! अब तो संधारा की आज्ञा दीजिए ।” गुरु ने सहज भाव से फिर वही बात कह दी—“अभी अपने को और कृश करो क्षीण करो ।” गुरु के इस वाक्य को सुनकर शिष्य के मन को प्रसुप्त क्रोध रूप विषधर पूर्ण जागृत हो गया, आंखें अंगारे जैसी लाल हो गईं, होठ फड़ फड़ाने लगे और शरीर कांपने लगा । क्रोध के वशीभूत होकर, उसने अपने हाथ की एक अत्यन्त कृश उँगली तोड़कर गुरु के सामने फेंक दी और क्रोध की भाषा में बोला—“बताइए अपने आपको और कितना कृश करूँ? सारा शरीर तो सूख गया है, रक्त की एक बूँद भी शेष नहीं है, फिर भी आप एक ही बात कहे जा रहे हैं, कि अपने आपको और कृश करो ।” गुरु ने प्रेम भरे शब्दों में और शान्त स्वर से कहा—“वत्स! मेरा अभिप्राय शरीर को क्षीण करने से नहीं है । शरीर भले ही स्थूल हो अथवा कृश हो । शरीर के मोटेपन से और पतलेपन से साधना में कुछ बिगड़ता-बनता नहीं है । मेरा अभिप्राय था, मन को और मन के विकारों को क्षीण करने से । तुम्हारा अन्तस्तल कषाय से अधिकाधिक स्थूल हो रहा है, उसे पतला करने की आवश्यकता है । इतने वर्षों तक तुमने उग्र, घोर और उत्कृष्ट तपस्या की, किन्तु अपने अन्दर के कषाय-भाव को जीत नहीं सके । क्रोध को जीता नहीं, मान को जीता नहीं, माया को जीता नहीं और लोभ को जीता नहीं । भूखा-प्यासा रहना, तपस्या नहीं है । सच्ची तपस्या है, अपने कषायभाव को जीतना । मन के विकार और विकल्पों को जीतना ही सच्ची साधना है । इतने वर्षों तक तुमने तप की साधना की, कठोर आचार का पालन किया ।

(४४६)

तुम्हारा प्रहार इस तन की बाँबी पर ही होता रहा, किन्तु अन्दर में बैठे क्रोध के विषधर पर प्रहार करने का तुमने प्रयत्न नहीं किया । इसलिए तुम्हारी तप की साधना निष्फल है, व्यर्थ है । जब तुम क्रोध में अपने अंग को ही तिनके की तरह तोड़कर फेंक सकते हो, तब तुम यदि दूसरे पर क्रोध करो, तो उसकी तो गर्दन ही मरोड़ दोगे ।”

मैं आपसे कह रहा था, कि साधना कितनी भी उग्र क्यों न हो, यदि उसमें मन के विकार और विकल्पों को दूर करने की क्षमता नहीं है, तो वह साधना सब व्यर्थ है, अर्थहीन है ।

एक बार विहार करते हुए हम एक ग्राम में ठहरे । वहाँ के लोगों ने व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया । व्याख्यान प्रारम्भ हो गया । एक बहन सामायिक लेकर व्याख्यान सुन रही थी । व्याख्यान समाप्त हो गया और उपस्थित सभी श्रोता धीरे-धीरे चले गए, केवल वह बहन अभी भी बैठी ही रही । कारण यह था कि वह कुछ देर से आई थी और अभी उसकी सामायिक पूर्ण होने में कुछ विलम्ब था । उसके पास दो रेत की घड़ियाँ थीं, जो उसने अपने दाएँ और बाएँ रखी हुई थीं । वह कभी इस घड़ी को हिलाती और कभी उस घड़ी को हिलाती । यह तमाशा बहुत देर से चल रहा था । आखिर मैंने उस बहन से पूछा—“तुम यह क्या कर रही हो?” उसने कहा—“महाराज मैंने दो रेत घड़ी रखी हैं, उससे मेरी दो सामायिक हो जाएँगी । एक इस घड़ी से और दूसरी उस घड़ी से । मैं घड़ी को बार-बार इसलिए हिला रही हूँ, कि ऊपर की रेत शीघ्र ही नीचे चली जाए, जिससे कि मेरी सामायिक शीघ्र पूरी हो जाए ।”

आप इस घटना को सुनकर हँस सकते हैं और हँसी की यह बात भी है । भोली श्राविका को यह भी परिबोध नहीं कि सामायिक आत्मा की वस्तु है, या बाहर की वस्तु है । वह सामायिक के काल-परिमाण की जानकारी के लिए रखी जाने वाली रेत की घड़ी को ही सामायिक समझे हुए हैं और इस प्रकार एक मुहूर्त में दो घड़ियों से दो सामायिक करना और फिर उसमें भी शीघ्रता करना, घड़ी को बार-बार हिलाना, जिससे कि रेत शीघ्र ही ऊपर से नीचे आ जाए । यह परिहास नहीं तो और क्या है? सामायिक करना अच्छा है, बहुत अच्छा है, किन्तु विवेक के अभाव में इस उत्तम साधना का भी मजाक बन जाता है । सामायिक की साधना का लक्ष्य है, मन में समता-भाव बढ़े, ज्ञान की ज्योति जगे, किन्तु

जिस सामायिक की साधना से मन की विषमता बढ़ती हो, मन की समाधि भंग होती हो, अज्ञान का अंधकार और गहरा होता हो, उस साधना को विवेकमयी साधना नहीं कहा जा सकता । आज हजारों लाखों श्रावक और श्राविकाएँ सामायिक की साधना करते हैं, प्रतिदिन प्रतिक्रमण भी करते हैं, किन्तु यदि सामायिक करने पर और प्रतिक्रमण करने पर भी मन में समताभाव न आए, मन स्थिर न रहे, तो समझना चाहिए कि हमारी यह साधना, साधना नहीं है । जैन धर्म में और जैन संस्कृति में विवेक शून्य साधना का कुछ भी मूल्य नहीं है । जिस साधना के पीछे ज्ञान और विवेक न हो, वह मात्र देह-दण्ड है, साधना नहीं ।

मई १९८७

कृपया, गृहदेवी की गरिमा को सुरक्षित रखिए

महान भारत के महान पौराणिक ऋषि मनु ने कभी कहा था—“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।” अर्थात् जिस परिवार एवं समाज में नारी की पूजा होती है, नारी का सत्कार-सम्मान होता है, वहाँ देवतागण प्रसन्न मन से क्रीड़ा करते हैं । वह घर, वह परिवार, वह समाज और वह राष्ट्र सहज आनन्द का क्रीड़ाकेन्द्र होता है । यह कितना उदात्त एवं अर्थ गंभीर वचन है । इस पर से स्पष्ट ही ध्वनित होता है कि पुरा-काल में मातृ-जाति महत्ता के उच्च शिखरों पर किस प्रकार समासीन थी ?

प्राचीन इतिहास साक्षी है कि प्राचीनतम वेदों एवं उपनिषदों, जैनागमों एवं त्रिपिटकों में भारतीय नारी के महिमा का संगान मुखर स्वर से अनुगुंजित है। वेदों की अनेक ऋचाओं की रचयिता विदुषी महिलाएँ हैं । उपनिषद काल की गार्गी वाचकन्वी विदेह जनक की सभा में वेद-वेदांग पारंगत महान महर्षि याज्ञवल्क्य तक को शास्त्रार्थ में छका देती है । महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी कितने विरक्त मन की है—जब याज्ञवल्क्य उसे अपनी अर्जित धन-संपत्ति देने लगे, तब उसने कहा था कि इस धन का मैं क्या करूँगी? क्या मैं इससे अमरत्व पद को प्राप्त कर सकूँगी? यदि नहीं, तो फिर इस अर्थहीन तुच्छ अर्थ को लेकर मुझे क्या करना है ?

रामायण और महाभारत-काल की अनेक नारियाँ सहस्राधिक वर्षों के बाद आज भी भारतीय इतिहास के क्षितिज पर दैदीप्यमान नक्षत्र के रूप में जगमगा रही हैं । सीता और द्रौपदी को अलग रखकर रामायण और महाभारत का कुछ अर्थ ही नहीं रहता । वज्र संकल्प की धनी साम्राज्ञी थी ये दिव्य नारियाँ।

महाभारत की विदुला को कोई कैसे भूल सकता है । वह अपने सुखासक्त आलसी पुत्र को राष्ट्र की सुरक्षा के हेतु उद्बोधन देती है, तो वस्तुतः मातृत्व की दिव्य अन्तर्-भावना को भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर वज्रांकित कर देती है । वह कहती है— “ तू राष्ट्र-रक्षा से मुख मोड़कर घर के कोने में यदि दीर्घ जीवी भी रहा, तो उस दीर्घ जीवन का क्या अर्थ है ? राष्ट्र की रक्षा के हेतु आक्रमणकारी शत्रुओं को पराजित करते हुए, मातृभूमि की बलिवेदी पर अल्प-काल में ही अपने प्राणों की बलि दे देता है, तो वह तेरा भौतिक दृष्टि से अल्प-जीवन भी यशस्वी जीवन के रूप में अजर-अमर रहेगा ।” उस वीर माता का आज भी यह वचन भारत माँ के सपूतों को चिर-काल से प्रेरणा देता आ रहा है— “ मुहूर्तं ज्वलितं श्रेये, न च धूमायितं चिरं ” कुछ क्षणों का प्रदीप्त उदात्त जीवन श्रेयस्कर है, किन्तु स्वार्थों की कड़वी धूम फैलाते हुए गीले काष्ठ के समान लम्बा जीवन भी किस काम का । यदि आज भी इन सोलह अक्षरों पर ही अपने जीवन को केन्द्रित करते हुए कर्म-क्षेत्र में गतिशील रहा जाए, तो भारत सर्वतोमुखी उन्नति एवं उत्थान के शिखरों पर आरोहण कर सकता है ।

महाश्रमण भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध-काल की मातृ-शक्ति भी कितनी अधिक महान रही है । उक्त काल की आर्य चन्दना, मृगावती, तथा राजकुमारी जयन्ती और विशाखा आदि पूज्य नारियाँ हमारे इतिहास की ज्योतिर्मयी तारिकाएँ हैं । आर्य चन्दना का जीवन कर्म, ज्ञान और भक्ति-योग की वह पवित्र त्रिवेणी है, जो युग-युगान्तर तक जन्-जन के लिए अखण्ड प्रेरणा-स्रोत के रूप में प्रवाहित होता रहेगा । वह प्रारम्भ में पुष्पशय्या पर पालित-पोषित, प्रियातिप्रिय अनुपम सुन्दरी राजकुमारी है । वही योगानुयोग से एक श्रेष्ठी के यहाँ गृह-दासी भी हो जाती है । घर के छोटे-बड़े सभी काम प्रसन्नता से हँसते-खिलते वह इस प्रकार करती है कि पता ही नहीं चलता कि वह कभी एक दिन राजकुमारी भी थी । वह अतीत को एक ओर किनारे पर रखकर प्रारब्ध से प्राप्त वर्तमान में आकण्ठ रस-मग्न हो जाती है । यह है, वह जीवन, जो कर्म-योग की कभी न बुझने वाली दिव्य-ज्योति है । भगवान महावीर की यह प्रथम शिष्या है, जिसने आगे चलकर भगवान महावीर द्वारा संस्थापित साध्वी संघ की छत्तीस हजार साध्वियों का कुशल नेतृत्व किया है । यह वह श्रमणी-संघ था, जिसमें मगधराज श्रेणिक जैसे सम्राटों की अनेक उच्चासनस्थ रानियाँ थीं । द्वार-द्वार भिक्षा माँगने वाली दरिद्र भिखारिनियाँ भी थीं । तत्कालीन वर्ण व्यवस्था के रूप में सर्वातिशायी ब्राह्मण वंश की अनेक माताएँ,

पत्नियों तथा कन्याएँ भी थीं, तो दूसरी ओर हीनातिहीन रूप में अवमानना प्राप्त शूद्र एवं अतिशूद्र नारियाँ भी थीं । ऐसे चतुर्गुणी एवं बहुआयामी संघ का नेतृत्व करना आसान नहीं होता ! किन्तु, आर्य चन्दना ने, जिस सद्भावना, सद्बिवेक एवं उदार चेतना से संचालन किया वह संघ संचालन की परंपरा में एक अनुपम आदर्श उदाहरण है ।

बौद्ध त्रि-पिटक एवं जातक कथाओं में भी इसी दिव्य-रूप की ये देवियाँ हैं, जिन्हें भारत का इतिहास कभी भूल नहीं सकता । दानवीरता तथा विचक्षण बुद्धिमत्ता के रूप में विशाखा के अनेक जीवन-वृत्त केवल बौद्ध-संघ के लिए ही गौरव की वस्तु नहीं हैं, अपितु हम सबके लिए महामान्वित गरिमा के आदर्श हैं ।

मैं इतिहास की लम्बी गाथाओं में नहीं जाना चाहता । यह दिशा-निर्देशन ही इस दिशा में पर्याप्त है । किन्तु खेद है, आज नारी-जाति अपमान, अवमानना एवं तिरस्कार के अन्धगर्त में धकेली जा रही है । एक ओर उन्नति के शिखर तैयार हो रहे हैं, तो दूसरी ओर पतन के अन्धगर्त भी कुछ कम नहीं हैं । महर्षि मनु के द्वारा प्रमाणित ये देवियाँ आज इतनी अधिक प्रताड़ना की शिकार हो रही हैं कि किसी भी सहृदय व्यक्ति का कोमल हृदय खण्ड-खण्ड हुए बिना नहीं रह सकता । आज नारी का प्रेम, स्नेह एवं सौहार्द के सहज अमूल्य मूल्य के रूप में नहीं आँका जाता, अपितु क्षणभंगुर अर्थहीन अर्थ के रूप में ही उसका मूल्यांकन किया जा रहा है । प्रेम के देवत्व के स्थान पर पैसे के पिशाच ने आसन जमा लिया है । यदि ऐसा न होता, तो आए दिन समाचार-पत्रों में गृह लक्ष्मियों के जीवित अग्नि प्रवेश के समाचार कैसे मिलते ? दहेज का दानव कितना उद्वण्ड हो गया है कि उसकी दुर्दृष्टि में नारी के जीवन का एक धूलिकण जितना भी मूल्य नहीं रहा है । नवागत गृह लक्ष्मियों को धन के लोभी अर्थ पिशाच जिस किसी रूप में या तो खुद जला देते हैं या इतनी अधिक प्रताड़नाएँ दी जाती हैं कि वे स्वयं अपने हाथों अग्नि-दाह के लिए मजबूर हो जाती हैं । अग्नि-दाह ही नहीं, मृत्यु-राक्षसी के अन्य भी अनेक ऐसे द्वार खुल गए हैं, जो गृह-देवियों के लिए यम द्वार हो जाते हैं ।

अन्यत्र क्या हो रहा है, वह तो निन्दनीय है ही । किन्तु अहिंसा के महान पक्षधर कहे जाने वाले जैन और वैष्णव परिवारों तक में भी इस घृणित

मृत्यु राक्षसी का नंगा नाच हो रहा है । एकेन्द्रिय जीवों तक की रक्षा पर जरूरत से अधिक शोर मचानेवाले, आलू तथा प्याज आदि कंद-मूल के आहार पर अभक्ष्यवाद का ताण्डव-नृत्य करने वाले लोग भी जब ऐसा कुकृत्य करते हैं, तो हमारे पवित्र धर्म का उन्नत मस्तक लज्जा से सहसा अवनत हो जाता है । यह अहिंसा धर्म पर, इतना ही नहीं, पवित्र भारतीय संस्कृति पर वह काला धब्बा लग रहा है, जिसे साफ करना मुश्किल है ।

मैं प्रस्तुत में लम्बी चर्चा नहीं करना चाहता । पापाचार की वार्ता भी अन्तर्मन को कलुषित कर देती है— “ कथाहि खलु पापानाम् अलमश्रेयसे ।” अश्रेयस् की यह पुरातन उक्ति असत्य नहीं है । अस्तु मैं चाहूँगा, हम अपने महान अतीत को न भूलें । जिस माँ की कुक्षि में जन्म लिया है, उस मातृ-जाति के गौरव को अपमानित करके अपने को कलंकित न करें । माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी, पुत्र-वधू आदि अनेक दिव्य रूपों में मातृ-जाति की आदर्श भूमिकाएँ हैं, उन सभी दिव्य रूपों का योग्य सम्मान करने में ही हमारा, हमारे धर्मों का, हमारी जाति और समाज का तथा महान राष्ट्र का महान गौरव है ।

जून १९८७

आज अपेक्षा है धर्म के यथार्थ उद्बोधन की

विराट मानव-जाति के श्रीमुख से उद्घोषित लक्ष-लक्षाधिक शब्दों में धर्मशब्द पवित्रता के सर्वोपरि शिखर पर स्थित रहा है। धर्म, मानव-जाति के पतन की ओर अघोमुख होते हुए जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। पतन से अभ्युत्थान की ओर उन्मुख करता है। धर्म का शब्दार्थ ही है— “ जो प्रजा को धारण करता है, वह धर्म है ”— “ धर्मो धारयते प्रजाः।”

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है— धर्म, वह है, जो साधक व्यक्ति को सर्व मंगल सर्वोत्तम सुख में प्रतिष्ठित करता है— “ यो धर्त्युत्तमे सुखे ।” दीर्घाति-दीर्घ काल तक धर्म की ये महान फलश्रुति सुरक्षित रही है, किन्तु आज क्या हो रहा है, धर्म के पवित्र नाम पर ? वह कुछ ऐसा हो रहा है कि धर्म शब्द का प्रयोग करते हुए भी प्रबुद्ध मनीषी जनों के अन्तर्मन संकोच से भर जाते हैं। मात्र संकोच ही नहीं, उनकी जागृत चेतना को लज्जित भी होना पड़ रहा है।

समाचार पत्रों में आये दिन पढ़ते हैं कि एक दिन गुजरात, अहमदाबाद, बड़ौदा धर्म की आग में जल रहा है, तो दूसरे दिन मेरठ, दिल्ली और मुरादाबाद। अन्य स्थानों की तो गणना ही क्या ? निर्दोष इन्सानों का खून धरती माँ के पवित्रतम वक्ष पर इस तरह बह रहा है कि मानों यह देश इन्सानों का नहीं, अपितु शैतानों एवं राक्षसों का है। हिन्दू, मुसलमान या सिख आदि धर्म के अहं में कहीं पर हर किसी आदमी को कहीं भी छुरा भौंक दिया जाता है और कहीं बन्दूक एवं पिस्तौल की गोलियों से भुन दिया जाता है। देखा नहीं जाता, कि सम्मुखस्थ व्यक्ति बालक है, युवा है, वृद्ध है या माँ, बहन आदि के रूप में अवतरित कोई भद्र महिला है। मारने का और कोई लक्ष्य नहीं है। बस, एक ही लक्ष्य है— धर्म की भिन्नता। देश की लाखों, करोड़ों, अरबों की

सम्पत्ति अग्नि दाह में भस्म कर दी जाती है । जो धर्म सद्भावना का अमृत-जल लेकर संसार की आग को बुझाने के लिए यात्रा पर अग्रसर हुए थे, आज वे ही धर्म खुद आग लगा रहे हैं । मानव जाति की धन-सम्पत्ति को तो नष्ट कर ही रहे हैं, साथ ही मानव जाति की उदात्त संस्कृति को भी भस्मसात करते जा रहे हैं ।

आज मानव-जाति को तथाकथित धर्मों से पराङ्मुख नास्तिकों तथा काफिरों से उतना खतरा नहीं है, जितना कि धर्मरक्षा का दावा करने वाले इन तथाकथित धर्मान्ध नास्तिकों से है । आज धर्म रक्षकों के काले कारनामे विश्व में धर्म-विरोधी नास्तिकों की संख्या ही बढ़ा रहे हैं । और, यह कोई असंगत भी नहीं है । जब कि धर्म के पवित्र वक्ष पर सम्प्रदायवाद के भीषण भूत निर्लज्ज नंगा नाच करते हैं, तब ऐसा ही होता है ।

कभी था वह समय, जब ईश्वर या गौड तथा सत् श्री अकाल आदि एक ही पवित्र ज्योति के वाचक शब्द थे किन्तु लगता है, आज ये सब शब्द अपना मूल अर्थ खो बैठे हैं, और इन पर साम्प्रदायिक मान्यताओं, क्रिया-काण्डों तथा अन्ध-विश्वासों के भिन्न-भिन्न लेबल लग चुके हैं । फल-स्वरूप ये पवित्र शब्द परस्पर लडते-झगडते इतनी अधिक दूर जा पड़े हैं कि कभी परस्पर ये मिल भी सकेंगे या नहीं ? अन्तर्मन शंकाग्रस्त हो उठा है ।

ईश्वर, खुदा और गौड आदि बहुत दूर पृष्ठभूमि में चले गए हैं । आज तो उनसे भी अधिक प्रतिष्ठा के सिंहासन पर पण्डे, पुजारी, मुल्ला, मौलवी, पादरी और ग्रन्थी आदि गुरु शब्द वाच्य लोग ही विराजमान हो गए हैं । इनमें से अधिकतर वे लोग हैं, जो धर्म के नाम पर हिंसा, हत्या-काण्ड, आतंक, अग्निदाह, लूटमार आदि की जलती आग पर अपने जघन्य स्वार्थों की रोटियाँ सेंक रहे हैं । इन्हें धर्म से कुछ लेना नहीं है । बस, इनका तो एक मात्र लक्ष्य है— धर्म के सस्ते नाम पर अपने स्वार्थों की पूर्ति होती रहे ।

हजारों मन्दिर खण्डहर होते जा रहे हैं । हजारों ही मस्जिदें मीत की गोद में पहुँच रही हैं । एक प्रबुद्ध मुस्लिम बन्धु ने लिखा था— देश में ३२ लाख से अधिक मस्जिदें निर्जन, सुनसान पड़ी हैं । उन्हें कोई पूछनेवाला भी नहीं है,

और इधर बाबरी मस्जिद आदि के नाम पर हजारों निरपराध, बेगुनाह बाल, वृद्ध, स्त्री-पुरुषों का खून बहा दिया गया है और बहाया जा रहा है। कोई पूछे इन्हें — मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर या गुरुद्वारा आदि के रूप में एकत्र ईंटों तथा पत्थरों का गौरव तथा मूल्य अधिक है या इन्सान के खून का ?

नदी के जल के बटवारे के विवाद में परस्पर युद्ध के लिए सन्नद्ध हुई दो क्षत्रिय जातियों के बीच में तयागत बुद्ध आ खड़े होते हैं और पूछते हैं—तुम परस्पर बन्धु-जन हो, धरती माँ के एक ही जैसे पुत्र हो, अतः प्रश्न है मेरा कि मनुष्य के खून का मूल्य अधिक है या इस नदी के जल का ? युद्धोन्माद के क्षणमें भी उन क्षत्रियों की मानवता जागृत थी, अतः सबने एक स्वर से कहा— भन्ते! मनुष्य के रक्त का मूल्य अधिक है। मूल्य क्या ? वह तो अनमोल है। यह उत्तर पाते ही अहिंसा एवं करुणा के देवता बुद्ध ने कहा—यदि ऐसा है, तो फिर पानी के लिए यह व्यर्थ का युद्ध क्यों ? रक्तपात क्यों ? नदी जल का उचित बटवारा करो, कम या ज्यादा के विकल्प में मत पड़ो और सब शान्ति और प्रेम के साथ अपने-अपने घर जाओ। ऐसा ही हुआ। क्या यह बुद्ध का उपदेश आज ईंट-पत्थरों के विवाद को समाधान नहीं दे सकता ? दे सकता है, यदि मानव मानवता की तुला पर अपने कर्तव्यों का उचित मूल्य निर्धारित करे।

ये ईंट और पत्थरों के बने मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा आदि धर्म-स्थान वस्तुतः देवालय नहीं हैं। एक ओर तो ईश्वर और खुदा को सर्वव्यापी एवं साबात्मा कहा जा रहा है और दूसरी ओर उसे मन्दिरों-मस्जिदों आदि की क्षुद्र दीवारों के घेरों में बन्द किया जाता है। यह कितना तर्कहीन विरोधाभास है। विरोधाभास क्या, साक्षात् नग्न विरोध ही है। हमारे पूर्वज सत्य-द्रष्टा ऋषियों ने कहा था— “ देहो देवालय प्रोक्तः। ” प्राणी का यह देह ही देवालय है। खेद है, कि ये साक्षात् जीवित देवालय गिराए जा रहे हैं और गिराए जा रहे हैं धर्म, मजहब और उनके अधिष्ठाता ईश्वर, खुदा तथा अपने-अपने तथाकथित धर्म गुरुओं के नाम पर। कितनी विचित्र मूढ़ता है। किसी ने कभी गाया था, और इस प्रश्न का उत्तर दिया था— भगवान कहाँ है ? वे उदात्त पंक्तियाँ अंधकार में ज्योति किरण के रूप में हैं—

“मन्दिर में नहीं, मस्जिद में नहीं,
जहाँ याद करो भगवान वहीं ”

(४५५)

लेख लम्बा हो रहा है । विचारों का प्रवाह इति पर पहुंच नहीं पा रहा है । फिर भी, बलात् मन को समेट कर संक्षेप में इतना ही कहना चाहूँगा— धर्म के नाम पर होने वाला यह हिंसा का ताण्डव-नृत्य तत्काल बन्द हो जाना चाहिए । मानव, मानव में मानवता का एक ऐसा खून का रिश्ता है, जिसके टूटने पर मानवजाति विनाश के कगार पर पहुंच सकती है । दया, प्रेम, करुणा मैत्री एवं सद्भावना आदि के रूप में प्रख्यापित धर्म को प्रतिष्ठित होने के लिए उसे अपना सही आसन मिलना चाहिए ।

इसी धर्म के लिए महाश्रमण भगवान महावीर ने कहा— विश्व में धर्म ही सर्वोत्कृष्ट मंगल है— ‘ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं ’

यही वह धर्म है, जो इन्सान को इन्सान बनाए रख सकता है । उक्त धर्म के अभाव में मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु बन जाता है । चिर-अतीत में हमारे पूर्वजों ने सही कहा था—

“ धर्मेने हीना पशुभिः समाना ”

और, मैं आज की दुस्थिति को देखकर कहता हूँ — धर्म से शून्य होकर मात्र बाह्य क्रिया-काण्ड रूप सम्प्रदायों को, मतों को, पंथों को ही धर्म मानने वाले मनुष्य पशु से भी बदतर हैं । वे मानव नहीं, दानव हैं । भगवान बचाए मानव-जाति को इन दानवों से ।

आज अपेक्षा है, प्रत्येक नगर एवं गाँव में सभी धर्मों के, परम्पराओं के प्रबुद्ध महानुभावों एवं शिक्षित महिलाओं के एक पक्ष-मुक्त शुद्ध संगठन हो और वह समय-समय पर जनता को धर्म के मूल तत्वों का रहस्य समझाए । बाह्य दृष्टि से हटाकर जनता को अन्तर्-दृष्टि दें । धर्म आत्मा का स्वरूप है, तथाकथित बाह्याचार एवं क्रिया-काण्डों का नहीं । यह प्रयत्न निष्ठा के साथ निरन्तर अपेक्षित है । क्या इस ओर कुछ लक्ष्य दिया जाएगा ?

जुलाई १९८७

(४५६)

हर किसी सहृदय की दर्द भरी अन्तर्व्यथा

आज ७ जुलाई १९८७ का प्रातःकाल है। एक बहुत ही अशुभ एक भयंकर राक्षसी नर-संहार लीला का दुर्वृत्त सुनने में आया है। यह अश्रव्य कानों में श्रव्य हुआ, तो सारा शरीर सहसा उत्कम्पित हो उठा। हृदय का कण-कण जलने लगा। आँखों के आगे अँधेरा-सा छा गया, यह क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? कौन कर रहा है? और, कौन करा रहा है? यदि कोई वास्तव में इन्सान है और उसके तन में कहीं सही इन्सान का सही हृदय है, वह तो ऐसा कुछ नहीं कर सकता है और न करा ही सकता है। यह दुर्वाता है, सर्वथा अश्रव्य जैसी दुर्वाता है। गत रात्रि हरियाणा रोडवेज की एक बस चण्डीगढ़ से हरियाणा की ओर जा रही थी। कुछ मानव तनधारी दानव लोगों ने निरपराध एवं निर्दोष ४० के लगभग लोगों को गोलियों से भुन डाला।^१ कहने को वे सिक्ख कहे जाते हैं और गुरु-भक्त भी। किन्तु, मूल में न वे सिक्ख हैं और न गुरु-भक्त। यदि कोई वास्तव में गुरु है, तो वह इस प्रकार के हत्यारों को अपना शिष्य कहते शर्माएगा और लजाएगा तथा अन्तर्मन में कितनी भीषण पीड़ा की अनुभूति करेगा कि मेरे नाम से यह जो कुछ भी हो रहा है, वह इतना दुर्नाम दुराचार हो रहा है कि धरती माँ फट जाए, तो मैं जिन्दा ही उसके गर्भ में सदा के लिए समा जाऊँ।

बेचारे, निर्दोष यात्रियों को क्या लेना-देना था, उन हत्यारों के राजनैतिक या साम्प्रदायिक दुराग्रहों से। सुना है, कुछ निर्दोष बच्चे भी भुन दिए गए। उन अंकुरित होती कोमल कलियों को क्या सोच-समझ कर मौत के घाट उतारा, मैं तो कुछ समझ नहीं पाया। कोई वंश परम्परानुगत हत्यारा भी

१. ७ जुलाई की रात्रि को फतुहा के निकट हिसार जा रही बस को तथा दिल्ली से आ रही एक बस को रोककर ३२ व्यक्तियों को गोलियों से भुन डाला और अनेक व्यक्तियों को घायल कर दिया। दो दिन में ७२ व्यक्तियों की हत्याएँ कर दी गईं।

(४५७)

संभवतः इस तरह की हत्या करते हुए अपने को बचाएगा । बचा न सकेगा, तो संभवतः एक बार तो कंपकंपाएगा ही । किंतु, इस हत्या-काण्ड में तो ऐसा कुछ भी नहीं हुआ । अदृष्टहास होता रहा और निर्दोष रक्त बहता रहा ।

मैं नहीं समझता, ये हत्यारे अपने कलुषित मन में इस हत्याकाण्ड को करते हुए अपने को क्या समझते रहे होंगे ? संभवतः अपने को धर्मवीर, अपने अभीष्ट स्तान विशेष के वीर समझ रहे होंगे ? मैंने जान-बूझकर उनके अभिलषित स्तान विशेष के पूर्व लगते विशेषण को अंकित नहीं किया । ऐसे विशेषणों के नामोच्चारण से भी पाप लगता है “ कथा हि खलु पापनाम् अलमश्रेयसे ।”

प्रस्तुत में मैं अपने हृदय से और सभी जनों के हृदय से और खासकर उन्हीं हत्यारों के हृदय से पूछना चाहता हूँ, कि क्या यह वीरता है ? क्या यह शतांश में से एक अंश अथवा अर्घांश जैसी भी कोई वीरता है ? यह कैसी वीरता-जो योजनाबद्ध घात लगाकर निहत्थे-निर्दोष लोगों को एकएक अचानक भुन दिया और चोरों की तरह अँधेरे का लाभ उठा कर इधर-उधर सिर छुपाते हुए भाग निकले । यदि कोई महान उद्देश्य है, और उसके लिए प्राणों को हथेली पर रख कर कुछ करने जैसा है, तो सैनिक तो क्या, सुरक्षा दल के अर्धसैनिकों के समक्ष ही चुनौती देकर वीरता पूर्वक एक योद्धा के रूप में उपस्थित हों, तब पता चलेगा कि भारतीय संस्कृति के वीरों का वीरत्व कैसा होता है ? स्पष्ट है, यह वीरत्व हत्यारों के खून में कहीं भी नहीं है । उनके खून में है, दस्युओं, लुटेरों एवं हत्यारों की मानसिकता ।

आज ये हत्यारे-उन्हें किसी भी नाम से सम्बोधित किया जाए एक दिन पाकिस्तान के भयंकर शत्रु रहे हैं । मैं घृणा के इतिहास को दुहराना नहीं चाहता । वह पाप है । फिर भी गुजरे सत्य को उन्हें ही बताना है, कि आज जिस पड़ौसी पाकिस्तान से हथियार लाते हो, शस्त्र संचालन का एवं चोरी-छुपे घात लगाकर हत्याएँ करने का शिक्षण लेकर आते हो-राष्ट्र विभाजन के समय तुमने उनके साथ क्या किया था और उन्होंने तुम्हारे साथ क्या किया था ? बाल, युवा और वृद्ध पुरुषों का तो कतलेआम किया ही गया, किन्तु निर्दोष कन्याओं एवं महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार किए गए, स्तन काट डाले गए, गुप्तांगों में भाले घुसेड़ दिए गए और उन्हें नग्न करके खुले बाजारों एवं गलियों में घुमाया

गया, जलूस निकाले गए और अन्ततः घास-पात की तरह काट-काटकर हत्याएँ कर दी गईं। स्वार्थी और खुदगर्ज लोग इतने भुलक्कड़ होते हैं कि कुछ पूछो नहीं। मालूम होता है, वही दानवीय रक्तपिपासा अब भी शान्त नहीं हुई है। उसने ही बदल कर यह दूसरा भीषण रूप ले लिया है। लोग सत्य ही कहते हैं कि जो एक बार ऐसा खून मुँह लग जाता है, फिर वह प्रायः छूटता नहीं है।

भारतीय देश और संस्कृति को छिन्न-भिन्न कर, जो लोग अपना अलग देश और अलग संस्कृति की स्थापना करना चाहते हैं और अपना पृथक स्तान विशेष बनाना चाहते हैं, उन्हें पता होना चाहिए कि उनका वंश परम्परागत पुराना शत्रु सिरहाने बैठा है। उसे तुम्हारे 'स्तान' विशेष को समय पर निगलने में एक दिन भी नहीं लगेगा। यह जो-कुछ भी सुरक्षा है, वह अखण्ड भारत राष्ट्र की महाशक्ति की ओर से सुव्यवस्थित सुरक्षा है। अन्यथा, अन्यथा ही है। शत्रु को मित्र बनते और मित्र को शत्रु बनते, कितनी देर लगती है ?

आज एक धर्म के रूप में सुसंगठित होने और उसके फलस्वरूप सुरक्षित होने और सुविकसित तथा समृद्ध होने का यत्र-तत्र दुःस्वप्न देखा जा रहा है, यह दुःस्वप्न अज्ञान एवं अबोध की गहराती काली निशा के अर्ध निशीथ काल का वह दुःस्वप्न है, जिसके प्रत्यक्ष परिणाम जनता के समक्ष आ चुके हैं और आ रहे हैं। ईरान और इराक एक ही इस्लाम धर्म के राष्ट्र हैं, किन्तु, किस प्रकार प्राण-घातक युद्ध में संलग्न हैं। पश्चिम के इसाई राष्ट्र एक धर्म के अनुयायी होते हुए भी गत युद्धों में कितना भीषण जन-संहार कर चुके हैं और आज भी कुछ-न-कुछ कर ही रहे हैं। दूर, क्यों जाएँ, पड़ोसी देश पाकिस्तान को ही देख लीजिए। धर्म के उन्माद की भीषण मानसिक दुःस्थिति में ही एक दिन पाकिस्तान की स्थापना हुई थी। महान भारत से अपना अंग विच्छेद कर लिया गया था। और, धर्म के नाम पर इस दुर्नाम माया-जाल में उलझ कर भारत में सुख-चैन से रहते हुए भी लाखों मुसलमान बन्धु अपने तथाकथित धर्म-देश में पहुँचे थे, स्वप्नोपम स्वर्ग सुख भोगने को। परन्तु, हुआ क्या ? ताजा खबर है, भारत के इन प्रवासी बिहारी और अन्य मुसलमानों का वहाँ के पूर्वस्थ पठान आदि मुसलमानों द्वारा इतना दर्दनाक कतलेआम किया जा रहा है कि कोई भी सहृदय आँसुओं की धारा बहाए बिना नहीं रह सकता। इन पथ-भ्रष्ट सिक्खों के अज्ञानग्रस्त मनोजगत के तथाकथित खालिस्तान विशेष का क्या हाल होगा ? जो सिक्ख बन्धु भारत से बाहर पश्चिम देशों में रहते हैं तथा

पंजाब से बाहर विशाल भारत में सुख-चैन से निवास करते हैं, उन्हें पता होना चाहिए कि इस अलग राष्ट्र के दुःस्वप्न का अन्ततः क्या हाल होगा ? आज अर्थ से तथा येन-केन प्रकारेण गुप्त षड्यन्त्रों से तथाकथित हत्यारों को, जो सहायता पहुंचा रहे हैं, वे आज तो प्रसन्न हैं, खुशियाँ मना रहे हैं, परन्तु आने वाला इतिहास रुदन के सिवा कुछ नहीं होगा । यह वह सत्य है, जो न कभी झुठलाया जा सका है और न कभी झुठलाया जा सकेगा ।

मैं कोई राजनैतिक व्यक्ति नहीं हूँ, न मेरा किसी राजनैतिक दल से कोई सम्बन्ध है । मैं तो एक अहिंसा एवं सत्य के महान प्रवर्तकों एवं उपदेष्टाओं के पवित्र संदेशों का निष्ठावान संदेशवाहक धर्मदूत हूँ । और हूँ उन विश्वतो वंदनीय महापुरुषों का एक साधारण-सा सेवकानुसेवक । अतः एकमात्र इसी उद्देश्य से मैंने अपने आत्म प्रिय भूले-भटके बन्धुओं से विचार-चर्चा की है । मैं स्नेहशील हृदय के कण-कण से अभ्यर्थना करता हूँ कि ये मेरे अपने प्रिय युवकजन, धर्म गुरु और नेता अपनी सहज मानवीय करुणाद्रि सद्बुद्धि से काम लें, और इस अन्ध-गति से प्रचलित या प्रचालित हत्या-काण्डों से अपने को सर्वथा मुक्त करें । हम सबकी चिराति-चिरकाल से पूजा प्राप्त पवित्र भारत माता का अंगविच्छेद न करें । हम हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, जैन और बौद्ध आदि सम्प्रदायों के नाम से धार्मिक होने से पहले सत्य अर्थ में इन्सान तो बन लें । मनुष्यता मूल है, सभी धर्म एवं संस्कृतियों का । यदि यह नहीं है, तो फिर तो विना मूल अर्थात् जड़ के हवा में महान वटवृक्ष खड़ा करना है तथा विना नींव के आकाश में ईट-पर-ईट फेंक कर विशाल राजप्रासाद का निर्माण करना है । अस्तु, मैं शाहिर लुधियानवी के प्रस्तुत प्रसंग में एक दर्द भरे बोल को थोड़ा सा बदल कर बोल रहा हूँ ।

“न हिन्दू बनो तुम, न मुसलमान बनो तुम ।
इन्सान की औलाद हो, इन्सान बनो तुम ॥”

प्रस्तुत बोल के हिन्दू और मुसलमान शब्दों में सिक्ख, ईसाई, फारसी, हिन्दू, जैन और बौद्ध सभी धर्म से सम्बन्धित नाम सन्निहित हैं । यह मेरे अन्तर्-हृदय की सिर्फ एक बात ही नहीं, किन्तु मर्मन्तिक व्यथा है । और, केवल एक मेरी ही नहीं, सभी सहृदय जनों की यह एक सामूहिक अन्तर्-व्यथा है ।

अतः कृपया, इसे सही बुद्धि से सही अर्थ में समझने का आप में से कोई भी, कुछ भी चिन्तन करेगा, और तदनुकूल आचरण भी करेगा, तो मुझे और मेरे सभी सहृदय जनों को वह प्रसन्नता प्राप्त होगी, जिसकी अभिव्यक्ति स्थूल वाचा से परे होगी !

अगस्त १९८७

(४६१)

माया महाठगनी

सन्त कबीर ने एक बार कहा था—
“ माया महाठगनी, हम जानी ! ”

कबीर की यह लोगों को ठगनेवाली ठगनी माया कौन थी ? यह तो, वे ही जाने । परन्तु माया का सुप्रसिद्ध अर्थ एवं भावार्थ है—छल, कपट, दम्भ, घोखा, फरेब एवं प्रपंच आदि-आदि । मन में कुछ और छिपाए रखना और बाहर में कुछ और अभिव्यक्त करना—इस प्रकार भद्र लोगों की आँखों में धूल झोंकना है माया । बहुरूपिये और मजाकिये बालक मुखौटा लगा लेते हैं—कभी शेर आदि जानवर का, तो कभी किसी भूत-प्रेत आदि का । इसी तरह कुछ लोग हैं, जो अन्दर में सियार हैं और बाहर में महान सिंह का मुखौटा लगाए रहते हैं वे अन्दर में राक्षस हैं और बाहर में वरदानी किसी पवित्र देवता का मुखौटा लगाए हुए हैं । जीवन इस प्रकार द्वैत की स्थिति में खण्ड-खण्ड होता जाता है, महाठगनी माया के द्वारा।

माया, वैसे तो मानव के साथ प्रायः आदि काल से ही जुड़ी आ रही है, किन्तु इधर माया ने अपना छलना का माया-जाल काफी दूर-दूर तक फैला रखा है । परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्म आदि दूर-दूर क्षेत्रों में माया की छल-विद्या चल रही है । सब कोई एक-दूसरे को ठगने में लगे हुए हैं । माया में से ही असत्य का प्रसार हो रहा है, जिससे हम कोई भी सत्ता-पक्ष हो या प्रतिपक्ष, सर्वत्र एक-दूसरे पर मिथ्या आरोप लगाने के कुचक्र में हर्षोन्मत्त हैं । सर्व-साधारण जनता सच और झूठ में ठीक तरह कोई भेद-रेखा ही नहीं अंकित कर पाती ।

प्राचीन-काल में महात्मा और दुरात्मा की एक भेद-रेखा अंकित की
(४६२)

गई थी—जो महानुभाव मन, वचन और कर्म में एक रूप हो, किसी तरह का विभेद न हो, वह महात्मा होता है । इसके विपरीत, जिसके मन में कुछ और हो, वचन में कुछ और हो, तथा कर्म में कुछ और ही हो, वह दुरात्मा होता है। अर्थात् अभेद-वृत्ति महात्मा का लक्षण है और भेद-वृत्ति दुरात्मा का । श्लोक है—

“ मनस्येकम् वचस्येकम् कर्मण्येकम् महात्मनाम् ।
मनस्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम् ॥”

खेद है, संसार-पक्ष में तो महात्माओं की अपेक्षा दुरात्माओं का ही एक छत्र राज्य होता जा रहा है । इस राज्य के भयंकर दृश्य आए दिन आँखों के आगे से गुजर रहे हैं और कानों में टकराते हैं, किन्तु खेद से भी बढ़कर खेद तो इस बात का है, कि माया महाठगनी ने धर्म के पवित्र क्षेत्र में भी अपने हाथ-पैर अच्छी तरह फैला दिए हैं । जो धर्म-परम्पराएँ निर्दम्भता के मूलाधार पर अवस्थित थीं, उनका आधार भी अब माया अर्थात् दम्भ वृत्ति लेती जा रही है । साधना के क्षेत्र में भी माया के विभिन्न मुखौटे लग गए हैं और लगते जा रहे हैं।

धर्म-साधना की वृत्ति के महानुभावों के लिए एक धर्म सूत्र था—“निःशल्यो व्रती” —तत्त्वार्थ ७.१३ — जो शल्य से रहित होता है, वही वस्तुतः सच्चा व्रती अर्थात् शुद्ध व्रतधारी साधक होता है । शल्य का अर्थ-काँटा है । इस प्रकार विषाक्त काँटा शरीर में कहीं भी लग जाता है और शीघ्र ही निष्कासित नहीं होता है, तो धीरे-धीरे सारे शरीर को पीड़ा से आक्रान्त करता हुआ एक दिन उसे नष्ट ही कर देता है । यही स्थिति व्रती के व्रत की भी होती है । शल्य व्रती के साधना-जीवन का भयंकर विषाक्त वह काँटा है, जो व्रत को अन्ततः समाप्त ही कर देता है । और व्रत के अभाव में व्रती मात्र एक बहुरूपिया बन कर रह जाता है, जो बाह्यचार के प्रदर्शन के द्वारा एकमात्र अपनी रोजी-रोटी का धंधा चलाता है ।

धर्म और शल्य का परस्पर अंधकार और प्रकाश जैसा विरोध है । जहाँ शल्य है, वहाँ व्रत कहाँ ? जहाँ अंधकार है, वहाँ प्रकाश कहाँ ? शल्य, साधना का एक प्रकार का वह कैंसर है, जो अन्ततः साधक को साधना की दृष्टि से प्राण-घातक स्थिति में पहुँचाकर दम लेता है ।

और तो और, धर्म क्रिया ही की जा रही हो, किन्तु वह अहंकार या किसी अन्य दुरु-वृत्ति से छुपा कर की जाती है, तो अन्ततः वह भी भयंकर परिणाम लाती है। ज्ञाता सूत्र साक्षी है—एक साधक अहं वृत्ति के चक्र में आकर अपने सहयात्री साधियों को माया से धोखा देकर कुछ अधिक उपवास कर लेता है और अन्ततः वह धर्म, अधर्म बन जाता है, और पुण्य, पाप बन जाता है। यह कथा जैन-साहित्य में प्रसिद्ध है। अतः मैं यहाँ उसके विस्तार में नहीं जाना चाहता।

आगम-साहित्य में शल्य के अनेक रूप हैं, किन्तु उनमें माया पहला अर्थात् प्रमुख शल्य है। आवश्यक सूत्र का मूल पाठ है — “ पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहि—माया सल्लेणं, नियाण सल्लेणं, मिच्छादंसण सल्लेणं ।” आगे चलकर आवश्यक सूत्र में ही एक और पाठ है — “ समणोऽहं संजय-विरय-पडिहय पचक्खाय-पावकम्मो, अनियाणो, दिट्ठिसंपन्नो, माया-मोस-विवज्जिओ ” अर्थात् मैं श्रमण हूँ, संयत हूँ, विरत हूँ, प्रतिहत-प्रत्याख्यान-पापकर्मा। निदान से मुक्त हूँ, विवेक-दृष्टि से सम्पन्न हूँ, अन्ततः सौ-बातों की एक बात है कि मैं माया-मृषा से वर्जित हूँ अर्थात् निष्कपट सत्य का व्रती हूँ।

उक्त पाठों पर से स्पष्ट है कि साधक को निष्कपट एवं छल-प्रपंच से मुक्त रहना चाहिए। व्रत-साधना अधिक है या न्यून है, यह प्रश्न मुख्य नहीं है। मुख्य प्रश्न है, कि क्या वह निष्कपट है, निर्दम्भ है, माया की प्रवंचना से मुक्त है? यदि वह माया की प्रवंचना से मुक्त है, तो वह अल्प धर्माचरण भी महान है, साधक को निष्ठाप बनाने वाला है। अतः इस सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया है—

“ स्वल्पमप्सस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात् । ”

प्रसन्नता है, हमारे अतीत के इन स्पष्टवादी प्रवचनों की महत्ता पर, किन्तु खेद है, आज के युग का साधक नामधारी जिस अंधियारे गलियारे से गुजर रहा है, वह खेद जनक है, साथ ही लज्जाजनक भी। किसी युग में जैन साधु अन्दर और बाहर की सत्यता की एकरूपता के लिए महान् यशस्वी रहा है। किन्तु आज वह भी माया महाठगनी के कुचक्र में बुरी तरह उलझ गया है और उलझता जा रहा है। सभी महानुभावों के लिए तो मैं यह बात नहीं कह रहा

हूँ, किन्तु अधिकांश में जो स्थिति है, उसकी ही यह चर्चा है। 'ऊँची दुकान, फीके पकवान' की स्थिति साधक के लिए ठीक नहीं है। आज जैन हो या अजैन, अनेक प्रबुद्ध मनीषी यह कहते सुने गए हैं, कि आज के अनेक मुनि-जन कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। आज का साध्वाचार सर्वतः सुप्रकाशित सत्य से हटकर दम्भ के सघन अंधकार में सिमटता जा रहा है। आज साधुओं के आचार-पालन के हेतु श्रावकों को असत्य का सहारा लेना पड़ता है। और, प्रायः अजैन भी एतदर्थ परिहास की बातें करते हैं। उदाहरण के रूप में केवल एक घटित घटना की चर्चा कर देता हूँ। मुम्बई समाचार (गुजराती दैनिक) के 'जय जिनेन्द्र' शीर्षक के अन्तर्गत महनीय मुनि कस्तूरसागरजी ने 'साध्वाचारना प्रश्नों' शीर्षक से आज-कल के साध्वाचार सम्बन्धी मिथ्या-विचारों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठाए हैं। उक्त लेख में एक घटना विशेष रूप से रेखांकित की गई है -

“ एक बार कुछ मुनि सन्त विनोबाजी के पवनार आश्रम में पधारे। सामान्य नियम के अनुरूप वहाँ के कर्मचारियों ने उष्ण जल (गर्म पानी) तैयार किया। पानी लेने हेतु आए मुनिजी ने पूछा-पानी किसके लिए गर्म किया है ? निर्देश देने वाला कर्मचारी कार्यवश अन्यत्र चला गया था। अतः उस समय उपस्थित कर्मचारी ने सहज भाव से कह दिया— “ गर्म पानी आपके लिए तैयार किया है। ” सन्त पानी लिए विना वापिस लौट गए। निर्देशक कर्मचारी लौट कर आया और जब उसे यह मालूम हुआ, तो दुबारा साधुजी को लौटा कर लाया और कहा कि इन लोगों को कुछ पता नहीं था, यह गर्म-पानी तो हमारे अपने स्नान आदि के लिए तैयार किया है। सन्त वही पानी ले गए। यह दृश्य वहाँ उपस्थित एक अन्य सज्जन देख रहे थे। उन्होंने वर्धा के जैन उपाश्रय में उन्हीं सन्तों से पूछा—“क्या जैन धर्म झूठ बोलने की प्रेरणा देता है ? पवनार के आश्रम में आपके मुनिजी द्वारा लिया गया उष्ण जल तो वही था, जिसे वे पहली बार बिना लिए वापस लौट गए। जल में तो किसी तरह का परिवर्तन नहीं हुआ, सिर्फ भाषा में परिवर्तन हुआ था। सत्य भाषा का प्रयोग करनेसे पानी अकल्पनीय हो गया और असत्य भाषा का प्रयोग करने से वही पानी कल्पनीय कैसे हो गया ? ”

जय जिनेन्द्र के उक्त घटना लेख के रूप ही सर्वोदय के वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री राधाकृष्णजी बजाज ने प्रत्यक्ष में मुझसे भी इसकी चर्चा की थी,

(४६५)

जब वे पिछले दिनों वीरायतन आए थे । यह इस तरह की केवल एक घटना ही नहीं है, अपितु अनेक भाई-बहनों ने स्पष्ट रूप में मुझ से इसी तरह की ही अनेक बार चर्चाएँ की हैं । इन सब दुमुही साधनाओं के सम्बन्ध में हमारे महनीय मुनियों के पास कोपावेश के अतिरिक्त अन्य कोई सम्यक्-उत्तर है क्या, जो जिज्ञासुओं के सरल मन को सही समाधान दे सके ? समाधान दिया जा सकता है, यदि साधु-जन माया महाठगनी के जाल से मुक्त होकर वर्तमान देश-कालानुरूप अपनी सही स्थिति को साहस के साथ जनता के समक्ष प्रकट करने को तैयार हों ।

किन्तु, माया की कालिमा से आच्छादित आचार के पक्षधर भला साहस करें भी, तो कैसे करें? माया के परावरण से मुक्त होकर निरावरण होना अपने में बहुत ही कठिन बात है । दूर क्यों जाएँ, अभी कुछ समय पूर्व बहुत बड़ी धूमधाम के साथ सम्मन हुए एक साधु सम्मेलन की बात है । स्थानकवासी समाज की ही एक साम्प्रदायिक शाखा है 'वर्ध.स्था. जैन श्रमण संघ ।' उक्त श्रमण संघी सन्तों का पूना में एक सम्मेलन हुआ है । मुझे तो कुछ आशा नहीं थी, किन्तु कुछ श्रद्धालु जनों को बहुत लम्बेचौड़े आशा के स्वप्न दिखाई दे रहे थे, कि उक्त सम्मेलन में अपेक्षित, साथ ही विवादग्रस्त अनेक आवश्यक विषयों पर देशकालानुसार खुलकर चर्चा होगी । और, स्वच्छ एवं स्पष्ट निर्णय जनता के समक्ष आएँगे, किन्तु उल्लेखनीय जैसा खास कुछ हुआ नहीं । वही ढाक के तीन पात ।

मैं यहाँ सम्मेलन में पारित अन्य प्रस्तावों की चर्चा एक किनारे छोड़ देता हूँ । किन्तु, महानगरों की सभ्यता में बहुशः चर्चित मल-मूत्र विसर्जन रूप परिष्ठापन समिति का जो प्रस्ताव है, उसी पर कुछ चर्चा कर लेना चाहता हूँ । प्रस्ताव नं. ११ का मूल पाठ है - "पंचमी समिति के विषय में साधु-साध्वीजी स्वविवेक से अधिकाधिक निर्दोष स्थिति का अनुकरण करें अशोभन अवज्ञा का रूप भी न हो, इस विषय में परस्पर निंदा-विकथा भी न करें । "

पाठक देख सकते हैं कि उक्त प्रस्ताव किस तरह गोल-माल की भाषा में पारित किया गया है । इस पर स्पष्ट ही माया का, दम्भ का सघन आवरण है । इस प्रस्ताव का न कोई शब्दार्थ है और न पदार्थ, वाक्यार्थ एवं भावार्थ । उक्त प्रस्ताव में अन्तर्निहित गूढार्थ रहस्य को उद्घाटित करने के लिए

(४६६)

कौन है, जो निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका या टब्बा आदि का निर्माण करने का प्रयास करेगा? प्रस्ताव में स्व-विवेक शब्द का प्रयोग किया गया है। यह स्व-विवेक क्या है? जो अन्य किसी प्रस्ताव के लिए अपेक्षित नहीं, किन्तु इसी प्रस्ताव में अपेक्षित समझा गया है। कुछ महानुभावों ने कहा है—स्व-विवेक का अर्थ है, जहाँ-कहीं आवश्यक हो, तो वहाँ फ्लश आदि आधुनिक शौच-साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। यदि यही अर्थ है, तो स्पष्ट ही क्यों न लिख दिया गया कि यथाप्रसंग फ्लश आदि का भी उपयोग किया जा सकता है। यदि यह अर्थ नहीं है, तो अब फिर से स्पष्ट कर देना चाहिए कि इस 'स्व-विवेक' का क्या अर्थ है? सामान्यतः तो साधक के लिए सर्वत्र ही स्व-विवेक अपेक्षित है। फिर यहाँ विशिष्ट रूप से स्व-विवेक अपेक्षित है। फिर यहाँ विशिष्ट रूप से स्व-विवेक का उल्लेख क्या गूढार्थ रखता है? स्पष्ट है कुछ अन्य अर्थ नहीं है, जनता को केवल शब्दों के भ्रम-जाल में उलझाए रखने के सिवा। महाभारत-काल का- 'नरो वा कुंजरो वा' अब भी चला रहा है। किन्तु, खेद तो इस बात का है, ये सत्य के पक्षधर साधकों की पवित्र भाषा में चल रहा है। यह सब है, माया महाठगनी का भ्रमजाल।

मैं ऐसा कुछ नहीं लिखना चाहता था, किन्तु मुझे लगा कि सैकड़ों साधु और साध्वियों के यहाँ भी क्यों यह माया महाठगनी की ठग विद्या चल रही है? शब्द कठोर है, क्षमा-याचना कर लेता हूँ।

किन्तु, चाहता हूँ, सत्य की प्रतिष्ठा के लिए हम सबको नटकला की नाटकीयता से शीघ्राति-शीघ्र मुक्त हो जाना चाहिए। आज का युग यही अपेक्षा रखता है। सत्य को भ्रामक शब्दों के आवरण में छुपाए रखने का समय समाप्त हो चुका है। यह हम जितना जल्दी समझेंगे, उतना ही ठीक होगा।

सितम्बर - १९८७

सेवापहाणो हि मणुस्स धम्मो :

वर्तमान दुःस्थिति में हमारा कर्तव्य

मानव, प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए अनादि-काल से संघर्ष करता आ रहा है। इस विजय-यात्रा में उसे कुछ सफलताएँ भी प्राप्त हुई हैं। और, उस पर उसके अन्तर्मन में, मिथ्या अहंकार का स्वर भी अनुगुंजित होने लगा है, किन्तु यथार्थ दृष्टि से देखा जाए, तो प्रकृति के रहस्यों को सही रूप से समझने में अब भी वह अक्षम है एवं पंगु स्थिति में है। विजय की बात तो अभी बहुत दूर है।

मनुष्य ने अपने बौद्धिक बल से पाताल में समुद्रों की अतल कही जाने वाली गहराइयों को भी नाप लिया है। और ऊपर आकाश में देवलोक के रूप में विख्यात चन्द्रलोक पर भी विचरण करने लगा है। पौराणिक आख्यानों को इस तरह काफ़ी उलट-पुलट दिया है उसने। यह सब - कुछ हुआ है और आगे भी हो रहा है, फिर भी जब प्रकृति के क्रूर प्रहार मानव पर सहसा आ पड़ते हैं, तो वह हक्का-बक्का रह जाता है, बेसहारा और लाचार, हीन और दीन।

वर्तमान वर्ष के वर्षाकाल में मनुष्य की जो बदतर हालत हुई है, वह हुई है प्रकृति के रहस्यमय प्रहारों से। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र, मद्रास, कर्नाटक, म. प्रदेश आदि अनेक जन-पदों में इतना सूखा पड़ा है कि पानी की कुछ बूंदें तक वर्षा के रूप में उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। गाँवों के जलाधार कूप और तालाब भी सूख गए हैं। यहाँ तक की कल-कल नाद करती बहने वाली कितनी ही नदियाँ भी शुष्क बालुका मात्र शेष रह गई हैं। यहाँ तक की मनुष्य को भी पीने तक के लिए पानी उपलब्ध नहीं है और मूक पशुओं के लिए न कहीं घास-चारा है और न पानी। सब ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है। इस भयंकर दुःखद स्थिति से मुक्ति पाने के लिए कभी आकाशीय देवों की ओर आँखें जाती हैं और कभी सरकार तथा समाज-सेवी संस्थाओं पर। सहायता कार्य चल

(४६८)

भी रहे हैं, परन्तु उक्त अभाव को धकेलने के लिए जब तक प्रकृति का पूरी तरह सहयोग न मिले, तब तक मनुष्य का अभीष्ट पूर्ण होना अशक्य है ।

यह तो हुआ जलाभाव का एक पक्ष । दूसरी ओर बिहार, बंगाल एवं असम आदि पूर्वांचल के अनेक जन-पद जल-प्रलय से ग्रस्त हैं, त्रस्त हैं । इतना मूसलधार पानी पड़ा है कि नदियों ने बाढ़ के रूप में वह उग्र रूप धारण कर लिया कि कुछ कहा नहीं जा सकता । अनेक गाँव जल-प्रवाह में बह गए। हजारों मकान ध्वस्त हो गए हैं, करोड़ों रुपए की खड़ी फसल पानी में डूब कर सड़-गल गई है । जान-माल की क्षति भी भयंकर हुई है । सैकड़ों ही मनुष्यों और पशुओं के अस्तित्व तक का पता नहीं चल पा रहा है कि उनका क्या हुआ? इसी बीच कुछ भाग्य से बचे हुए लोगों में व्याधियाँ फूट पड़ी हैं । जहाँ भूख की समस्या के हल के लिए अन्न का ही अभाव हो, वहाँ रोगों की चिकित्सा का प्रश्न ही कहाँ शेष रह जाता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि राजतन्त्र कुछ कर नहीं रहा है तथा समाज-सेवी संस्थाएँ यह सब-कुछ देखते हुए भी आँखें बन्द किए बैठी हैं, परन्तु, संगठनों की कुछ सीमाएँ भी होती हैं, साथ ही निष्ठा के साथ काम करने की अपेक्षाएँ भी ।

वैज्ञानिक दिव्य - दृष्टि के धनी मनीषी महानुभाव भविष्य में क्या समाधान कर सकेंगे, इन प्रकृति-प्रकोपों का? यह तो आने वाला भविष्य ही बताएगा । समस्या वर्तमान की है । मैं चाहता हूँ, चाहता ही नहीं, तन-मन के कण-कण से अपेक्षा रखता हूँ, कि भारतीय जनता की समग्र कर्म-चेतना पूर्ण निष्ठा के साथ जन-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो । खण्ड दृष्टि में नहीं, अखण्ड दृष्टि में समाधान है । भारत का, भारत के मनीषियों का, भारत के गुरुजनों का, चिर-काल से यह दिव्य-घोष अनुगुंजित होता आ रहा है- “एक व्यक्ति का दुःख-सुख उस एक व्यक्ति का ही नहीं, किन्तु हम सबका है । हर आत्मा सुख-दुःखानुभूति का एक समान केन्द्र है । अतः अपने समान ही सबको समझना ही—जिसे धर्म कहते हैं, वह धर्म है और कुछ नहीं । अहिंसा भगवती की उपासना तथाकथित दया और करुणा के प्रचलित शब्दों में ही नहीं, अपितु उन्हें कार्यान्वित करने में है । यह समय है कि हम सबके मन की करुणा एक साथ जागृत हो, इसके सम्बन्ध में आर्हत परम्परा के एक महामनीषी ने कहा था -

“दया धम्मो, दया धम्मो, दया धम्मो, दया - दया”

(४६९)

यदि मनुष्य के मन में करुणा है, दया है, तो धर्म है, अन्यथा क्रिया-काण्ड आदि के रूप में यत्र-तत्र एवं यदवा-तदवा कुछ भी किया जाता हो, तो वह धर्म नहीं है। अतः धर्म, पंथ, जाति, कुल और भौगोलिक भेदों की खण्ड रेखाओं से ऊपर उठ कर हम सबको अखण्ड रूप से विपदग्रस्त प्रजाका मंगल-कल्याण करना है। यह हमारा धर्म है, कर्तव्य है, कर्म है और है हमारी मानवता का आदर्श। इसके अभाव में मनुष्यों और पशुओं में क्या अन्तर रह जाता है?

वर्तमान जन-जीवन की स्थिति का तकाजा है कि हमारे धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्सवों पर जो अनर्गल, अर्थहीन धन-व्यय हो रहा है, उसका कण-कण बचाकर सूखा और बाढ़ दोनों ही दुःस्थितियों के दुष्प्रभाव से जन-जीवन को मुक्त करने के लिए अपने प्राप्त साधनों का उपयोग किया जाए। अनेक सहस्र लोगों के रोते हुए, कुछ लोगों का हँसना, नाचना, कूदना एवं किन्हीं धार्मिक या सामाजिक उत्सवों के रूप में खुल कर मिष्टान उडाना, पाप नहीं तो और क्या है? यदि समय पर स्थिति को नहीं संभाला गया, तो शासन-तन्त्र के द्वारा कितना ही बीच-बचाव किया जाए, अभावग्रस्त प्रजा में लूट-मार, हत्या आदि के दुष्क्र का प्रसार हुए बिना न रह सकेगा-“बुभुक्षितः किं न करोति पापम्” हमारी चिरन्तन उक्ति न कभी असत्य हुई है, और न कभी असत्य होगी।

श्रमण भगवान महावीर ने इसी सम्बन्ध में कहा था - “आहारदृठिया पाण्णा” अर्थात् प्राणी के प्राण आहार पर स्थित है। और आप जानते हैं कि प्राणों की रक्षा के लिए प्राणी कुछ भी कर्म-विकर्म-दुष्कर्म कर सकता है। यही हेतु है कि हमारे पूर्वज करुणामूर्ति ऋषियों, मुनियों ने दया-धर्म का उपदेश दिया है- “दया धर्म का मूल है।” यह सन्त-वाणी शत-प्रतिशत सत्य पर आधारित है। दया, मानवता का अन्तःप्राण है। उसकी यह दिव्य-ध्वनि है कि मानव तुम्हें जो कुछ प्राप्त है, उसका इधर-उधर अपेक्षित दिशा में प्रथम उपयोग करके तदनन्तर स्वयं उपभोग करो। यजुर्वेद का मन्त्र है-“त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा” अर्थात् त्याग-पूर्वक उपभोग करना चाहिए। तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर ने कहा था-“असंविभागी न हु तस्स मोक्खो” अर्थात् जो अपने आस-पास के साथियों में अपने प्राप्त साधनों का समविभाग अर्थात् उचित वितरण नहीं करता है, वह भव-बन्धन से कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान महावीर ने तो इससे आगे बढ़कर यहाँ तक कहा है - मेरी उपासना से बढ़ कर भी सर्वाधिक मंगलमय

उपासना अर्थात् धर्म-साधना जन-सेवा है। वही व्यक्ति धन्य है, जो पीड़ितों की सेवा करता है -

“जे गिलाणंपडियरइ से धन्ने।”

कर्म-योगी भगवान कृष्ण का गीता में उद्घोष है, कि जो दूसरे जरूरत मन्दों को न खिलाकर स्वयं ही सब-कुछ खा जाते हैं, वे व्यक्ति भोजन नहीं खाते, अपितु पाप ही खाते हैं -

“भुञ्जते ते त्वघं पापा”

प्रस्तुत प्रसंग में भारतीय इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण स्वर्णिम उदाहरण हैं, जो स्वार्थ का परित्याग कर परमार्थ रूप पदार्थ का अर्थात् परोपकार का समुद्घोष करते हैं।

भगवान महावीर के महान शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम १५०० के लगभग तापस-परम्परा के कण्ठगत प्राण भूखे साधकों को अपने योगबल से भोजन कराते हैं, जबकि शास्त्र में साधक के द्वारा चमत्कारों का प्रयोग एवं प्रदर्शन करना निषिद्ध है। इसका अर्थ है - अन्ततः करुणा ही सर्वोपरि धर्म है।

प्राचीन गुर्जर प्रदेश के जावड़ शाह और पेथड शाह जैसे श्रीमंत जैन श्रावकों ने अपने धन तथा अन्न के विशाल भंडार मुक्त भाव से दुर्भिक्ष जनता के हितार्थ अर्पित कर दिए थे, और ऐश्वर्य के सुमेरु से नीचे उतर कर खुली धरती पर आ गए थे। फिर भी उनके इस पुण्य प्रयोग के अन्तर्मन के आनन्द की कोई सीमा न थी।

भारतीय इतिहास में राजा रंतिदेव देवात्मा पुरुष हैं। दुर्भिक्ष के समय क्षुधा से पीड़ित जिन्हें अनेक सप्ताहों के अनन्तर कुछ भोजन मिलता है और वे उस भोजन को दयार्द्र भाव से चाण्डाल जैसे अन्य बुभुक्षितों को सहर्ष अर्पण कर देते हैं उस समय का उनका यह अमृत स्वरूप अन्न दान आज भी जीवन्त है। उन्होंने तब सहर्ष कहा था।

(४७१)

“न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं, ना पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिं नाशनम् ॥”

भावार्थ है - न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग, न मोक्ष । मैं केवल प्राणियों की पीडा को दूर करने की ही कामना करता हूँ ।

धर्म पुत्र युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ है । उसमें अर्घ्य स्वर्ण कान्तिवाला शरीर लिए एक नकुल आता है । वह शरीर की इस स्वर्ण कान्ति का रहस्य निर्दिष्ट करता है - “अकाल के कारण कई दिनों के भूखे एक ब्राह्मण परिवार को कुछ भोजन मिलता है और वह समग्र परिवार करुणा से द्रवित होकर अन्य क्षुधाक्रान्त लोगों को वह अपना समग्र भोजन सहर्ष अर्पित कर देते हैं। उस पुण्य गृह में भ्रमण करने से ही मेरा यह नीचे का अर्घ्य शरीर स्वर्णकान्ति से युक्त हुआ है।” संक्षेपतः उल्लिखित उक्त कथा का सार यही है कि अभाव प्रस्ती की प्राण-पण से सेवा करना ही महान पुण्य है और महान धर्म है ।

साधना के पथ पर निरन्तर अग्रसर रहने वाले सन्तों ने कहा है कि भूख से अधिक भयंकर दूसरी कोई पीड़ा नहीं है । जैनाचार्यों की वाणी है - “खुहासमा वेयणा नत्थि।” सन्त कबीर ने भी क्षुधा को भजन में भंग डालने वाली कुत्तिया बताया-

“कबीरा खुदाह कूकरी, करत भजन में भंग”

साक्षियों की कोई सीमा नहीं है । सबसे महान एवं प्रामाणिक साक्षी तो क्षुधा के सम्बन्ध में मनुष्य की अपनी अनुभूति ही है । अतः आवश्यक है कि हम वर्तमान में बाढ़ तथा सूखा-ग्रस्त अपने बन्धुओं की वेदना को समझें और उसके निवारण के लिए अपनी पूरी निष्ठा के साथ अपनी जन-धन की शक्ति का सदुपयोग करें, ताकि भविष्य का इतिहासकार यह न रेखांकित कर सके कि परमोत्कृष्ट उदात्त भारतीय-संस्कृति के उत्तराधिकारी भारतवासी जन अपने क्षुद्र स्वार्थों में ही लिप्त रहे, अपने संकट-ग्रस्त बन्धुजनों के हितार्थ कुछ भी नहीं कर सके । सावधान ! समय पर कर्तव्य-हीनता एक महान पाप है, एक भयंकर मृत्यु है । प्राचीन काल से यशस्वी लोगों का यों ही प्रमादवश तथा स्वार्थान्धता के कारण अयशस्वी हो जाना, मृत्यु से भी बढ़ कर है । श्री कृष्ण ठीक ही कहते हैं।

(४७२)

“ संभावितस्य चाकीर्तिर्, मरणादतिरिच्यते ।”

अधिक विस्तार में कहाँ तक जाऊँ ? प्रसंगोचित, जो कहना था, वह काफी कह दिया गया है । बुद्धिमान पाठकों को मालूम होना चाहिए कि मैं वृद्धावस्था में हूँ और साथ ही अस्वस्थता की स्थिति में भी । अतः यह प्रस्तुत लेख काष्ठ शय्या (तख्त) पर लेटे हुए लिख रहा हूँ । इस पर से समझा जा सकता है कि मेरे हृदय की पीड़ा किस सीमा तक है । अतः अन्त में मेरा यही विनम्र भाव से कहना है कि यह दुःखद समय आपकी मानवता की परीक्षा का समय है । आपके धर्म और दर्शनों की यथार्थता के प्रति एक स्पष्ट चुनौति है । मनुष्य का साम्प्रदायिक रूप से कोई भी धर्म हो सकता है, किन्तु मूल धर्म मानवता है और वह है उदात्त एवं उदार जनकल्याण रूप भावना की ज्योति में प्रकाशमान सेवा-धर्म । प्राकृत वाङ्मय की इस समुज्ज्वल सूक्ति को बराबर स्मृति में रखिए—

“ सेवा पहाणो हि मनुस्स धम्मो ”
—मनुष्य का धर्म सेवा प्रधान है ।

अक्टूबर १९८७

भारतीय संस्कृति का कलंक : सती प्रथा

भारतीय संस्कृति एक अद्वितीय निर्मल एवं धवल संस्कृति है । विश्व-मंगल की दिशा में उसकी उदात्त भावनाएँ विश्व-जगत् में सुप्रसिद्ध हैं । समग्र प्राणि-जगत् को उसने बन्धु भाव से देखने और उसके प्रति सद् व्यवहार करने की एक विशाल दृष्टि दी है । उसका यह उदात्त घोष है— “ बान्धवाः प्राणिनः सर्वे ” इसका परमार्थ है— सभी प्राणी बन्धु जन हैं, स्नेही मित्र जन हैं, उन्हें किसी भी रूप में, किसी भी प्रकार का हानीकारक दुःख एवं कष्ट नहीं दिया जाए । भारतीय धर्म-परम्पराओं में हर आत्मा में अन्ततोगत्वा परमात्म-भाव का ही दर्शन किया है ।

यह सब-कुछ उज्वल है एवं ग्राह्य है । परन्तु, हमारी इस निर्मल संस्कृति पर काल-दोष के कारण लगे हुए कलंक के काले धब्बे भी कुछ कम नहीं हैं । एक ओर समग्र मानव-जाति मनु की संतान कही जाती है । अतः यह एक पारस्परिक पारिवारिक भावना का दिव्य रूप है, किन्तु दूसरी ओर यह भी कलंकित परम्परा रही है कि सेवा कर्म-रत होते हुए भी शूद्र नीच है, अस्पर्श्य है। उसको तो क्या छूना, यदि उसकी छाया तक का स्पर्श हो जाए, तो उच्च वर्णता के अभिमानी अभिजात वर्ग के लोग अपवित्र हो जाते हैं, और उन्हें पुनः शुद्धि के लिए सवस्त्र स्नान करना चाहिए । यह कितनी परस्पर विरुद्ध वचन-भंगावलि है— “ वदतो व्याघात् । ”

देवी-देवताओं की पूजा का विधान भी अनेक विचारहीन धाराओं में बह बहकर इतना दूषित हो गया है कि उसके कथन-श्रवण से हर किसी विचारशील व्यक्ति का मस्तक लज्जा से अवनत हो जाता है । बंगाल में कालीपूजा से सम्बन्धित मूक पशुओं की नृशंस हत्या तो जग जाहिर है ही, किन्तु अन्यत्र भी इसका भयंकर नग्न रूप है । बिहार प्रदेश के मुंगेर खण्ड में एक देवी है,

(४७४)

जिसके समक्ष आषाढ मास के एक निर्धारित दिवस पर सात-आठ हजार निर्दोष छोटे-बड़े, बच्चे, बूढ़े, युवा बकरे एक दिन में काट डाले जाते हैं । बोल बजाकर नाचते-गाते और देवी के स्तुति गीत गाते हजारों स्त्री-पुरुष यह उत्सव मनाते हैं । और यह उत्सव मनाया जाता है, मनु के इस वचन पर कि—

“ यज्ञार्थं पशवः स्रष्टा तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥”

मनुस्मृति, ५, ३९

अर्थात् ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए पशुओं को स्वयं बनाया है । इस कारण यज्ञ में पशु का वध, वध नहीं है । वह अधर्म नहीं, धर्म है । इस प्रसंग में आगे चलकर यज्ञ में पशु को मारने वाला व्यक्ति और मरने वाला पशु दोनों स्वर्गादि रूप उत्तम गति में जाते हैं, यह दुर्विधान है—

“ आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ” मनुस्मृति, ५, ४२

और भी अनेक बातें हैं, जो अत्यन्त ही हेय हैं । प्रस्तुत प्रसंग में मैं सती प्रथा की चर्चा कर रहा हूँ । जिस नारी के लिए मनु यह कहता है— जहाँ नारी की पूजा एवं प्रतिष्ठा होती है वहाँ देवता क्रीड़ा करते हैं—“ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ।” वहाँ दूसरी ओर उसे न वेद पढ़ने का अधिकार है, न यज्ञोपवीत का और न अन्य किसी विशिष्ट धर्मानुष्ठान का । इस प्रकार उसे अत्यन्त हीन कोटि में पहुँचा दिया है । विचित्र स्थिति है, पत्नी अर्धांगी मानी गई है । इसका अर्थ हुआ कि ब्राह्मण आदि उत्तम जाति के सज्जनों का अपना आधा अंग पवित्र है, तो आधा अंग अपवित्र है । और उसी अपवित्र अर्धांग से उत्पन्न पुत्र पवित्र होता है और उस अपवित्र आधे अंग द्वारा सम्पादित भोजन को खाकर भी अपने को पवित्र माना जाता है, विचित्र स्थिति है बौद्धिकता की । व्यक्ति उच्च हो या नीच उसके आयु कर्म का अन्तिम परिणाम है । यहाँ सभी भारतीय आस्तिक धर्म एक मत है । किन्तु दुर्भाग्य है नारी का कि युवा अवस्था में पति मर जाए, तो उसे कुलक्षणी, दुष्टा, दुराचरणी आदि दुर्वचनों से सम्बोधित किया जाता है । पत्नी मर जाए, तो पुरुष को कुछ नहीं कहा जा सकता । परन्तु, मृत्यु पर्यन्त उस नारी को जो व्यथा-पीड़ा भोगनी पड़ती है, वह नरक की यातना से कुछ कम नहीं होती । वह जीवित ही एक प्रकार से मृत हो जाती है । किसी भी शुभ कार्य में उसका दर्शन हो जाना अपलक्षण अर्थात् अपशकुन माना जाता

है। जब कि विधुर पुरुष के लिए ऐसा कुछ नहीं है। प्रश्न का समाधान निकट आ रहा है कि नारी क्यों सती हो जाती है, खास कर अभिजात वर्ग की।

समाज में विधवाओं की दुर्दशा देख और सुनकर उसकी मानसिक स्थिति बन जाती है — इस हर क्षण पीड़ा पाने वाले जीवन जीने से तो मर जाना ही अच्छा है और वह अधिकतर इसी भावावेश में पति के साथ अपने प्रिय प्राणों की आहुति दे डालती है। जीवित व्यक्ति का अग्नि प्रवेश भयंकर रोमांचकारी दृश्य है। मैं नहीं समझ पाता कि इस दूर-दृश्य को हजारों लोग अपनी आँखों से कैसे देखते हैं, साथ ही झालर, शंख, ढोल बजाकर आनन्दोत्सव मनाते हैं। यह धर्म का विकृत रूप ही है कि मानव की आँखें रोने की जगह हंसने लगती हैं। वैद्यक्य दशा में नारी का जीवन सेवा के रूप में मानव समाज के लिए तथा धर्मानुष्ठान के द्वारा अपनी पवित्रता के लिए उपयुक्त हो सकता था, वह अकाल में ही काल के गाल में पहुंच जाता है। व्यर्थ ही अन्ध परम्परा का शिकार हो जाता है। धर्म-ग्रन्थों के नाम पर प्रचलित अमानवीय परंपराओं की कोई सीमा नहीं है। धर्मान्ध एवं स्वार्थान्ध पुरुष-जाति ने सती होने के लिए अनेक मन-गढंत रचनाएँ भी की हैं। और उसे सती होने के लिए उत्साहित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। वह भावावेश में आ जाए और अपने को स्वर्ग की देवी बनाने के लिए सहज ही अग्नि में जल कर भस्म हो जाए। इस तरह की धार्मिक उद्घोषणाएँ भी की गई हैं।

पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड) में लिखा है— “पति की मृत्यु यदि कहीं दूर के स्थान में हो जाए और उसका शव न मिले तो पति की किसी वस्तु के साथ जो स्त्री चिता की अग्नि में प्राण-त्याग करती है, वह अपने पति का पाप से उद्धार करती है। और स्वयं भी स्वर्ग में पहुंच जाती है”—

“पतिव्रता च या नारी देशान्तरमृतेपती,
साभर्तुश्चिह्नमानाय वह्नौसुप्त्वा दिवं व्रजेत ॥”

पद्मपुराण, ५४, ७१

स्कन्ध पुराण का कथन तो अत्यन्त विचित्र है। वह अज्ञान एवं अन्ध-परम्परा की दास नारी को मृत पति के साथ जल मरने के लिए भ्रान्त किए बिना कैसे रह सकता है। स्कन्ध पुराण के ब्रह्म खण्ड में कहा है—

(४७६)

“अनुव्रजन्ती भर्त्तरिगृहात पितृवनं मुदा ।

पदे - पदे अश्वमेधस्य फलं प्राप्नीत्य संशयम् ॥”

स्कन्ध पुराण, ब्रह्म खण्ड

— जो नारी अपने मृत पति का अनुसरण करती हुई घर से श्मशान की ओर प्रसन्नता के साथ जाती है, वह पद-पद पर अश्वमेध-यज्ञ का फल प्राप्त करती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

इस प्रकार के धर्म और लोग दोनों ही दृष्टियों से अयुक्त अनेक वचन यत्र-तत्र पुराणों तथा तत्कालीन अन्य साहित्य में भी मिलते हैं । खेद है, मनुष्य, जो बुद्धिमान एवं सामाजिक प्राणी कहा जाता है, परन्तु यहाँ उसकी सर्वोत्तम बुद्धि एवं सर्वोत्तम समाज जंगल में कहाँ घास चरने चले जाते हैं , इस प्रकार के कथनों को आँख बन्द कर धर्म मानने वाला व्यक्ति अपने को मनुष्य भी कैसे कह सकता है ? इस प्रकार के क्रूर कर्म सर्वाधिक जघन्य पशु ही नहीं, दानव ही कर सकते हैं । मैं इस प्रकार के ग्रन्थों को कथमपि धर्म-ग्रन्थ नहीं मान सकता । मैं ही क्यों, कोई भी विचारशील व्यक्ति तटस्थ एवं पक्ष-मुक्त दृष्टि से विचार करे, तो वह स्पष्ट ही मेरे जैसे विचार-पक्ष के लोगों की पंक्ति में सत्साहस के साथ आ खड़ा होगा ।

आवश्यक है कि इस प्रकार के पौराणिक साहित्य में से जो अंश न्यायोचित नहीं हैं, सामाजिकता एवं धर्म की भावनाओं से शून्य हैं, उन्हें पदच्युत अर्थात् अमान्य कर दिया जाए । और जो अंश मानव-जीवन के मंगल, कल्याण एवं उत्थान के साधन हैं, उनकी प्राणपण से रक्षा की जाए । यह कोई नई बात नहीं है । मनु-स्मृति के तृतीय अध्याय में जो श्राद्ध का वर्णन है, उसमें ब्राह्मण के लिए मछली, बकरा, हिरण और भैंसे आदि के मांस का भोजन विहित है । किन्तु वैष्णव-समाज ने उसे अमान्य कर दिया तो यह वैचारिक-क्रान्ति आज हमारे लिए गौरव की चीज है ।

और तो और, कर्मयोगी भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद् गीता में प्रकृति परायण वेदों को भी अपदस्थ किया है । अर्जुन से वे स्पष्टतः कहते हैं— वेदों का विषय त्रैगुण्य अर्थात् भोगात्मक कामना प्रधान है । अतः तुम निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणातीत निष्काम एवं निर्द्वन्द्व बनो—

“ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥ ” गीता, २, ४५

(४७७)

जब महान पूज्यतम शास्त्र कहे जाने वाले वेदों तक के संबंध में श्री कृष्ण की इस प्रकार निषेधोक्ति है, तब अन्य अमानवीय एवं यातनाओं से पूर्ण क्रिया-काण्डों की भ्रान्त कथाओं से युक्त तथा कथित साहित्य को धर्म-क्षेत्र में से अपदस्थ करने की बात तो स्वयं सिद्ध हो जाती है। यह मैं केवल पक्षपातवश पुराण आदि के साहित्य के सम्बन्ध में ही नहीं कहता, अपितु शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख, मुसलमान, ईसाई आदि के प्रचलित धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कहता हूँ। जहाँ जो भी वर्णन एवं विधान असामाजिक एवं अमानवीय है, उसे साहस के साथ अमान्य करना ही चाहिए।

यह भ्रान्त धारणा है कि इस प्रकार अग्नि-दाह के द्वारा प्राणान्त करने वाली नारी अगले जन्म में अपने मृतपति के पास स्वर्ग में पहुँच जाएगी। प्रत्येक प्राणी के कर्म भिन्न भिन्न होते हैं और उसके अनुरूप ही अगले जन्म की गति होती है। अतः श्रमण संस्कृति के महान् देव पुरुष श्रमण भगवान् महावीर इस प्रकार के मरण को बाल-मरण अर्थात् अज्ञान मरण कहते हैं। बालमरण पुण्य का हेतु नहीं, पाप का ही हेतु होता है। इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन का उपसंहार द्रष्टव्य है—

“ सत्यग्गहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलप्पवेसो य ।

अणायार-भण्डसेवा, जम्मण-मरणाणि बन्धन्ति ॥”

उत्तराध्ययन, ३६, २६७

इतिहास साक्षी है कि भगवान् महावीर की उपासिकाओं में से किसी ने भी अपने मृतपति के साथ अग्नि प्रवेश नहीं किया है। मगध नरेश श्रेणिक-बिम्बसार की रानियाँ, वत्स नरेश उदयन की माता मृगावती आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे वैधव्य स्थिति में अनेक वर्षों तक गृह जीवन में रही हैं और पश्चात् प्रभुचरणों में दीक्षित हो गई हैं।

प्रस्तुत चर्चा इसलिए प्रचारित हो गई है कि राजस्थान में सीकर के पास एक गाँव दिवराला की क्षत्रिय वधू रूपकुँवर अपने नव विवाहित मृत पति के साथ अग्नि दाह के द्वारा सती हो गई है या कर दी गई है। यह १८-१९ वर्ष की मासूम लड़की है। उसे धर्म-शास्त्रों का क्या ज्ञान है? वह तो स्पष्ट ही भावावेश मूलक रागान्धता की अथवा आस-पास के परम्परा की मूढ़ता से ग्रस्त

लोगों द्वारा की जाने वाली सतीत्व महिमा से सम्बन्धित उत्तेजित चर्चाओं की व्यर्थ ही शिकार हो गई । वह देवी बन गई है इसका क्या प्रमाण है ? यदि वह देवी बनी है, तो उसे पता होना चाहिए कि उसकी मृत्यु को लेकर भारत की जनता में कितना अधिक परस्पर विरुद्ध भीषण वैचारिक द्वन्द्व हो रहा है? परिवार के प्रिय जन कारागार में किस प्रकार पीड़ा पा रहे हैं ? वह देवी है, तो क्यों मौन है? उसे साक्षात् देवी के रूप में अघर आकाश में खड़े होकर यत्र-तत्र दैवी घोषणा कर देनी चाहिए कि मैं रूपकुँवर अब देवी हूँ, अपने पति के साथ हूँ सती प्रथा अनुचित नहीं अपितु उचित है । सती प्रथा के समर्थक सब लोग निर्दोष हैं आदि आदि । यदि ऐसा हो जाए तो सब द्वन्द्व तत्काल समाप्त हो सकते हैं । किन्तु, ऐसा कुछ न कभी हुआ है और न होने वाला ही है । समाज को तथाकथित शास्त्र-बद्धता एवं परम्परा से मुक्त होकर तटस्थ भाव से प्रस्तुत में अपने बौद्धिक चिन्तन का ही अवलम्बन करना चाहिए ।

मेरा समग्र समाज से ही आग्रह है कि वह अपनी मानवीय चेतना के चिन्तन को यों ही कदाग्रहों के हवाले न करे । विशेषतः ब्राह्मण समाज से एवं क्षत्रिय समाज से निवेदन है कि वह अपने अतीत के गौरव को स्मृति में लाएँ । ब्राह्मण समाज बौद्धिक चेतना का पक्षधर रहा है । उसे नहीं भूलना चाहिए कि उसके पूर्वजों में से अनेक प्रबुद्ध महापुरुषों ने अनेक बार अज्ञानता की अँधेरी गलियों में से जनता को निकालकर प्रकाश का पथ दिखाया है । क्षत्रिय जाति भी भारत की महान जाति है । क्षत्रिय शब्द का मूल अर्थ ही है— जनता को पीड़ा से मुक्त करना—

“क्षतात् किलत्रायत् इत्युदग्रह क्षत्रस्थ शब्दः भुवनेषु रूढः।”

उच्च ब्राह्मण जातीय महाकवि कालिदास की यह स्पष्टोक्ति है आप क्षत्रियों के लिए । आप क्षत्रिय ही थे, जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा कर्मयोगी श्रीकृष्ण के रूप में नारी जाति के गौरव की रक्षा की है । आप ही वे क्षत्रिय हैं, जिन्होंने जिनेंद्र महावीर एवं तथागत बुद्ध के रूप में नारी जाति को सभी प्रकार की अमानवीय दासता से मुक्त किया है और उसे उच्च-से-उच्चतर गरिमा के पद पर प्रतिष्ठित किया है । अतः आप सबका कर्तव्य है कि वर्तमान प्रश्न को भी उसी अपने पुरातन महापुरुषों के दर्शन का चिन्तन-मनन कर, वर्तमान में अपने परम्परागत दुराग्रहों से मुक्त होकर सदाग्रह का पक्ष लें ।

(४७९)

भारत सरकार तथा भारतीय समग्र जन-समाज से भी मेरा यही कहना है कि विवेक मूलक विचार-धारा के द्वारा सर्व-साधारण जनता को अंध-विश्वासों से मुक्त किया जाए । सत्तापक्ष हो या प्रतिपक्ष — सभी का कर्तव्य है कि वह कुर्सी की अंधी लड़ाई छोड़कर भारतीय जन-चेतना को धार्मिक-सामाजिक आदि सभी प्रकार के अंध-विश्वासों एवं रूढ़िवादों से मुक्त करने की दिशा में सक्षम कदम उठाएँ । सभी प्रकार के भ्रष्टाचारों का मूल अंधविश्वास है । भले ही वह किसी भी रूप में हो । जब तक अंधविश्वास का यह सधन होता हुआ काला अँधेरा दूर न होगा, तब तक सही स्वतन्त्रता एवं कल्याणकारी न्याय की स्थापना न होगी तथा अन्याय एवं भ्रष्टाचार का उन्मूलन कथमपि संभव नहीं है । अज्ञान सब पापों की जड़ है । श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में ठीक ही कहा है—

“अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ”

भगवद् गीता, ५, १५

अज्ञान से जब ज्ञान आच्छादित हो जाता है, तो व्यक्ति व्यामोह ग्रस्त हो जाते हैं ।

श्रमण भगवान महावीर भी कहते हैं—

“अन्नापी किं काही, किंवा नाही सेय-पावगं” दशवैकालिक, ४, १०

अज्ञानी व्यक्ति क्या कर पाएगा ? उसे श्रेय तथा अश्रेय का अर्थात् पुण्य और पाप-कर्म का किस प्रकार समुचित एवं यथार्थ परिबोध हो सकेगा ?

मैंने यह लेख शारीरिक अस्वस्थता के क्षणों में लिखाया है । मेरी अन्तर्वेदना ने मुझे बाधित कर दिया कि कुछ भी हो अन्तर्मन के अपने स्पष्ट उद्गार व्यक्त कर ही दूँ । यह चर्चा वर्तमान काल की एक रूपकुंवर के अग्नि दाह से ही सम्बन्धित नहीं है, युग-युग से लाखों रूपकुंवर जैसी नारियाँ जीवित ही अग्नि में जलकर भस्म होती आई हैं । भगवान जाने यह पवित्र धर्म-परम्परा के नाम पर अंधविश्वास की जघन्य परम्परा कब अपना अन्तिम किनारा लेगी । सच्चिदानन्द परम चैतन्य भगवत् तत्त्व के श्रीचरणों में अभ्यर्थना है कि मानव-जाति को यथोचित सन्मति प्राप्त हो और वह शीघ्र ही नारी के जीवित अग्नि-दाह की अमानवीय परम्परा सती प्रथा और उसके जैसे अन्य अनेक अंध-विश्वासों से परिमुक्त हो ।

नवम्बर १९८७

(४८०)

समागत नव वर्ष : स्वागतम्

पुराना वर्ष जीर्ण-शीर्ण होकर चला गया है, महाकाल के प्रवाह में । १९८७ का एक समय का जीवन्त वर्ष अब पूर्णतया मृत होकर सदा-सर्वदा के लिए बह गया है । अब वह कदापि लौटकर नहीं आनेवाला है ।

महाप्रभु भगवान महावीर ने कहा था इसी सन्दर्भ में—
“ जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ”

—जो दिन-रात जीत चुके हैं, वे बीत ही चुके हैं, फिर वापस लौटकर नहीं आनेवाले हैं । अब तो नया वर्ष जन्म ले चुका है । इसके महान अस्तित्व में तुम्हें जीना है । अतः इस नए वर्ष में जीवन के लिए पुरातन का मोह छोड़ देना है । विगत के वर्ष के, जो उदात्त प्रेरणाप्रद वर्तमान एवं भविष्य के लिए उपयोगी अनुभव जीवित रह गए हैं, उनको तो स्वागत-गान के साथ नए वर्ष के नए जीवन में संमिश्रित कर दो, पूर्णतया मिला दो, एकमेक कर दो । नए के साथ ये भी नए ही रहेंगे, और नव-जीवन के निर्माण के लिए काम आएँगे ।

यह संसार है । संसार अर्थात् संसरणशील, निरन्तर गतिशील । यहाँ खड़ा नहीं रहा जा सकता । अपनी चेतना को, या तो आगे बढ़ाना होगा, या पीछे लौटाना होगा । लौटाने का कुछ अर्थ नहीं है । मृत-क्षणों के साथ पड़े रहने में क्या प्राप्त होनेवाला है ।

जानते हो, शूरवीर और कायर-इन दोनों में क्या अन्तर होता है ? जीवन के अभिनव संग्राम में शूरवीर का कदम अपराजित हुंकार के साथ भविष्य की ओर आगे बढ़ना है और कायर का कदम निराशा के हाहाकार के साथ पीछे की ओर लौटना है । बस, इस आगे-पीछे के एक कदम से ही वीर और कायर की परीक्षा हो जाती है ।

प्रश्न है, तुम्हें क्या होना है ? जीवन-संग्राम की उक्त परीक्षा में तुम्हें वीर बनना है या कायर । कुछ भी हो पुरातनता के प्रति सर्वथा और सर्वदा के लिए समर्पित हो जाना कायरता है, और कायर कभी भी जीवन संग्राम में विजेता नहीं हो सकता । किसी भी रूप में नव-निर्माण की जीवन्त प्रक्रिया में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । जीवन का वर्तमान क्षण ही वस्तुतः जीवन्त होकर भविष्य के समुज्ज्वल क्षणों के प्रति शुभाशंसा एवं शुभाशा का जीवन्त संदेश देता है ।

संसार में अन्य भी अनेक प्राणी हैं । पशु पक्षी, जलचर, स्थलचर, खेचर आदि । उनके समक्ष इस प्रकार से मानवीय जीवन के जैसे उदात्त लक्ष्य न कभी रहे हैं और न कभी रहेंगे । उनका वर्तमान बहुत छोटा-सा है । केवल देह की सीमा तक ही उनकी चिन्तन-यात्रा है । इससे आगे उनके जीवन में समाज, राष्ट्र आदि के कोई भी स्वर्णिम स्वप्न नहीं हैं । परन्तु तुम तो मनुष्य हो, मनुज हो । मनुज अर्थात् चिन्तन के पुत्र । अतः तुम्हारा चिन्तन नित्य-निरन्तर समुज्ज्वल रहना चाहिए । उस पर अतीत की गंदी धूल पड़ी रहे, यह कोई अच्छी बात नहीं है । धूलि-धूसरित चिंतन बाहर की आँखों को ही नहीं, अन्तर की आँखों को भी वर्तमान और भविष्य का सही दर्शन नहीं करा सकता । जब पथ ही ठीक तरह से नहीं दिखाई दे, तब यात्रा का क्या अर्थ रह जाता है ? लक्ष्य की ओर गति स्वच्छ चिन्तन के प्रकाश में ही हो सकती है । और, आप जानते हैं, गति ही जीवन है, स्थिति ही मृत्यु है । गतिहीन होकर स्थिर हुए कि मरे, मृत हो गए ।

एक रूपक है । पथ पर यात्रियों की सघन भीड़ चल रही है । कुछ लोग आपके आगे हैं, तो कुछ पीछे । आपके आगे के ल । खड़े हो जाएँ या मरे-मरे सुस्त कदमों से चलें, तो क्या होता है ? पीछे के लोगों का धक्का आपको लगता है । और, आप आगे के खड़े और सुस्त कदम के लोगों को धक्का देते हुए कहते हैं, ' अरे यार ! या तो आगे बढ़ो या एक ओर खड़े हो जाओ । हमें आगे बढ़ने दोगे, कि नहीं । ' ऐसा होता है न ? खड़े नहीं रह सकते, या तो आगे बढ़ें या एक ओर खड़े हो जाएँ । यात्रा पथ के बीच में खड़ा नहीं हुआ जा सकता है । जो खड़े रहने का प्रयत्न करते हैं, वे मूर्ख हैं । उन्हें दूसरे साथी अन्ततः पथ से अलग एक किनारे की ओर धकेल ही देंगे । धक्के खाना ही

उनके जीवन के भाग्य में बदा है, जो गतिहीन होकर यूँ ही जड़-मूढ़ से बने अड़ियल पशु की तरह खड़े रहते हैं । किं अधिक ! नव वर्ष का सूत्र है—

नया मन, नई वाणी और नए कर्म का नया स्वप्न लेकर नवनिर्माण की दिशा में अग्रसर होना । आप जितने अधिक अग्रसर होंगे, उतने ही अधिक सम्मान के शिखरों को स्पर्श करेंगे । नेता का अर्थ ही है — नयन करना अर्थात् स्पष्ट चिन्तन एवं साहस के साथ स्वयं आगे बढ़ना और अपने पृष्ठ के अनुयायी-जनों के हेतु चिन्तन, मनन एवं कर्म का जन-मंगल रूप पथ प्रशस्त करना । भीषण वन-भूमि का गजराज अपने गज-यूथ के पीछे नहीं, आगे रहता है । नेतृत्व पीछे रहने में नहीं, आगे रहने में है । मैं यह नहीं कहता कि सभी नेता हो सकते हैं । किन्तु, यदि आपमें शक्ति है, सामर्थ्य है एवं नेता होने की जीवन्त क्षमता है, तो आप नेता क्यों नहीं होते ? शक्ति के होते हुए उसका समय पर उचित प्रयोग एवं उपयोग न करना, यह भी एक प्रकार का पाप है— सामाजिक अपराध है । पूरी शक्ति के साथ इस अपराध से बचने की चेष्टा कीजिए और आगे बढ़िए ।

प्रस्तुत चिन्तन को मैं और अधिक गति देने के लिए अपने अप्रतिम ज्ञानी महापुरुषों, महान प्रबुद्ध आचार्यों एवं अन्य मनीषियों के कुछ भव्य चिन्तन सूत्रों को यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ, इसलिए कि आप जैसे जिज्ञासु पाठकों को तो उनसे नवातिनव प्रेरणा मिले ही, साथ ही आपके अन्य साथियों को भी विचार-चर्चा के प्रसंग में निर्बल एवं मन्दगति सुस्तमन, वाणी और कर्म को भी उत्तरंगित करने वाली नव-प्रेरणा प्राप्त हो सके । जीवन के युगानुरूप वे नित्य नए स्वप्न देखें और उन्हें अपनी सर्वातिशायिनी जागृत शक्ति के द्वारा कर्म का रूप दें । जीवन की सर्वोत्कृष्ट महत्ता का वह ही महान क्षण होता है— जब मनुष्य जागृत स्थिति में नवनिर्माण के नित्य नए स्वर्णिम स्वप्न देखता है । और, इससे भी अधिक महतोमहीयान् वह शुभावसर होता है, जब मनुष्य अपने दृष्ट स्वप्नों को यथोचित कर्म का आश्चर्यकारी दिव्य स्वरूप देता है । उपस्थित किए जाने वाले चिन्तन सूत्र उक्त ज्योतिर्मय जीवन निर्माण के अमोघ सूत्र हैं, सूत्र क्या, अमोघ मन्त्र हैं ।

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे ।

—अपने प्राप्त वर्तमान समय का यथोचित उपयोग करते रहिए ।

कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

(४८३)

—काल की प्रतिलेखना से अर्थात् समयोचित कार्य-क्रमों का विवेकपूर्वक ध्यान रखने से कर्तव्य-मूढता आदि अज्ञानता सहज ही समाप्त हो जाती है ।

काले कालं समायरे

—जो शुभ कार्य जिस समय करना है, उसे उसी निर्धारित समय पर कर लेना चाहिए ।

समयं गोयम ! मा पमायए

—हे गौतम ! क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

अणभिव्कंतं च वयं संपेहाए,

खणं जाणाहि पंडिए ।

—जो बीत गया, सो बीत गया । शेष रहे जीवन को लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख, समय का मूल्य समझ ।

— श्रमण भगवान महावीर

अतीत नानुसोचन्ति, नप्पजप्पन्ति नागतं ।

पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति, तेन वण्णो पसीदती ॥

—जो अतीत के सम्बन्ध में शोकाकुल नहीं होते और न भविष्य के प्रति चिन्ता से व्याकुल । जीवन का जो वर्तमान काल है, उसका सही उपयोग करते रहते हैं, वे साधक सदा प्रसन्न चित्त रहते हैं ।

—तथागत बुद्ध

जं कल्ल कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं ।

—जो कोई अच्छा काम कल करना है, वह आज ही कर लेना श्रेष्ठ है।

—बृहत्कल्प भाष्य

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति—

स्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।

तथैति वक्तुं मृतरूढ - गौरवाद्

अहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ॥

(४८४)

—प्राचीन आचार्यों ने जो व्यवस्था-परम्पराएँ निश्चित की हैं, वे विचार एवं विवेक की कसौटी पर क्या समीचीन सिद्ध होती हैं ? यदि समीचीन सिद्ध होती हैं, तो हम उन्हें समीचीनता के नाम पर मान सकते हैं, न कि प्राचीनता के नाम पर । यदि वे समीचीन सिद्ध नहीं होती हैं, तो मैं केवल मृत-पुरुषों के मात्र अर्थहीन गौरव को ढोने के लिए पैदा नहीं हुआ हूँ । मेरी इस सत्यवादिता के कारण यदि कोई मेरे विरोधी बनते हैं, तो बने, मुझको इसकी चिन्ता नहीं ।

—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

गतं गतं नैव पुनर्निवर्तते ।

—चला गया, सो चला गया । वह फिर किसी भी तरह वापस लौट कर नहीं आने वाला है ।

—बौद्धाचार्य अश्वघोष

दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः ।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥

—महर्षि व्यास, महाभारत

— यह संसार दैव और पुरुषार्थ पर प्रतिष्ठित आधारित है । इनमें दैव तभी सफल होता है, जब समय पर उद्योग किया जाए ।

पुराणमित्येव ना साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

—महाकवि कालीदास

— न सब कुछ पुराना अच्छा है और न सब-कुछ नया ही । बुद्धिमान सज्जन अपने चिन्तन की कसौटी पर परख कर ही अच्छे या बुरे का निर्णय करते हैं और देश-कालानुरूप, जो अच्छा है, उसे अपना लेते हैं और बुरे का परित्याग कर देते हैं । किन्तु मूढ़ मनुष्य बिना कुछ परीक्षा किए अपनी अंध बुद्धि को दूसरों के अविचारित विश्वासों की पिछलग्गु बना देते हैं ।

जनवरी १९८८

(४८५)

जैन संस्कृति की शिष्टाचार संबंधी स्वर्णिम रेखाएँ

संस्कृति एवं सभ्यता, मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। मानव की उत्तमता एवं अनुत्तमता इन्हीं की तरतमता पर निर्भर है। कौन मनुष्य कैसा है—समादरणीय है अथवा असमादरणीय, इसका पता इसी पर से लग सकता है, कि वह किस संस्कृति एवं सभ्यता में पला है।

संस्कृति तथा सभ्यता, दो भिन्न शब्द हैं। शब्दशः अर्थ होता है क्रमशः इनका—संस्कार और शिष्ट जन-सभा में उपनिविष्ट होने की योग्यता। मनीषी विद्वानों ने ऐसे ही कुछ शब्दों के आधार पर दोनों की अनेक रूपों में विभाजित रेखाएँ निर्मित की हैं। किन्तु फिर भी स्पष्टतः और सर्वथा विभाजक रेखा नहीं स्थापित की जा सकी है। इधर-उधर घूम-घाम कर समाजशास्त्री तथा धर्म-शास्त्री जैसे विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संस्कृति का सम्बन्ध अन्तर्-जीवन के संस्कारों से है और सभ्यता का सम्बन्ध बाह्याचार आदि से। इसी आधार पर किसी मनुष्य को सुसंस्कृत तथा असंस्कृत, सभ्य तथा असभ्य आदि शब्दों से संबोधित किया जाता है। मैं यहाँ इस लम्बे शब्द प्रपंच से, अनसुलझे प्रसंग से बच कर मूलतः दोनों को एक ही रूप में समाहित करके भारतीय जन-जीवन के आचार-व्यवहार की चर्चा कर लेना चाहता हूँ।

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता अपनी एक विशिष्ट महत्ता रखती है। उसका मूल विनय एवं शिष्टाचार में है। अपने से महत्तर अथवा बराबर के लोगों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, यह प्राचीन ग्रन्थों में अत्यधिक चर्चित विषय समुपलब्ध है। श्रमण भगवान महावीर ने तो विनय को विशिष्ट अन्तरंग तप में समाविष्ट किया है, जो मानव आत्मा को वर्तमान में कर्मबन्ध से बचाए रखने को कारण संवर है, साथ ही पूर्व-बद्ध कर्मों का अमुक मात्रा में निर्जरण करते रहने से, निर्जरा भी है। संवर और निर्जरा, दोनों ही मोक्ष के अंग हैं। इस दृष्टि से विनम्र अपने से गुण महत्तरों के प्रति समादर का भाव रखने से

अन्ततः मुक्ति की समुपलब्धि होती है । मुक्ति अर्थात् विकारों से मुक्त स्व-स्वभाव सिद्ध शुद्ध स्वरूप में सदा-सर्वदा के लिए स्थिति ।

वाणी के अनुरूप ही पारस्परिक व्यवहार की भी उपयोगिता है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । अतः यथोचित पारस्परिक मानवीय व्यवहार से ही उसकी सामाजिकता का सही मूल्यांकन होता है । और यही सामाजिकता है जो समाज में उसे अच्छा-बुरा प्रमाणित करती है । परस्पर का व्यवहार लोक जीवन में ही नहीं, साधना के आध्यात्मिक-जगत् में भी अपनी महत्ता प्रतिष्ठित रखता है । इसीलिए भगवान महावीर ने दोनों को ही उच्चतर एवं पवित्रतम रखने की प्रेरणा दी है ।

यही हेतु है कि उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम अध्ययन विनय अध्ययन है। प्रस्तुत अध्ययन में अपने से महत्तरों के प्रति क्षुल्लक साधक का जीवन व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह स्पष्टतः प्रतिपादित है । ऊपर से लगता है कि बातें काफी साधारण हैं, किन्तु अन्तरंग में पैठिएगा, तो पता लगेगा कि यह कितने महान असाधारण सिद्धान्त हैं जीवन की उच्चता के निर्माण के लिए । मानव ही एक ऐसा व्यक्ति है, जिसको भावाभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट भाषा मिली है । एक-दूसरे को समझने-समझाने के लिए भाषा का सेतु महत्त्वपूर्ण है । किन्तु, अज्ञान-ग्रस्त व्यक्ति इस महत्त्वपूर्ण वाचा-शक्ति का दुरुपयोग करता है और परस्पर विग्रह, कलह, घृणा, द्वेष तथा तत्पश्चात् हिंसा आदि का अनर्गल अमानवीय वातावरण प्रसारित करके अपने स्वर्गोपम सामाजिक-जीवन को नरक बना देता है । अतः भगवान महावीर का शिक्षण है कि अपनी वाणी पर सजगता के साथ नियंत्रण रखो—

बहुयं मा य आलवे । उत्तरा. १, १०

—बहुत अधिक नहीं बोलना चाहिए ।

कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य —उत्तरा. १, ११

— जो काम किया हो, तो उसे स्वीकार करते हुए किया कहना चाहिए और न किया हो, नहीं किया, कहना चाहिए । अर्थात् मायाचार से मुक्त रहना चाहिए ।

मा गलियस्से व कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो । —उत्तरा. १, १२

—गलिताश्व (दुष्ट या दुर्बल घोड़ा) जैसे बार बार चाबुक की मार खाता है, ऐसे बार-बार किसी के कुछ कहते रहने और सुनने की आदत मत डालो ।

ना पुट्ठो वागरे किं चि, पुट्ठो वा नालियं वए । —उत्तरा. १, १४

—बिना पूछे दूसरों के बीच में नहीं बोलना चाहिए और पूछने पर भी मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिए, मिथ्या परामर्श नहीं देना चाहिए ।

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं । — उत्तरा. १, २५

— पाप मूलक निरर्थक कर्म-भेदक वचन न बोले ।

कोहं असच्चं कुवेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं — उत्तरा. १, १४

—क्रोध का प्रसंग होने पर भी क्रोध न करे । प्रिय या अप्रिय सभी प्रसंगों को समभाव से सहन करना ही उचित है ।

अप्पा चेव दमेयव्वो । —उत्तरा. १, १५

—दूसरों की प्रताड़ना से शासित अर्थात् नियंत्रित होने की अपेक्षा व्यक्ति को स्वयं ही स्वयं पर नियंत्रण रखना चाहिए ।

न जुंजे ऊरुणा ऊरं । —उत्तरा. १, १८

—महत्तरों के साथ बहुत अधिक सटकर नहीं बैठना चाहिए ।

सयणे नो पडिस्सुणे । — उत्तरा. १, १८

— गुरुजनों के द्वारा आवाज देने पर अपने आसन पर बैठे हुए ही उत्तर नहीं देना चाहिए । अर्थात् तत्काल खड़े होकर यथोचित उत्तर देना ही विनयाचार है ।

पाए पसारिए वावि । — उत्तरा. १, १९

—गुरुजनों की ओर पैर पसार कर बैठना नहीं चाहिए ।

आयरिएहिं वाहित्तो, तुसिणीओ न कयाई वि । — उत्तरा. १, २०

— गुरुजनों के बुलाने पर उपेक्षा भाव से मौन अथवा चुप नहीं रहना चाहिए ।

आसण-गओ न पुच्छेज्जा, पुच्छेज्जा पंजलि उड्ढो । — उत्तरा. १, २१

—गुरुजनों से यदि कभी कुछ पूछना हो, तो आसन पर बैठे हुए ही नहीं पूछना चाहिए, अपितु हाथ जोड़कर खड़े होकर अपनी जिज्ञासा का समाधान प्राप्त करना चाहिए ।

काले कालं समायरे । — उत्तरा. १, ३१

— समय पर समय का अर्थात् समयोचित कर्तव्य का आचरण करना चाहिए ।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्धई ।

थम्भा, कोहा, पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य ॥

उत्तरा. ११, ३

—अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य ये पाँच बातें ऐसी हैं, जिनके फलस्वरूप विद्यार्थी समुचित शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता ।

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।

अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्म मुदाहरे ॥

नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।

अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥

—उत्तरा. ११, ४-५

— जो अर्थहीन अयोग्य हैंसी मजाक आदि नहीं करता, जो सदा शान्त रहता है, जो किसी की गुप्त मर्म-भेदक बातें इधर-उधर कहता नहीं फिरता, जो सदाचार से रहित नहीं है, जो दुराचरण के दोषों से कलंकित नहीं है, जो रस-लोलुप अर्थात् जिह्वा का गुलाम-चटोरा नहीं है, जो अक्रोधन-क्षमाशील एवं सत्यानुरक्त होता है, वही मनुष्य यथार्थतः शिक्षाशील होता है ।

भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ, पावसमणे त्ति वुच्चई । —उत्तरा. १७, ३

—जो कर्तव्य-विमुख साधक, खूब अच्छी तरह खा-पी कर आराम से सोया पड़ा रहता है, वह पाप-श्रमण है ।

उत्तराध्ययन सूत्र जीवन-निर्माण की दृष्टि से एक महान धर्म सूत्र एवं नीति-शास्त्र है । विस्तार में न जाकर मैंने यहाँ संक्षेप में ही कुछ उद्धरण उपस्थित किए हैं । इनका भी यदि जिज्ञासाशील अन्तर्-मन के द्वारा यथोचित चिन्तन-मनन किया जाए, तो व्यक्ति बहुत-कुछ अभीष्ट उच्चता प्राप्त कर सकता है ।

दशवैकालिक भी जैनागम साहित्य में एक सुप्रसिद्ध आगम है । उसमें शिष्टाचार के अनेक दिव्य सूत्र समुपलब्ध हैं । मैं विस्तार में न जाकर, संक्षेप में ही कुछ सूक्त उपस्थित करूँगा—

पिट्ठमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए । - दशवै. ८, ४७

—जीवन की पवित्रता के लिए आवश्यक है कि किसी भी व्यक्ति की निन्दा-बुराई न करें । किसी की पीठ पीछे निन्दा करना पीठ का मांस खाने जैसा

(४८९)

दुष्कर्म है । साथ ही छल-कपट और असत्य से भी अपने को बचाए रखना चाहिए।

लज्जा-दया-संयम-बंधचेरं, कल्याणभगिस्स विसोहिठाणं ।

—दशवै. ९,१,१३

—लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य (काम-वासना से विरक्ति) उक्त चार बातें पवित्र आत्मा के लिए आत्म-विशुद्धि के हेतु हैं ।

असंविभागी न हु तस्स भोक्खो ।

—दशवै. ९,२,२३

—जो व्यक्ति अपने प्राप्त साधनों का अपने सहयोगियों एवं पीडित जनता में सम्यक्-वितरण नहीं करता, वह कर्म-बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकता ।

समवायांग सूत्र में सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक ज्योतिर्मय सूत्र हैं । हम यहाँ संक्षेप दृष्टि के कारण तेतीसवें समवाय के आशातना प्रकरण के कुछ अंशों का उल्लेख कर रहे हैं । लेख काफी लम्बा होता जा रहा है, अतः मूल सूत्र न देकर मात्र भावार्थ अंकित करना ही उचित समझा है -

१. अपने बड़ों के अति निकट से सट कर नहीं चलना चाहिए । १

२. अपने बड़ों के आगे नहीं चलना चाहिए। क्योंकि इससे बड़ों की गौणता एवं अपनी प्रमुखता अभिव्यक्त होती है । २

३. अपने बड़ों के आगे पथअवरुद्ध करने के रूप में खड़ा भी नहीं होना चाहिए । इसी रूप में गुरुजनों के पास बैठने में भी इसी तरह का विवेक रखना चाहिए । ४ से ६

४. अपने गुरुजन किसी से बात कर रहे हों, तो बीच-बीच में पहले बोलने का प्रयास करना उचित नहीं है । १२

५. अपने गुरुजनों के साथ भोजन करते समय उत्तम स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों को जल्दी-जल्दी एवं बड़े-बड़े ग्रासों से खाना यह गुरुजनों की अवज्ञा है ।

१८

६. बड़ों की आज्ञा को अनसुनी करना अशिष्टता है । १९

७. अपने से महत्तरों को 'तू' या 'तुम' आदि तुच्छ शब्दों से सम्बोधित नहीं करना चाहिए । २२

८. अपने गुरुजनों की बातों को बीच में काटना अनुचित है । २९

९. गुरुजनों के आसन आदि पर बैठना, सोना, खड़ा होना असभ्यता है। ३०

जैन-धर्म सर्वाधिक कर्मवाद को महत्त्व देता है । कर्म ही बन्धन है एवं संसार है । संक्षिप्त रूप से परिगणित किए गए ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सर्वाधिक भयंकर है । मूलतः मोहनीय कर्म ही बन्धक-कर्मों का अग्रगन्ता उग्र सेनापति है । इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर आध्यात्मिक विकास की यात्रा में मोह-कर्म के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय की साधना वर्णित की गई है । दशाश्रुतस्कंध सूत्र में कहा कहा गया है —

सव्वे कम्मा खयं जन्ति, मोहणिज्जे खयं गए ।

—एक मोहनीय कर्म के क्षय होने पर सभी कर्म स्वतः क्षीण हो जाते हैं।

तीव्रतम मोह-कर्म को महामोहनीय कर्म से भी अभिहित किया गया है—महामोहं पकुव्वइ । वैदिक-साहित्य के पद्मपुराण आदि अनेक पुराणों में धर्म परायण जनता को दिग् भ्रान्त करने वाले एक धूर्त महामोह नामक असुर का भी उल्लेख है । अतः शुद्ध शिष्टाचार के हेतु मोह कर्म से सम्बन्धित दुराचरणों से जागृत साधक को सर्वथा दूर रहना चाहिए ।

अस्तु, हम यहाँ समवायांग और दशाश्रुतस्कंध सूत्र द्वय के आधार पर अशिष्टाचार से संबंधित मोहकर्म के बन्धक हेतुओं का भावार्थ संक्षिप्त रूप से वर्णन कर देना प्रसंगोचित समझते हैं ।

(४९१)

जो व्यक्ति स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी तथा अन्य जंगम-त्रस प्राणियों को जल में डुबो कर, अग्नि में जलाकर, धूम आदि में दम घोट कर, मस्तक पर मुद्गर आदि का मारक प्रहार कर, घात लगाकर किसी प्राणी को मारता है और फिर अट्टहास करता है, वह तीव्रतम महामोह-कर्म का बन्ध करता है ।

जो व्यक्ति अपने द्वारा कृत-कपट क्रिया को, किसी प्राणी-घात आदि के दुष्कर्म को गूढ कपट-जाल से छिपाता है तथा अपने दोषों को दूसरों पर मढ़ता है, सत्य-सिद्धान्तवाद का अपलाप करता है, वह महामोह-कर्म का तीव्र बन्ध करता है ।

जो व्यक्ति प्रवंचना आदि के द्वारा अपने स्वामी के धन आदि का अपहरण करता है, विश्वासघात आदि के द्वारा अपने विश्वस्त पद का दुरुपयोग करता है, वह महामोह कर्म का बन्ध करता है ।

जो व्यक्ति कुमार न होकर भी अपने को कुमार बताता है, अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने को ब्रह्मचारी ख्यापित करता है, तथा कामान्ध होकर हर तरफ रूपवती स्त्रियों के प्रति आसक्ति रखता है, वह भी महामोहनीय-कर्म का बन्ध करता है ।

जो व्यक्ति राष्ट्र-नायक की, नगर-निगम के प्रमुख की, जनता के पथ-प्रदर्शक की, अनेक जनों के उपकारी महायशस्वी श्रेष्ठ जन आदि की हत्या करता है, वह महामोह-कर्म का बन्ध करता है ।

जो वीतराग विकार विजयी, जिनेश्वर देवों का, श्रुत-ज्ञानी जनों का तथा जिनसे बोध प्राप्त किया है, उन्हीं की निन्दा करता है, तथा सम्यक् प्रकार से उनकी सेवा नहीं करता है, उनका सम्मान नहीं करता है, वह महामोहनीय-कर्म का बन्ध करता है ।

जो बहुश्रुत-ज्ञानी नहीं है, उत्कृष्ट तपस्वी नहीं है, फिर भी अपने को तद्वृष प्रख्यापित करता है, वह महामोह का बन्ध करता है ।

जो रोगी, वृद्ध तथा उपकारी-जनों की समय पर सशक्त होने पर भी

श्रद्धा-भाव से यथोचित सेवा नहीं करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

जिसके पास कुछ भी दैवी-शक्ति नहीं है, वह यदि प्रशंसा आदि प्राप्त करने की दृष्टि से अपने को दैवी-शक्ति प्राप्त महान योगी के रूप में प्रसिद्ध करता है, पाखण्ड फैलाता है, तो वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

उक्त अशिष्टाचार भी निषिद्धता के कारण सभ्य-जनों को शिष्टाचार की प्रेरणा देते हैं । इस प्रकार उक्त वर्णन की अशिष्ट व्यवहारों की निवृत्ति के लिए विशुद्ध हेतुता सुस्पष्ट है ।

भारतीय-संस्कृति एक विशाल कल्पतरु है । जैन-संस्कृति भी उसी कल्प-तरु की एक महत्तम पुनीत शाखा है । जैन-संस्कृति के प्रथम उद्गाता आदि देव भगवान ऋषभदेव हैं, तो अन्तिम उद्गाता श्रमण भगवान महावीर हैं । खेद है, इस महान जैन-संस्कृति को गंभीरतम, साथ ही निष्पक्षतम दृष्टि से व्यापक अध्ययन न करने वाले कुछ मनीषियों ने उसे मात्र एक धार्मिक तथा वैराग्य की संस्कृति के रूप में एक ओर सीमित कोने में धकेल दिया है । किन्तु, मूलतः तथ्य ऐसा नहीं है । प्रस्तुत संक्षिप्त लेख पर से स्पष्टतया परिलक्षित हो जाता है, कि जैन-संस्कृति एकांगी संस्कृति नहीं है । उसमें धार्मिक एवं सामाजिक—दोनों ही संस्कृतियों का यथोचित रूप से संगम है । जैसा कि लोक संस्कृति में गंगा एवं यमुना का प्रख्यात पावन संगम ।

जैन वाङ्मय में शिष्टाचार सम्बन्धी नियमों एवं उपनियमों का विस्तार के साथ वर्णन है । आचारांग आदि प्राचीनतम आगम-साहित्य में भी इस प्रकार के वर्णन यत्र-तत्र समुपलब्ध होते हैं । निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका तथा अन्य प्रकरण ग्रन्थों में भी पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के अनेक रोचक, साथ ही सुसंस्कृत उल्लेख विस्तार से मिलते हैं । प्राचीन जीवन-चरित्र एवं कथा-साहित्य भी शिष्टाचार के वर्णनों से सुसमृद्ध है । बुद्धिमान पाठक जानते हैं कि पत्रिका के किसी एक लेख में सभी वर्णनों को लिपिबद्ध करना कैसे संभव हो सकता है ? अतः हमने यहाँ अपने को प्राचीन आगम-साहित्य तथा उसमें भी कुछ प्रसिद्ध आगमों तक ही सीमित रखा है । उक्त समुल्लेखों पर से ही भारतीय जन-जीवन की शिष्टाचार सम्बन्धी गरिमा की एक ऐसी सुरम्य झॉकी

उपस्थित होती है, जो मानवीय जीवन को उच्च से उच्चतर एवं पवित्र से पवित्रतम बनाने के लिए पर्याप्त है ।

फरवरी १९८८

जीवन का केन्द्र बिन्दु : योग्य भोजन

अन्नं वै प्राणाः

प्राण की परिभाषा करते हुए भारत के एक महान तत्त्वदर्शी आचार्य ने कभी कहा था— 'अन्नं वै प्राणाः ।' इसका अर्थ है— 'अन्न ही प्राण है ।' प्राण का यह लक्षण कारण में कार्य का उपचार है । अन्न कारण है प्राण का और प्राण कार्य है अन्न का । अन्न के अभाव में प्राण टिक नहीं सकते, प्राणी अधिक देर जीवित नहीं रह सकते ।

आहार की महत्ता

छह-छह महीनों के लम्बे उपवास करनेवाले अध्यात्मज्ञानी भगवान महावीर, जिनको तथागत बुद्ध ने भी दीर्घतपस्वी के आदर्श नाम से सम्बोधित किया है, उन्होंने स्थूल आहार से सूक्ष्म आहार तक की ज्ञान यात्रा करते हुए, दृश्य आहार से अदृश्य आहार तक की सूक्ष्म विवेचना करते हुए कहा था — "संसारी प्राणी एक जन्म से दूसरा जन्म ग्रहण करते समय अन्तराल में कुछ क्षण ही अनाहारक रहता है, अन्यथा वह निरन्तर आहारक है ।" इसका अर्थ है— आहार देह धर्म है, जो देह धारण के लिए आवश्यक है । इसी सन्दर्भ में प्राकृत का एक पुरातन सूत्र है— "आहारद्विठ्या पाणा ।" प्राणों की स्थिति आहार पर आधारित है ।

आलोचना अत्याहार की :

अतः प्रश्न आहार और अनाहार का नहीं है । क्षुधा निवृत्ति के लिए आहार ग्रहण करना अपने में कोई अपराध नहीं है, जिसकी आलोचना की जाए । आलोचना अत्याहार की है । आहार की आवश्यक सीमा का अतिक्रमण करने

वाले लोग पेट्र होते हैं, जो अति की निन्दा का सूचक है। कुछ लोग इतने वृकोदर एवं भुखड होते हैं कि भोजन के लिए आसन लगाकर बैठ जाते हैं तो जब तक चौंके की पूरी सफाई न कर दें, उठने का नाम नहीं लेते। अधिक भोजन के बाद कितनी परेशानी होती है। डकार पर डकार और उबासी पर उबासी आती हैं। पेट फूल जाता है। ठीक तरह बैठा नहीं जाता। चला नहीं जाता, गैस का प्रकोप हो जाता है। कर्म करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। कितनी दुःस्थिति हो जाती है जीवन की। अत्याहारी शिष्ट समाज में बैठने योग्य नहीं रहते। पहले अधिक खा लेना और फिर पाचन के लिए ऊपर से चूर्ण फाँकना, क्या अर्थ रखता है ?

देखा है, कुछ लोग शर्त लगाकर खाते हैं कि कौन कितना अधिक खा सकता है। विचित्र बात है। शर्त लगाकर चार चार पाँच पाँच सेर मिठाइयाँ खा जाने वाले लोगों की आश्चर्यजनक कहानियाँ सुनने में आई हैं। खेद है, इस प्रकार अधिकाधिक भोज्य पदार्थों का संहार करके देश में दुष्काल की स्थिति पैदा करने वाले ये बहवांशी अपने इस कीर्तिमान पर गर्व का अनुभव करते हैं, यथाप्रसंग इधर-उधर अपने बहुभोजन की डींग मारते फिरते हैं। इन्हें पता नहीं, कि अधिक भोजन पुण्य का नहीं, पाप का परिणाम है। गीता ज्ञान के महान गायक श्रीकृष्ण ने महाशन (अधिक खाने वाले) लोगों को 'महापाप्मा' कहा है। जैनाचार्य इसे पशुयोनि से आए हुए प्राणी का लक्षण बताते हैं। इसका अर्थ है आहार संज्ञा का आधिक्य पशुत्व है। इसके विपरीत अल्पाहार उच्चकोटि की मानवता का शुभ चिह्न है। जैन इतिहास की गाथाएँ कहती हैं कि प्राचीन काल के आदि मानव (जिन्हें भोगभूमि के यौगलिक मानव कहा है) अतीव अल्पाहारी होते थे। अल्प भोजन से ही उनकी पूर्ण तृप्ति हो जाती थी। फलतः वे देवोपम मानव माने गए हैं। अधिक आहार राक्षस एवं दैत्य भाव का द्योतक है, और अल्पाहार देवत्व का।

अल्पाहार : बीच की कड़ी

श्रमण परम्परा के महान अनुशास्ता भगवान महावीर ने अल्पाहार को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। अल्पाहार, अत्याहार और अनाहार के बीच की कड़ी है, जो साधना और जीवन यात्रा के बीच उल्लेखनीय सामंजस्य स्थापित करता है। सर्वथा और सर्वदा निराहार रहने से जीवन यात्रा नहीं चल सकती

(४९६)

और अत्याहार से लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों में से कोई भी इष्ट-साधना सार्थक नहीं हो सकती । अतः आदर्शवाद के साथ यथार्थवाद का उचित समन्वय करते हुए महाश्रमण महावीर ने अत्याहार का उपदेश किया है । इस सम्बन्ध में उनके कुछ उपदेश सूत्र स्मरणीय हैं—

“अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेति ताइणो । ”

— दशाश्रुतस्कन्ध ५/४

—जो साधक अत्याहारी है, इन्द्रिय और मन की अनर्गल वृत्तियों का विजेता है, सब प्राणियों के प्रति हित की भावना रखता है, उसके दर्शन के लिए देव भी आतुर रहते हैं ।

“ तद्वा भोतव्वं जहा से जाया माता य भवति । ”

— प्रश्नव्याकरण, २/४

—ऐसा हित-मित एवं शुद्ध भोजन करना चाहिए, जो जीवन यात्रा और संयम यात्रा के लिए उपयोगी हो ।

“ णो पाण-भोयणस्स अतिमत्तं आहारए समा भवई । ”

— स्थानांग ९ वाँ स्थान

— कभी भी अधिक मात्रा में पान तथा भोजन नहीं करना चाहिए ।

“ ऊच्चासणाए, अहियासणाए । ”

— स्थानांग ९ वाँ स्थान

— अति भोजन और अहित भोजन से रोग उत्पन्न होते हैं ।

अतिभोजी चोरः

इतना ही नहीं, भगवान महावीर तो अति भोजन करने वाले को चोर की श्रेणि में रखते हैं । वस्तुतः अतिभोजी दूसरों का हक छीनता है, दूसरों के पेट को लात मारता है । अतिभोजी को अपने पेट से ही अवकाश नहीं मिलता,

(४९७)

अतः वह समय पर अपने साथियों को ठीक तरह कुछ नहीं दे सकता । इस सन्दर्भ में प्रश्न— व्याकरण सूत्र का एक सूक्तिवचन है—

“असंविभागी, असंगहरूई अप्पमाणभोई से तारिसएनाराहए वयमिणं”—
२/३

— जो असंविभागी है— प्राप्त सामग्री ठीक तरह वितरण नहीं करता, जो असंग्रहरुचि है— साथियों के हितार्थ समय पर उचित सामग्री का संग्रह एवं वितरण करने में रुचि नहीं रखता, जो अप्रमाणभोजी है— आवश्यकता से अधिक भोजन करने वाला पेट्टू है, वह अस्तेय अर्थात् अचौर्यव्रत की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता ।

श्रीमद् भागवत में महर्षि नारद भी उपर्युक्त सिद्धान्त के पुरजोर समर्थक हैं । उनका कहना है कि जितने से पेट पूर्ति हो सकती है, मनुष्य को केवल उतना ही संग्रह करने का अधिकार है । जो इससे अधिक संग्रह करता है और उसका मर्यादाहीन उपयोग करता है, वह चोर है, दण्ड का पात्र है ।

“यावद् भ्रियेत जठरं, तावत्सत्त्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

भोजन का सम्बन्ध क्षुधा से :

भोजन का सम्बन्ध क्षुधा से है, जिह्वा से नहीं । फिर भी धर्म प्रधान भारत में भूख की अपेक्षा जीभ को अधिक महत्त्व मिल रहा है । सम्पन्न कहे जाने वाले घरों में नाना प्रकार के सुस्वादु भोजन बनते हैं, जिन में खाद्य सामग्री का इतना अधिक अपव्यय होता है कि कुछ पूछो ही मत । बड़े शहरों के फाइव स्टार जैसे शानदार होटल भी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । आज की इस भोजन प्रक्रिया में सात्त्विकता का तो कुछ अंश ही नहीं रहा है । भोजन से सम्बन्धित हित, मित एवं पथ्य की त्रिसूत्री वर्तमान में बस पुरातन पुस्तकों में बंद होकर रह गई है । विवाह शादियों में, धार्मिक उत्सवों में, मेहमानों के सामूहिक स्वागत सत्कारों में इतनी अधिक मात्रा में सुस्वादु भोज्य सामग्री बनती है, जो साधारण जनता के लिए साधारण भोजन के रूप में महीनों काम आ सकती है ।

(४९८)

सुस्वादु भोजन अधिक खाया जाता है, वृन्दभोज आदि के रूप में अधिक बनाने के कारण बच भी रहता है और वह फिर जूठन के रूप में फेंका जाता है या पुण्यार्जन के लिए गरीब लोगों को खिलाकर दान का नाटक रचाया जाता है । एक युग था, जब बड़े कहे जाने वाले लोग थाली नहीं, थाल भर कर भोजन करने बैठते थे । अन्त में काफी जूठन छोड़ना उनकी एक शान थी । वह जूठन छोटे सेवकों को या भिखमंगों को बाँटी जाती थी । बदले में दाता के जयजयकार की ध्वनि गूँजा करती थी । किन्तु यह पद्धति भारतीय संस्कृति के सर्वथा विपरीत है । भारत का आदर्श है — जनता की सेवा जनता को भगवान समझ कर करो । अतः उसे जो भी देना हो, सत्कार सम्मान के साथ शुद्ध वस्तु अर्पण करो । इस तरह की गंदी तथा सड़ी गली जूठन नहीं । प्रथम तो हमारे यहाँ अल्पाहार का आदर्श है, अतः अधिक भोजन लेकर जूठ छोड़ना पाप है। महाश्रमण महावीर की देशना है ' मायन्ने असणपाणस्स' अर्थात् भोजन करने से पूर्व अपेक्षित भोजन की मात्रा (परिमाण) का ज्ञान कर लेना आवश्यक है । अपनी भूख को नाप लेना जरूरी है और इससे आगे यह भी भारत का आदर्श है कि भूख से कुछ-न-कुछ कम ही खाना चाहिए । पेट भरकर नहीं और अधिक तो बिल्कुल ही नहीं । फिर भले ही वह भोजन, साक्षात् अमृत भोजन ही क्यों न हो। भगवान महावीर के ज्ञान में भूख से कुछ कम खाना तप है, ऊनोदर तप ।

अल्प खाना ही अधिक खाना :

भोजन कितना ही सरस, स्वादु तथा पौष्टिक क्यों न हो, अति मात्रा में खाया गया हानिकारक ही होता है । पाचन के अभाव में भोजन का अधिकांश भाग शरीर को रोगादि देकर व्यर्थ ही मल के रूप में बाहर निकल जाता है । उसका ठीक तरह रस नहीं बन पाता । अल्प भोजन की पाचन क्रिया ठीक होती है, फलतः उसका रस भाग अधिक बनता है, जो शरीर को पूरा पोषण दे देता है। इसीलिए आचार्य सोमदेव ने कहा था— “ यो मितं भुंक्ते, स बहु भुंक्ते ” — अर्थात् जो कम खाता है वह ज्यादा खाता है ।

वर्तमान अन्न संकट के संदर्भ में :

भारत अन्नाभाव से पीड़ित है । अन्न संकट की समस्या आज सुरसा राक्षसी बन रही है । कहीं बाढ़ है तो कहीं यह नहीं तो पुरातन पद्धति पर पले

(४९९)

किसानों का कृषि कर्म से सम्बन्धित आधुनिक विकसित वैज्ञानिक प्रयोगों का अज्ञान है। कुछ जड़ता ग्रस्त धर्म परम्पराओं का उपदेश है कि कृषि महारंभ है, अतः महापाप है। इस स्थिति में अन्न की निष्पत्ति हो, तो कैसे हो। जो थोड़ा बहुत होता भी है, तो वह जमाखोरों के कब्जे में चला जाता है और फिर चोर बाजार की राह लेता है। और इधर कुछ लोगों को जरूरत से ज्यादा खाने की आदत है। कुछ सामाजिक तथा धार्मिक आडंबरों में एक साथ अनर्गल रूप से अन्न को नष्ट कर देने की परम्परा है। हर वर्ष क्षुधापूर्ति के लिए विदेशों से अन्न मंगाया जाता है, फलतः रोटी के लिए देश पर अरबों का कर्ज लदता जा रहा है। भारत माता के नंगे भूखे बच्चों के चित्र विदेशी पत्रों में प्रकाशित होते हैं और दया के नाम पर लेख लिखे जाते हैं कि भारत भूखा मर रहा है, उसे कुछ देना चाहिए। कैसी शर्मनाक स्थिति है और कुछ लोग हैं कि फिर भी होश में नहीं आते। उसी पुरानी बेढंगी चाल से चलते चले जा रहे हैं। आए दिन समारोहों में, शानदार होटलों में छप्पन प्रकार के मोहन भोग तैयार हो रहे हैं और नंगे कैबरे नृत्यों के साथ हँसाहँस उड़ाए जा रहे हैं। उन रसलोलुप लोगों के पास सारे शरीर में से ऊपर मुख में एक जीभ है और नीचे एक पेट है। लगता है, दूसरा कुछ है ही नहीं। इन अज्ञानग्रस्त लोगों को पता नहीं कि वे अपने सशक्त कार्यक्षम स्वास्थ्य के प्रति तो भयंकर अत्याचार कर ही रहे हैं, साथ ही अपने ही देश के लाखों भाई बहनों की रोटी भी छीन रहे हैं। उन्हें भूखों मारकर जघन्य पाप के भागी बन रहे हैं।

कृषि कर्म, आर्य कर्म :

अन्न का एक-एक दाना महत्त्व का है। कृषि कर्म आर्य कर्म है। अल्प सावद्य कर्म है। अतः अन्न का उत्पादन और संरक्षण दोनों ही जनहित में आवश्यक हैं। त्याग वैराग्य के अनन्त पथ के सफल यात्री भगवान महावीर ने तो अन्नोत्पादन को आर्य कर्म कहा ही है। छान्दोग्य उपनिषद् का वैदिक ऋषि भी कहता है— 'अन्नं बहु कुर्वीत तद् व्रतम्' अन्न अधिकाधिक उपजाना बढ़ाना चाहिए, यह एक व्रत है। 'अन्नं न निंद्यात्' अन्न की किसी भी तरह अवज्ञा न करो। जैनाचार्य रत्न मंदिर गणी ने लिखा है कि सम्राट विक्रमादित्य एक दिन कहीं जा रहे थे कि उन्होंने धूल में पड़ा अन्न का एक दाना देखा। तत्काल हाथी से उतर कर दाने को उठाया, साफ किया और मस्तक से लगाया। कहते हैं मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब वनवासानन्तर लंका विजय कर अयोध्या लौटे तो

नागरिकों से उनका सर्वप्रथम प्रश्न था कि घर में अन्न तो काफी है न ? ये घटनाएँ बताती हैं कि भारत के महनीय सम्राटों के मन में भी अन्न के प्रति कितना समादर का भाव था । ये भूख की व्याकुलता के क्षणों में घटित घटनाएँ नहीं हैं । यह तत्कालीन समृद्ध भारत और उसके समृद्ध सम्राटों का इतिवृत्त है, जो कहता है— गगनचुम्बिनी समृद्धि के समय भी अन्न का अपमान न करो, पूरी श्रद्धा के साथ एक एक दाने का सम्मान करो । महर्षि व्यास का यह वचन सदा स्मरणीय है अन्न मनुष्य का प्राण है । सब कुछ अन्न में प्रतिष्ठित है—

“ अन्नं प्राणा नराणां हि, सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् । ”

निष्कर्ष :

निष्कर्ष की भाषा में कहा जाए तो भारत की हर वर्ष उलझती जाती अन्न समस्या का तकाजा है कि जन जीवन को भुखड़पन की गलत मनोवृत्ति से मुक्त किया जाए । भोजन में आशुतोष होना आवश्यक है । कृषि को आर्य कर्म की पुनः स्वीकृति मिलनी चाहिए । सर्दी, गर्मी और वर्षा में तनतोड़ श्रम करने वाले घरती के बेटे किसान को हीन दृष्टि से नहीं, अपितु प्रजापालक के रूप में समादर की दृष्टि से देखा जाए । देश के हर वर्ग का चढोरापन कम होना चाहिए । जीभ की गुलामी कम भयंकर नहीं है । अतः समारोहों, पार्टियों और होटलों में से भोज्य पदार्थों की अनर्गल विविधता को समाप्त करना जरूरी है। भोजन सात्त्विक, साथ ही अल्प होना चाहिए । अल्पाहार पुण्यकर्म है, यदि बिना किसी लाचारी के विवेक दृष्टि से किया जाए तो । विवेकशील अल्पाहारी अन्न बचाकर अपने साथ के अन्य बन्धुओं को जीने का सुअवसर प्रदान करता है। भारत का भोजन सम्बन्धी चिरन्तन सूत्र पुनरुज्जीवित होना चाहिए कि अच्छा आदमी जीने के लिए खाता है, न कि खाने के लिए जीता है ।

अक्तूबर १९७५

धर्म-क्रान्ति की दिशा में एक नया कदम : आर्य चन्दनाश्री जैनाचार्य पदालंकृत

प्रज्ञामहर्षि श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव क्रान्ति के उद्गाता हैं । उन्होंने जैन परंपरा में तर्कहीन मान्यताओं को सत्य के यथार्थ धरातल की ओर मोड़ा है । अज्ञान एवं अन्ध विश्वास के आवरण को हटाकर सत्य का प्रकाशन किया है । उनके अनेक क्रान्तिकारी चरणों में एक महत्त्वपूर्ण चरण है मातृजाति का गौरव । प्रस्तुत गौरव के लिए जैन-परम्परा में सहस्राधिक वर्षों से चली आ रही परम्परा को तोड़ा ।

मातृ-जाति की रूढ़िवाद ग्रस्त सामाजिक अवमानना से जैन धर्म जैसा उदार धर्म भी चिरकाल से प्रभावित होता रहा, जिससे पूज्य गुरुदेव का मन-मस्तिष्क सदैव अनुपीडित रहा । आपश्री का कहना है साधु और साध्वी में क्या अन्तर है ? आत्म-साधना के प्रशस्त पथ पर यह शरीर-भेद क्या अर्थ रखता है ?

श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव ने २६ जनवरी १९८७ को सत्यं शिवं सुन्दरम् की त्रिपथगा साध्वीरत्न श्री माँ चन्दनाश्रीजी को एकमात्र पुरुषाधिकृत गौरवशाली आचार्य पद से अलंकृत किया, जो कि भिक्षुणी-संघ के लिए अब तक निषेध का रूप लिए हुए था । इस प्रकार पूज्य गुरुदेव ने साध्वी वर्ग के लिए गरिमा के द्वार खोल दिए हैं ।

तीर्थंकर महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना की । तीर्थंकर का अर्थ ही है—तीर्थ का संस्थापक । उन्होंने श्रमण और श्रमणोपासक (श्रावक) के समान श्रमणी (साध्वी) और श्रमणोपासिका (श्राविका) को अपने तीर्थ में अपने संघ में एक समान स्थान दिया । कितनी महत्त्वपूर्ण बात है कि तीर्थंकर समवसरण में देशना देने बैठते हैं, तो सबसे पहले ' नमो तित्यस्स ' बोल कर तीर्थ को

नमस्कार करते हैं । उसमें न साध्वी को अलग करते हैं और न श्राविका को । हम भी भाव वन्दना में जब ' नमो लोए सव्व साहूणं ' पढते हैं, तब कहीं भेद करते हैं, साधु-साध्वी का । मध्य युग में आकर हमारे धर्मगुरुओं ने परिवर्तित लोक-परम्पराओं के समक्ष धर्म-क्रान्ति के अपने हथियार डाल दिए । श्रमण भगवान महावीर कहते हैं साध्वी राग-द्वेष पर विजय पा कर, मोह के क्षय के अनन्तर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय करके वीतराग अरहन्त हो सकती है और आयु-कर्म के साथ शेष वेदनीय, नाम एवं गोत्र, तीनों कर्मों का क्षय करके सिद्ध हो सकती है । आत्मा की परम विशुद्ध स्थिति में वह स्थित हो सकती है, परन्तु हमारे मध्य-काल के कुछ परम्पराओं के धर्मगुरुओं के कथनानुसार साध्वी प्रवचन-सभा में प्रवचन नहीं दे सकती है, न आचार्य, उपाध्याय पद पर आसीन हो सकती है, मैं विचार करता हूँ कि महावीर कहते हैं— वह अरहंत बन सकती है, केवलज्ञान प्राप्त कर कर्म-बन्धन से मुक्त हो कर सिद्ध बन सकती है, फिर क्या कारण है कि वह आचार्य नहीं बन सकती ? आचार्य, उपाध्याय आदि पद आत्म-गुणों की योग्यता के हैं या नर और नारी देह के हैं ? यदि पुरुष के शरीर के आधार पर आचार्य आदि पद दिए जाते हैं, तो मैं न ' नमो लोए आयरियाणं ' बोलूंगा और न ' नमो लोए उव्वज्ञायाणं । ' तीर्थंकर महावीर के शासन में, जिन शासन में नमस्कार देह को नहीं, आत्म-गुणों को किया जाता है— भले ही वे गुण पुरुष में हों या स्त्री में हों अर्थात् साधु में हों या साध्वी में — दोनों हमारे लिए वन्दनीय हैं । चैतन्य की दृष्टि से विचार करें, तो साध्वी को आचार्य पद देने में कहीं अटक आती है । मध्य-युग में फैले इस भ्रान्ति के अन्धकार का भेदन करना ही होगा ।

आज २६ जनवरी है, गणतन्त्र दिवस है । २६ जनवरी १९५० को भारतीय संविधान लागू हुआ और उसमें पुरुष के समान नारी को भी समान अधिकार प्राप्त हुआ । जितना मूल्य पुरुष के वोट का है, उतना ही मूल्य नारी के वोट का है । इतना ही नहीं, यदि नारी-वर्ग संघटित होकर निर्णय कर ले तो वह शासन को बदल सकती है, शासन के तरीकों को बदल सकती है । नारी की धर्म-साधकों में संख्या की दृष्टि से पुरुष से अधिक ही संख्या रही है हर युग में । श्रमण भगवान महावीर के शासन में श्रमण चौदह हजार थे, तो श्रमणियों की संख्या छत्तीस हजार तक पहुँच गई थी । साध्वियों की साधना-शक्ति को, उनकी योग्यता को और उनके गुणों को नकारा नहीं जा सकता ।

२६ जनवरी साध्वी श्री चन्दनाश्रीजी का जन्म दिन है । आज वे अपने जीवन के पचास वर्ष पूर्ण कर ५१ वें वर्ष में प्रवेश कर रही हैं । और, सौभाग्य से भारतीय संविधान को भी २६ जनवरी १९५० को लागू किया गया और भारत को गणतन्त्र उद्घोषित किया गया । इस ऐतिहासिक पावन-प्रसंग पर मैंने परम्पराओं की लकीर से हट कर चन्दनाश्रीजी के लिए आचार्य पद की उद्घोषणा की । आलोचना तो होगी, पर उससे डरना नहीं है और न शर्माना है। सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार करना और उसका दृढता से समर्थन करना है ।

आगम में उल्लेख है— एक महान नारी भगवती मल्ली तीर्थंकर हो गई। आगम की इस घटना को मानना पड़ा, उसे भगवती भी कहा, परन्तु अछेरा— आश्चर्यकारी अर्थात् अनहोनी घटना में गिन लिया । अछेरा अर्थात् अनहोनी हो गई । इससे बढ़कर और मृत चिन्तन क्या होगा ? वे धर्मगुरु लोक-अपवाद से डर गए । इतिहास में वह तीर्थंकर हो गई और भगवती भी कह दिया, लेकिन इसके साथ-साथ थोड़ा सा घूँघट भी डाल दिया कि ऐसा होना तो नहीं चाहिए था, पर अछेरा हो गया ।

श्रमण भगवान महावीर पर गौशालक ने आक्रमण कर दिया । तेजो लेश्या छोड़ दी महावीर पर । झट अछेरा मान लिया उसे । एक ओर कहते हैं कि अरहन्त अवस्था में चार कर्म रहते हैं, उनमें वेदनीय कर्म भी एक है । साता और असाता वेदनीय कर्म का उदय है, तो आक्रमण हो गया, रोगाक्रान्त भी हो गए, इसमें अछेरा— आश्चर्य किस बात का ? एक ओर वेदनीय कर्म का उदय भी मानना, परीषद भी मानना और दूसरी ओर उसे अछेरा कहना, यह दुहरी भाषा कायर एवं कमजोर मन के व्यक्ति बोलते हैं । मैं दुहरी भाषा बोलना पसन्द नहीं करता । जो सत्य है, वह सत्य है, उसे अछेरा या और कुछ कह कर छुपाना क्यों ?

यह चुनौती नहीं चिन्तन का संघर्ष है । चिन्तन का संघर्ष चले, घर्षण हो, तो उसमें से विद्युत् पैदा होगी । चिन्तन में चमक आएगी, ज्योति प्रज्वलित होगी ।

आप लोगों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । इस मरुभूमि में अभावग्रस्त प्रजा है, उनमें भगवान महावीर के श्रावकों की रक्त की धारा के भी अनेक

व्यक्ति होंगे । परन्तु आज वे महाश्रमण भगवान महावीर एवं उनके ज्योतिर्मय संदेशों को भूल गए हैं । उस दिव्य ज्योति को पुनः प्रज्वलित करने हेतु आप महानुभावों ने जिस प्रेम-स्नेह एवं सेवा-भावना की गंगा बहाई है, वह दिव्य-भव्य है । श्री नवलमलजी फिरोदिया, जिन्हें हम प्रेम से बाबा कहते हैं, इस अवस्था में भी उनका मस्तिष्क गतिशील है, नया चिन्तन है उनका और वह निरन्तर गतिशील है । वे एक-से-एक बढ़कर नई उद्भावनाएँ, नई योजनाएँ रख रहे हैं। उनकी अनेक नई योजनाएँ मूर्त रूप लेने के लिए प्रस्तुत हैं । आप में से अनेक साथी, अनेक प्रभु भक्त उन योजनाओं को साकार रूप देने में, उन्हें आगे बढ़ाने में, उनके साथ हैं।

चन्दनाश्रीजी निरन्तर कुछ-न-कुछ नए स्वप्न देखती रहती हैं । ये सपने वे नहीं हैं, जो रात की नींद में देखे जाते हैं । ये तो जागृत अवस्था के सपने हैं । जागृति में जो स्वप्न देखेगा, वह नए दिव्य कर्म सामने लाएगा । इसलिए सपने देखो, परन्तु जागृत रहते हुए देखो । विराट लक्ष्य आपके सामने है। याद रखिए, गतिशील के लिए लक्ष्य दूर नहीं है । जो निराश-हताश हो कर बैठा है, उसके लिए लक्ष्य दूर है । जो उठ खड़ा हुआ और चल पड़ा है, उसके लिए लक्ष्य दूर नहीं बिल्कुल सामने है । हजारों वर्ष पहले, हमारे महान आचार्यों, ऋषियों ने कहा था -

“ आस्ते भग आसीनस्य, उर्ध्वं तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य, चराति चरतो भग : । ”

जो व्यक्ति आलसी है, कहता रहता है कि कुछ होने जैसा नहीं है । ऐसे सोए हुए व्यक्ति का भाग्य भी सोया पड़ा है । जो उठकर बैठ गया है, चल नहीं पा रहा है, उसका भाग्य भी बैठा है । किन्तु जो कर्म करने हेतु अंगड़ाई ले कर उठ खड़ा हुआ है, उसका भाग्य भी खड़ा हो गया है और जो निर्धारित कर्म पथ पर चल पड़ा है, उसके साथ उसका भाग्य भी चलने लगता है । इसलिए हमारा प्रयाण गीत है- “ चरैवेति चरैवेति ” चलते चलो, निरन्तर चलते रहो, आगे बढ़ते रहो । गतिशील व्यक्ति का भाग्य भी गतिशील रहता है ।

महाश्रमण महाप्रभु महावीर की दिव्य वाणी हमको स्फूर्ति दे रही है कि स्वयं उठो, आगे बढ़ो और जो अभी तक व्यामोह की नींद से नहीं उठे हैं, उन्हें

उठाओ । उनका यह दिव्य संदेश है—

“ संबुझह किं न बुझह,
संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा ।”

जागो, उठो, बोध को प्राप्त करो । अभी समय है जागने का, बोध प्राप्त करने का । मरने के बाद संबोधि को प्राप्त करना दुर्लभ है, कठिन है ।

श्रमण भगवान महावीर का यह संदेश महत्त्वपूर्ण है । कदम कदम पर मंगल और कल्याण के पुष्प उतारने वाला है । यह दिव्य ध्वनि काँटों को पुष्प में परिवर्तित करने वाली है । इस दिव्य संदेश के अनुरूप जीवन बनाएँगे, जागृत हो कर सत्कर्म के पथ पर गति करेंगे, निरन्तर बढ़ते रहेंगे, तो स्वयं भी ज्योतिर्मय बनेंगे और दूसरों के जीवन को भी प्रकाश से भर देंगे ।

अनन्त मूर्ति : अनेकान्त

विश्व-ब्रह्माण्ड में सर्व-श्रेष्ठ कहे जाने वाले, एवं माने जानेवाले मानव-जाति में चिरकाल से एक भयंकर दावानल जल रहा है। और, उस दावानल में मानव-जाति की मूलभूत श्रेष्ठता रूप मानवता भस्म होती जा रही है। मानवता ही तो मानव है। मानवता यदि नष्ट हो जाती है, तो फिर मानव कैसे बचा रह सकता है? वह देह के रूप में मानव भले ही रह सकता है। किन्तु यह सिर्फ देहात्मक मानव तो पौराणिक काल के भयंकर सर्वग्रासी नरभक्षी राक्षसों से भी भयंकर है।

यह दावानल कभी-कभी बीच में कुछ सीमित भी होता रहा है, कुछ शान्त भी होता रहा है, परन्तु कोई-न-कोई विकल्प पा कर पुनः पहले की अपेक्षा और भी अधिक तेज प्रज्वलित हो उठता है। इधर-उधर बिखरी चिनगारियाँ पुनः दावानल बन जाती हैं। कभी किसी जातीय दंभ के नाम पर, कभी-किसी देशाभिमान के नाम पर कभी किसी अनियंत्रित राजनैतिक पार्टी के नाम पर, कभी किसी धर्मोन्माद के नाम पर, कभी किसी भाषा-विवाद के नाम पर, नाम कहाँ तक गिनाएँ, किसी भी नाम पर द्वेष, वैर, घृणा, हिंसा, हत्या, आगजनी, लूटमार आदि अनेक रूपों में चतुर्दिक भीषण ज्वालाएँ फैल जाती हैं। जिसमें मात्र मानव-देहधारी दुष्टात्माओं का तो कुछ बिगडता नहीं है, किन्तु निरपराध, निरीह एवं भद्र-जनता का सर्वनाश हो जाता है। और, इस सर्वनाश की आग में से वे ज्वालाएँ फूट पड़ती हैं, जो वर्षानुवर्ष ही नहीं, अपितु वंशानुवंश तक मानवता के रक्त से सनी होली का रूप लेती रहती हैं।

आजकल यह दावानल बहुत ही भयंकर रूप में फैल रहा है। बुझाने के उपक्रम किए जा रहे हैं, फिर भी शान्त नहीं हो पा रहा है। अन्तर्मन की पीड़ा तो यह है कि कुछ छद्म वेशधारी शान्ति के देवता आग बुझाने के नाम पर, उसे

और अधिक दहका देते हैं, भडका देते हैं, फैला देते हैं। इन धूतों का जाल इतना फैला हुआ है कि कुछ पूछिए नहीं। पता नहीं चलता, कि ये राम के रूप में रावण कितनी अधिक संख्या में हैं।

आप जानते हैं, इस दावानल का मूल कहाँ है। यह कहाँ से प्रज्वलित होता है। यह कहाँ पर स्फुलिंग-रूप में उठकर प्रलयाग्नि बन जाता है। आपको मालूम होना चाहिए, इसका मूल एकान्तवाद है। मैं ही सच्चा हूँ, मेरे ही सिद्धान्त और कर्म सच्चे हैं। मैं ही एक मात्र भला हूँ, सज्जन हूँ। और, सब दुष्ट हैं, अभद्र हैं। समग्र सत्य मेरे ही मुख-विवर में सन्निहित है, संचित है। बस, अन्यत्र कुछ नहीं मिलने वाला है। अन्यत्र जो-कुछ भी है, असत्य है, अभद्र है, अमंगल है। विश्व का कल्याण मेरे द्वारा बनाए गए एवं प्रचारित किए गए विचारों में ही है। वे ही एक मात्र सुविचार हैं, शेष सब कुविचार। यह एकान्तवाद है। भले ही यह एक व्यक्ति का हो, एक समूह का हो, चाहे नये-पुराने किसी भी एक संगठन का हो, या किसी पंथ विशेष का हो, जब तक इस एकान्तवाद को मूलतः ध्वस्त नहीं किया जाएगा, तब तक संसार में शान्ति नहीं हो सकती। मानव जाति के संहार के लिए एक ओर शास्त्रों के नाम पर शब्दों का एक भीषण भंडार भरा जा रहा है, जो पहले से ही काफी भरा हुआ है, तो दूसरी ओर शत्रु के संहार हेतु एक-से एक भयंकर शस्त्रों के भंडार तैयार हो रहे हैं। परमाणु-बम जैसे शस्त्र तो आज बहुत मामूली रह गए हैं। उनसे भी अधिक भयंकर संहारक आविष्कार हो रहे हैं, कि एक बटन दबाते ही समग्र जानी हुई धरती समाप्त हो कर एक भीषण श्मशान का रूप ले सकती है। धरती पर लड़ता-लड़ता इन्सान, अब देवताओं के निवास के रूप में प्रसिद्ध आकाश में भी राक्षसी लीला खेलने की तैयारी कर रहा है, आकाशीय अन्तरिक्ष युद्ध के रूप में। मूल में देखा जाए, तो यह सब एकान्तवाद एवं हठवाद का ही दुश्चक्र है। जल्दी-से-जल्दी इसका समाधान अपेक्षित है। अन्यथा, अन्यथा के रूप में क्या हो जाएगा, कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

एकान्तवाद का समाधान अन्य किसी साधन में नहीं है। अनेकान्त की अनन्त-मूर्ति महाश्रमण महावीर के अनेकान्तवाद के द्वारा ही समाधान हो सकता है। अनेकान्त स्वयं में अनन्तमूर्ति है। इसलिए कि सत्य अनन्त है, और अनन्त सत्य के सर्वांगीण रूप को अपने में समाहित करने की दृष्टि से अनेकान्त भी अनन्त है। खेद है, विभिन्न मत-मतान्तरों के रूप में सत्य खण्डित हो कर,

अनेक रूप में बिखरा पड़ा है। और, आप जानते हैं, यह बिखरा हुआ रूप कार्यकारी कैसे हो सकता है? बिखराव में न तो कोई अर्थवत्ता रह सकती है और न गुणवत्ता। विशाल वह वृक्ष की शताधिक शाखाएँ टूट-टूट कर इधर-उधर बिखर जाए, मूल और स्कन्ध भी विच्छिन्न हो जाए, तो बताइए वह वृक्ष, वृक्ष के रूप में अपनी क्या गुणवत्ता की अभिव्यक्ति कर सकता है? वह विशाल वृक्ष एक मात्र निकृष्ट इन्धन का रूप लेकर रह जाता है। मानव का शरीर अखण्ड रूप में ही काम कर सकता है। यदि मस्तक, नेत्र आदि इन्द्रियाँ, हाथ, पैर, उदर और अन्ततः प्राणशक्ति सब-के-सब इधर-उधर बिखर जाएँ, तो फिर वह मनुष्य क्या मनुष्य रह जाता है? क्या वह कुछ कर सकता है? ऐसे ही एकान्तवाद के रूप में सत्य भी जब खण्डित होने लगता है, तो उसका भी यही हाल होने लगता है। अनेकान्त मत-मतान्तरों के वादों से मुक्त होकर खण्डित सत्यों को जोड़ने का काम करता है। फलतः सत्य को अखण्ड बनाता है। और, अखण्ड सत्य में से ही अहिंसा, दया, करुणा, प्रेम, पारस्परिक विश्वास, एवं सद्भावना के जीवनोपयोगी निर्मल निर्जर प्रवाहित होते हैं।

महाश्रमण भगवान महावीर की महिमा का गान अहिंसा के रूप में होता है, किन्तु मैं कहता हूँ—अहिंसा के पूर्व अनेकान्त अपेक्षित है। यदि अनेकान्त के अभाव में एकान्त के द्रन्ध चलते रहे, तो मानव जंगली हिंस्र पशुओं की तरह ही मानवता का खून बहाता रहेगा। उसके जीवन में मानवता का कुछ भी अंश शेष नहीं रहेगा! जब तक विचारों में समत्व नहीं है, समन्वय नहीं है, अपितु वैषम्य है, तब तक कितने ही हजार प्रयत्न कीजिए, मानव-जाति में घृणा, विद्वेष, वैर एवं विनाश का दावानल जलता ही रहेगा। यदि महावीर के मूलस्पर्शी दर्शन को देखा जाए, तो यथार्थ अहिंसा अनेकान्त ही है। अतः सर्व-प्रथम अनेकान्त की उपासना आवश्यक है, अनिवार्य है।

आज से ही नहीं, काफी पुराने पूर्व काल से अनेक विचारक यह कहते आ रहे हैं कि अनेकान्त परस्पर विरोधी विचारधाराओं को समन्वित करने का, जो एक विचार है, वह मात्र एक दिवास्वप्न है। विभिन्न विरोधों में, विरोधाभासों में, समन्वय कैसे हो सकता है? यह बात चिन्तन की गहराई में न जाकर, केवल सतही तौर पर अनेकान्त-दर्शन की समीक्षा करने के कारण है। सैद्धान्तिक गहराई में न जा कर यदि हम लोक-व्यवहार को भी अच्छी तरह देख लें, तो ऊपर से विरोधाभास-रूप वचनों एवं कार्यों में भी समन्वय के दर्शन हो सकते हैं।

एक डॉक्टर है, उसके पास एक ही रोग से ग्रस्त एक बालक आता है, एक नौजवान आता है, एक वृद्ध आता है तथा एक सशक्त व्यक्ति आता है और एक दुर्बल, डॉक्टर एक ही रोग में इन्हें या तो औषध विभिन्न देता है, अथवा कभी एक ही औषध देता है, तो विभिन्न मात्रा में। वह ऐसा क्यों करता है ? इसलिए कि समागत रोगियों की शारीरिक आदि की स्थिति में विभिन्नता है। अतः डॉक्टर द्वारा औषध का रूप भी विभिन्न रूप लेता है। सब को एक ही औषधि या एक ही मात्रा, नहीं निर्धारित की जा सकती है। यदि वह अज्ञानतावश ऐसा करता है, तो रोगियों को लाभ के बदले, हानि ही अधिक उठानी पड़ेगी। यह है विभिन्नताओं में भी समन्वय साधने का एक रूप।

एक और प्राचीन कथानक है। एक छोटे-से गाँव में छह जन्मांध व्यक्ति रहते थे। छहों परस्पर मित्र थे। एक बार पहली बार गाँव में हाथी आया। सारे गाँव में हाथी आया, हाथी आया का हल्ला मच गया। छहों अन्ध मित्रों के मन में भी हाथी देखने की इच्छा हुई। वे भी एक-दूसरे का हाथ पकड़े, लाठी लिए चल पड़े। हाथी के पास जा कर बिखर गए। और, हाथी के एक-एक अंग को स्पर्श कर हाथी का ज्ञान प्राप्त करने लगे। जब हाथी को देख कर लौट रहे थे, तब परस्पर चर्चा करने लगे कि—“हाथी मूसल जैसा है, हाथी स्तम्भ जैसा है, हाथी रस्से जैसा है, हाथी कुदाल जैसा है, इत्यादि।” जिसने सूंड, दांत, पांव आदि जो-जो अंग छुए थे, उसी रूप में वह हाथी का वर्णन करने लगा। अब क्या था, विवाद उठ खड़ा हुआ ? प्रत्येक अपने स्पृष्ट अंग को ही हाथी समझे हुए था, और उसीका आग्रह करके एक-दूसरे को झूठा बता रहा था। द्वन्द्व युद्ध चल रहा था। इसी बीच एक निर्मल नेत्र एवं सुचक्षु व्यक्ति ने देखा, तो उसे आश्चर्य हुआ कि ये अंधे क्यों लड़ रहे हैं ? पूछने पर पता चला, तो उसे हँसी आ गई। उस भले आदमी ने सोचा कि चलो, इनका समाधान कर दूँ। अन्यथा ये अपने-अपने एकान्त अन्ध-आग्रह पर लड़ते ही रहेंगे। वह सबको वापिस ले गया। और, उसने प्रत्येक अंधे को हाथी के प्रत्येक अंग का स्पर्श कराया और बताया कि यह हाथी की सूंड है, यह हाथी का पैर है, यह हाथी की पूँछ है, आदि-आदि। इस प्रकार प्रत्येक को हाथी का सर्वांगीण रूप बताकर समाधान दिया, कि यह सब मिलकर एक हाथी है। अन्धों की विग्रह की समस्या हाथी के एक-एक अंग को पूरा हाथी समझने की दृष्टि ही थी। सुलोचन व्यक्ति ने सब अंगों का ज्ञान कराकर समन्वय की दृष्टि दी। और, समस्या का सही समाधान कर दिखाया। दार्शनिक तथा लौकिक सभी व्यवहारों, विचारों एवं कार्यों में भी एकान्त आग्रह की दृष्टि, अंधों की गज-दृष्टि है। और, यह अर्थहीन द्वन्द्वों एवं संघर्षों का मूल है। सुलोचन व्यक्ति और कोई नहीं, अनेकान्त-दर्शन है। उसकी

दृष्टि वस्तुतत्त्व के सर्वांगीण स्वरूप की दृष्टि है। अतः वह वस्तुतत्त्व को खण्ड-खण्ड रूप आग्रहों में नहीं देखता, अपितु समन्वय रूप अखण्ड अनाग्रह के रूप में देखता है। यह मात्र दो-चार उदाहरण ही नहीं हैं, अपितु इस तरह के संख्यातीत उदाहरण जन-जीवन में मिल सकते हैं।

एक व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति गधा कहता है। जब वह आदमी है, तो गधा कैसे? बात की यथार्थता को समझने के लिए जरा बात कहने वाले की दृष्टि पर ध्यान दीजिए। जिसे गधा कहा गया है, वह भले ही देह दृष्टि से आदमी है, किन्तु अपनी मूर्खता एवं बुद्धिहीनता के कारण वह विचार दृष्टि से गधा है।

एक व्यक्ति को शेर कहा जा रहा है। आदमी को शेर कहना गलत है न? गलत नहीं है। वीरता के गुण को लक्ष्य में रख कर उसे शेर कहा जाता है। इसी प्रकार किसी को अन्धा, और किसी को बहरा कहा जाता है, जब कि वह इन्द्रिय की दृष्टि से न अन्धा है, न बहरा। बस, यह है कि जो अच्छी तरह देख-भाल कर काम नहीं करता है, वह आँखों के होते हुए भी अंधा है। और, दूसरा व्यक्ति किसी की बात को ध्यान से नहीं सुनता है, इसलिए श्रवण क्रिया समर्थ कानों के होते हुए भी वह बधिर है। यह सब दृष्टियों का खेल है। लक्षणा-शक्ति का अर्थ भेद है। अनेकान्त-दर्शन इन्हीं दृष्टि-पथों में देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप समन्वय साधता हुआ यात्रा करता है।

देश-भेद और काल-भेद का एक उदाहरण है, महावीर के ही शब्दों में। उन्होंने एक समय कहा था कि भारत में वर्तमान काल की दृष्टि से दिन है, तो इसी समय विदेहादि अन्य क्षेत्रों में रात भी है। दिन और रात एक काल में एक साथ है, विचित्र-सा लगता है।

मुझे भी एक बार वाराणसी के एक ब्राह्मण विद्वान ने अनेकान्त-दर्शन पर कटाक्ष करते हुए पूछा था— “अब अनेकान्त-दृष्टि से दिन है या रात है!” समय प्रायः दिन के मध्याह्न का था।

मैंने तत्काल उत्तर दिया—“दिन भी है और रात भी है।”

(५११)

“ यह विरोधोक्ति कैसे ” — प्रश्नकर्ता का प्रतिप्रश्न था ।

मैंने कहा—“ भारत में दिन है, तो इसी समय अमेरिका आदि कुछ देशों में रात भी है । ”

पंडितजी हँस पड़े कि आपका अनेकान्त दर्शन विचित्र ही नहीं, सत्य के अविचलित मूलाधार पर भी स्थित है । मान गया, मैं आपको और आपके अनेकान्त-दर्शन को ।

आचार और व्यवहार की दृष्टि में भी अनेकान्त का सर्वत्र प्रवेश है । अहिंसा के परिपालक साधु के लिए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणी तक की हिंसा निषिद्ध है। फिर भी महावीर गंगा जैसी महानदियों को धर्म प्रचारार्थ पार करते हैं । और, अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए अपने संघ के साधु-साध्वियों को भी नौकाओं द्वारा नदियों को पार करने की सूचना देते हैं । छोटी जल-धाराओं को पैरों से भी पार किया जा सकता है ।

आचारांग सूत्र के अनुसार अपने प्राणों के रक्षार्थ सचित्त लता-वृक्ष आदि का भी अवलम्ब लिया जा सकता है । यही बात सत्य के संबंध में भी है । अन्य किसी प्राणी की रक्षा के लिए यथोचित असत्य का सहारा लेने का संविधान है। आचारांग सूत्र इस सन्दर्भ में स्पष्ट कहता है —

“ जाणं वा नो जाणंति वदिज्जा ”

—जानता हुआ भी मैं नहीं जानता, ऐसा कह देना चाहिए ।

आधाकर्म दोष-युक्त आहार निषिद्ध है भिक्षु के लिए । किंतु, सूत्रकृतांग सूत्र इस संबंध में एकान्त रूप से विधि या निषेध का निषेध करता है । वह सूत्र है —

“ अहाकडाइं भुंजंति अण्णमण्णे सकम्मुणा ।

उवलित्ते ति जाणेज्जा, अणुवलित्ते ति वा पुणो ॥

एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती,

एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ” २,५,८-९

(५१२)

— आघातकर्म दोष युक्त आहारादि का, जो साधु उपभोग करते हैं, वे दोनों (आघातकर्म दोष युक्त आहारादि का दाता तथा उपभोक्ता) परस्पर अपने (पाप) कर्म से उपलिप्त होते हैं अथवा नहीं होते, ऐसा जानना चाहिए ।

इन दोनों एकान्त मान्यताओं से व्यवहार नहीं चलता है, इसलिए इन दोनों एकान्त मन्तव्यों का आश्रय लेना अनाचार समझना चाहिए ।

उक्त कथन परिस्थिति विशेष में अनेकान्त-दर्शन का यह समीक्षित निर्णय है। जो साधकों को एक ही कर्म में उपलिप्तता एवं अनुपलिप्तता आदि की कभी 'हाँ' में और कभी 'ना' में उपयुक्त दृष्टि देता है । उक्त अध्ययन में हिंसा आदि के सम्बन्ध में भी यही अनेकांत-दृष्टि है ।

अतीत के महापुरुषों के व्यवहार भी अनेकान्त की दृष्टि के आधार पर ही क्रियान्वित होते रहे हैं । तीर्थंकर महावीर काफी समय तक अनन्त सत्य की उपलब्धि के लिए मौन रहे हैं । फिर काफी समय तक उपलब्ध सत्य का जन-जन को बोध कराने के लिए धर्म-देशना के रूप में घंटों क्या, प्रहरों बोलते भी रहे हैं । एक समय वह भी था, जब धूल-धूसरित भूमि या शिलापट्ट पर बैठे हैं, तो एक वह भी समय है, जब रत्न-जडित सिंहासन पर विराजमान हैं— “ सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे ” सिंहासन के समान ही एक समय के परित्यक्त छत्र और चामर भी पुनः उपयुक्त हो गए हैं ।

“ कुन्दावदात चल चामर चारू शोभं । ...छत्र त्रयं विभाति । ”

यह मात्र भक्ति स्तोत्रों में ही नहीं, समवायांग आदि मूल आगमों में भी वर्णित है । वासुदेव श्रीकृष्ण परिस्थिति विशेष में गाय चरानेवाले गोपाल हैं, तो दूसरी परिस्थिति में वे ही सुदर्शन चक्रधारी सम्राट हैं । जन-मंगल न्याय के सूत्रधार हैं । श्रीकृष्ण का वह भी एक महान रूप है, जो अर्जुन को, मैत्री के रूप में उसका सारथी बनकर सहायता भी देते हैं । वे सिर्फ सारथी ही नहीं, युद्ध रथ के घोड़ों की परिचर्या करते हुए एक साधारण सईस भी बन जाते हैं । ये सब बातें यँही साधारण नहीं हैं, अपितु अनेकान्त दर्शन के प्राणवान जीवंत उदाहरण हैं । स्पष्ट है, यहाँ अनेकान्त पक्षाघात से ग्रस्त यँही एक करवट पड़ा हुआ रोगी नहीं है, अपितु स्वतन्त्र रूप से घूमता-फिरता, उठता-

बैठता अपनी यात्रा के मार्ग बदलता हुआ एक अद्वितीय महातिमहान जीवंत दार्शनिक व्यक्तित्व हैं ।

अनेकान्त के सैद्धान्तिक गूढ़ दर्शन एवं तात्त्विक विषयों की मैं अन्यत्र अनेक बार चर्चा कर चुका हूँ । अतः उसे मैं यहाँ समेट लेता हूँ । फिर भी परिचय के लिए कुछ पंक्तियाँ लिख देना आवश्यक है ।

१) वस्तु नित्य है या अनित्य है ? यह विभिन्न दर्शनों की एक सैद्धान्तिक चर्चा है । कुछ दर्शन इस सम्बन्ध में एकान्त नित्यवादी हैं, तो कुछ अनित्यवादी । परन्तु अनेकान्त के अमर देवता महाप्रभु महावीर का अनेकान्त दर्शन कहता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु नित्य भी है, अनित्य भी । उदाहरण स्वरूप घट को ही लीजिए । मूल परमाणु रूप द्रव्य दृष्टि से नित्य है । किन्तु, वही घट पर्याय दृष्टि से अनित्य भी है । पर्याय-अवस्था, आकार विशेष आदि ।

२) दर्शन क्षेत्र की एक और चर्चा है, वस्तु सत् है या असत् । घट को ही लीजिए । घट अपने घटत्व स्वरूप से सत् है और वही घट, घट भिन्न पट आदि के पटत्व आदि स्वरूप से असत् भी है । यदि घट पट रूप से भी सत् हो जाए, तो दोनों में अर्थ, क्रिया आदि की भिन्न रेखा कैसे प्रतिभासित होगी ?

३) दार्शनिक क्षेत्र का एक और विवाद है । एक वस्तु अपने में एक है अथवा अनेक । घट को ही लीजिए । घट एक है या अनेक ? घट अपनी वर्तमान स्थिति में दृश्य रूप से द्रव्यरूपेण एक है । किन्तु अपने अन्तर्गत परमाणु एवं गुण आदि की दृष्टि से अनेक भी है । अनेक ही नहीं, अनन्त है । इस दृष्टि से क्षुद्र-से-क्षुद्र रजकण भी एक होते हुए भी अनन्त है ।

४) दार्शनिक क्षेत्र का एक और विवादास्पद प्रश्न है, कि वस्तु गुण और गुणी की दृष्टि से परस्पर भिन्न है या अभिन्न । घट को ही लीजिए । घट एक गुण पदार्थ है, किन्तु उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श, आकार एवं अर्थ-क्रियाकारित्व आदि अनन्त गुण हैं । उक्त गुणी एवं गुणों की परस्पर भिन्नता है या अभिन्नता ? भेदवाद के पक्षधर कणाद आदि एकान्त भिन्नता मानते हैं । और, अभेदवादी वेदान्त आदि एकान्त अभिन्नता । किन्तु, अनेकान्त-दर्शन भेदाभेदवादी है । गुण गुणी से सर्वथा भिन्न नहीं

(५१४)

होते हैं । अतः वे गुणी के ही तादात्म्य रूप से स्वरूप हैं— “ गुण समूहो दत्त्वं । ”

भगवती सूत्र में सामायिक के सम्बन्ध से पूछे गए एक प्रश्न के उत्तर में श्रमण भगवान महावीर ने कहा— “ हे आर्य ! आत्मा ही सामायिक (समत्व-भाव) है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है—

“ आयो णे अज्जो ! समाइए,
आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे । ”

अब भेद पक्ष लीजिए, आत्मा के ज्ञानादि गुण और घट आदि पदार्थों के रूपादि गुण, उक्त वाक्यों में ‘सम्बन्ध षष्ठी’ रूप विभक्ति स्पष्ट ही भेद की सूचक है । “ आत्मनो ज्ञानगुणाद्यः, घटादि पुद्गलस्य रूपाद्यो अनन्तगुणाः ” आदि वाक्यों द्वारा प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में स्पष्ट ही भेद उल्लिखित है । शब्द-शास्त्र भी इसका समर्थक है । क्योंकि भेद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है । भेदवाद के पक्ष में श्रमण भगवान महावीर का कथन है—

“गुणाणमासओ दत्त्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ”

—द्रव्य, गुणों का आश्रय है, आधार है । जो प्रत्येक द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं । इसमें गुण-गुणी का भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

लेख का विस्तार काफी हो गया है । फिर भी श्रमण भगवान महावीर का एक वचन उद्धृत करते हुए गौरवानुभूति करने से वंचित नहीं होना चाहता । सूत्रकृतांग में भगवान महावीर का अनेकान्त के सम्बन्ध में एक प्रवचन है, जो संक्षेप में अनेकान्त-दर्शन की मूल आत्मा को सर्वतोमुखी रूप से उजागर कर देता है—

“ विभज्जवायं च वियागरेज्जा ”

—विचारशील प्रवक्ता एकान्तवाद में न उलझ कर सदैव विभज्यवाद—अनेकान्त से युक्त वचन का प्रयोग करे । विभज्यवाद का अर्थ है— अनेकान्त-दृष्टि से हर बात को यथोचित विभक्त अर्थात् विभाजित करके बोलना । श्रमण भगवान महावीर विभज्यवाद का केवल उपदेश दे कर ही नहीं रह गए, प्रत्युत यथाप्रसंग वे उसका उपयोग एवं प्रयोग भी करते रहे हैं । एक बार एक मनीषी ने भगवान से प्रश्न किया कि, “ कुलत्थी भक्ष्य है, या अभक्ष्य ? ” महाश्रमण भगवान महावीर ने अनेकान्त की भाषा में तत्काल उत्तर दिया— कुलत्थी भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी । कुलत्थी एक अन्न

(५१५)

है, अतः भक्ष्य है । दूसरी ओर कुलत्थी का अर्थ कुलस्त्री से संबंधित है, अतः वह अभक्ष्य है ।

कितना सुन्दर समन्वय है शब्द शास्त्र की दृष्टि से भी । इस प्रकार से दो-चार नहीं, बहु-संख्यक उदाहरण हैं प्राचीन आगम साहित्य में । जिज्ञासुओं को पक्ष-मुक्त हो कर प्रयुक्त वचनों का सम्यक् रूप से अध्ययन, मनन एवं चिन्तन करना चाहिए।

जैसा कि मैंने लेख के पूर्व में कहा है— आज के समाज और धर्म द्वन्द्वात्मक विषम स्थिति में से गुजर रहे हैं । अर्थहीन संघर्ष में अनुरक्त हैं । यह विग्रह और कलह अनेकान्त-दृष्टि के बिना कभी शान्त नहीं हो सकते । आज करें या कल, सार्वजनिक शान्ति के लिए अनेकान्त-दृष्टि का यथोचित उपयोग करना ही होगा । जितनी भी विचार धाराएँ हैं, सभी कभी प्रत्यक्ष, तो कभी परोक्ष रूप से, अनेकान्त महासागर की ओर ही प्रवहमान हैं । सागर का अर्थ है— सबका मिलकर एक हो जाना । अतः अनेकान्त एकत्व का सूत्रधार है । सतही एकत्व का नहीं, अपितु यथार्थ एकत्व का । अनेकान्त ध्वंश नहीं, निर्माण का ब्रह्मा है । वह तोड़ने की नहीं, जोड़ने की दृष्टि देता है ।

महाश्रमण भगवान् महावीर का यह दर्शन-सूक्त विश्वमंगल रूप है । यह कोई पंथ नहीं, सम्प्रदाय नहीं, अपितु जन-जन का जीवन सूत्र है । आइए ! हम सब मिलकर अनेकान्त-दर्शन की शीतल छाया में आएँ, और विश्व-मंगल के रूप में प्रामाणिकता के साथ एकत्व की दिशा में गतिशील होते हुए, उद्घोष करें—

“ अनेकान्तो विजयतेतराम ”

मार्च अप्रैल १९८८

याद रखिए
आँख बंद करके चलते रहने में
कोई गौरव नहीं है ।
विचारों की, चिन्तन की, प्रज्ञा की
आँख बंद करके चलने वाले अन्धे
इधर-उधर परस्पर टकराते, भटकते फिरेंगे ।
महान वे ही हैं,
जो लकीर से हट कर अपनी प्रज्ञा से चलते जाते हैं ।
और, रही बात राह की?
राह तो स्वतः बनती जाती है ।
इसलिए महापुरुषों का एक ही स्वर सदा गूँजता रहा है-
तू ऊपर चढ़ने के लिए है,
एक शिखर से दूसरे, तीसरे शिखरों को
पार करने के लिए है ।

-उपाध्याय अमर मुनि